नया रहस्य

श्री शंखेश्वरपार्श्वनाथाय नमः

महोपाध्याय-न्यायविशारद-न्यायाचार्य

जैनधर्मप्रभावक श्री **यशोविजय**गणिवर्य विरचित

नयरहस्य

[विप्रवर्य-षड्दर्शननिष्णात-पंडित श्री **दुर्गानाथ झा** कृत हिन्दीविवेचनालंकृत]

वि सं.
२०४०

— : प्रकाशक : —
अंधेरी गुजराती जैन संघ
c/o. करमचंद जैन पौषधशाला
इर्लाब्रीज-विलेपार्ले मुंबई-५६

मूल्य
२५-०० रूपये

प्रथमावृत्ति
वीर संवत्–२५१०
वि. ,, –२०४०

—: प्राप्तिस्थान :—
१–सरस्वती पुस्तक भंडार
हाथीखाना–रतनपोळ–अहमदाबाद
२–अंधेरी गुजराती जैन संघ–मुंबई
३–पार्श्व प्रकाशन, अहमदाबाद

मूल्य २५–००

[सर्वाधिकार श्रमणप्रधान श्री जैन संघ को स्वायत्त]

इस ग्रन्थ के मुद्रण का व्यय अंधेरी–गुजराती जैन संघ
के ज्ञाननिधि में से किया गया है।

[सा विद्या या विमुक्तये]

—: मुद्रक :—
सरस्वती कम्पोझ खानपुर–अहमदाबाद

प्रकाशकीयस्पन्दन

एक ही वस्तु में परस्पर विरुद्ध धर्मों का होना जिस दर्शन को अभिमत नहीं है वे सभी दर्शन एकांत है । इन दर्शनो में एकांतवाद होने के कारण वस्तु के स्वरूपको समझने का कार्य केवल प्रमाण व्यवस्था से चल जाता है । किन्तु जैन दर्शन में एसी बात नहीं है । वस्तु के स्वरूप को समझने के लिये भिन्न भिन्न दृष्टि से जाँचना जैन दर्शन में अनिवार्य है । फलतः विविध अपेक्षा से एक ही वस्तु में नित्यत्व–अनित्यत्व, अस्तित्व–नास्तित्व आदि परस्पर विरोधी धर्म, संशोधन के फलस्वरूप दिखाई पडते हैं । वस्तु कैसी है ? इस प्रश्न का निराकरण जब किसी एक अपेक्षा से किया जाता है तब उस समाधान से प्राप्त हुआ ज्ञान 'नय' है । यद्यपि नय एकांत होता है तथापि वह अन्य नय से प्राप्य धर्म का निषेध नहीं करता है । तथा, इसी प्रकार नयों के समूह से वस्तु के समग्र स्वरूप को जाँचकर समझना उसे अनेकांत या प्रमाण कहते हैं । जैन दर्शन में प्रमाण के साथ साथ नयव्यवस्था के प्रतिपादन में यही मुख्य कारण है ।

तत्त्वार्थाधिगम सूत्र में वाचकवर्य उमास्वातीजी महाराजा कहते हैं कि 'प्रमाणनयैरधिगमः' वस्तु के स्वरूप का ज्ञान प्रमाण तथा नयों द्वारा होता है । जैन आगम तथा अन्य शास्त्रों जीव–अजीव आदि सर्व वस्तु का ज्ञान कराता है । इसलिये जैन आगम तथा शास्त्रो में प्राप्त होता हुआ तत्त्वनिरूपण प्रमाण और नय ये दोनों प्रकार से होता है । यदि जैन शास्त्रों को आप हृदयंगम करना चाहते हैं, यदि जैन शास्त्रों से प्राप्त अध्यात्म भाव को आप आत्मसात् करना चाहते हैं तो सिर्फ प्रमाण का ज्ञान कर लेने पर संतोष नहीं मान सकते हैं, अपितु नय का ज्ञान करना भी अनिवार्य हो जाता है ।

उपर्युक्त विचारणा प्रस्तुत **'नयरहस्य'** नामक ग्रंथ के प्रकाशन में भी कारणरूप है ।

वैसे भी नय के सम्यक् स्वरूप का ज्ञान करना बडा कठिन है । उपरांत, महामहोपाध्याय यशोविजयजी म. सा. ने नय का विवरण करते हुए नव्य न्याय शैली का भरपुर प्रयोग किया है । इसलिये सामान्य वाचक के लिये इस ग्रंथ में प्रवेश करना भी दुर्लभ हो जाता है । इस बात को ध्यानमें रखते हुए विवरण भी सम्मिलित किया गया है ।

कुछ वर्ष पहले प. पू. पंन्यास श्रीमद् जयघोष विजय गणिवर्य से प्रेरित होकर द्विजोत्तम पंडितजी श्री दुर्गानाथ झा–ने नयरहस्य ग्रन्थ के विवेचन करने का कार्य प्रारम्भ किया । इस कार्य में जितने जैन–जैनेतर न्याय के ग्रन्थों की आवश्यकता थी वे सब पू. पंन्यासजी महाराज ने उपलब्ध करवा दिये । एक ही वर्ष में विचक्षण पंडितजी ने यह कार्य समाप्त करके पूज्य पंन्यासजी को समर्पित किया । पूज्य पंन्यासजी ने इस विवेचन को अपने शिष्य पू. मुनि श्री जयसुंदर विजयजी को संशोधन और सम्पादन करने के लिये दिया । पू. मुनिश्री ने जैनशास्त्रों की नीति–रीति के अनुसार अच्छी तरह संशोधन और सम्पादन करके मुद्रणयोग्य पांडु-लिपि सज्ज करके रख दी । इस बात का हमें पता चलते ही पूज्य पंन्यासजी महाराज के पास जाकर इस बहुमूल्य ग्रन्थरत्न के प्रकाशन का लाभ हमारी संस्था को देने के लिये विज्ञप्ति करने पर पूज्य पंन्यासजी महाराजने हमें स्वीकृति देने की महती कृपा की है । मानार्ह श्री पंडितजी ने इस विवेचन में कहीं भी कसर नहीं रखी है और मूल ग्रन्थ के हार्द को स्पष्ट करने के लिये पर्याप्त परिश्रम किया है यह निःशंक है ।

गुजराती वाचकगण को यह प्रश्न अवश्य होगा कि हमारे जैन संघमें अधिक जनसमुदाय गुजराती भाषा जानते हैं । ऐसा होने के बावजुद भी भावानुवाद हिन्दी भाषा में है । ऐसा क्यों ? इस का उत्तर यह है कि हिन्दी भावानुवाद विवरण को प्रगट करते समय हमारे सामने दो बातें थी । एक तो हमें पंडितजी श्री दुर्गानाथ झा की ओर से इस ग्रन्थ का भावानुवाद विवरण हिन्दी में ही प्राप्त हुआ । दूसरे, हमारा मानना

है की जो वाचक वर्ग इस प्रकार के साहित्य के लिये उत्सुक है, तथा इसे समझने की कक्षा में प्राप्त है उन्हें हिन्दी समझने में कठिनाई नहीं होनी चाहिए तथा ग्रंथ समझ ने में सौकर्य भी रहेगा। अधिक, हिन्दी अनुवाद के कारण विशाल वाचकवर्ग इस ग्रथ का लाभ ले पाएगा।

पंडितवर्य श्री दुर्गानाथ झा मैथिली विद्वान होने पर भी कई वर्षों से अमदावाद में आ बसे हैं। प्राचीन और नव्यन्याय के तो वे दिग्गज विद्वान है। अनेक जैन साधु–साध्वी को कई वर्षों से तर्कशास्त्र के आकर ग्रन्थों को पढा रहे हैं। जैन साधुओं के परिचय से जैनन्याय से भी वे सुपरिचित हो गये हैं। उपा० श्री यशोविजय म० के ग्रन्थों को वे आदर की दृष्टि से देखते हैं। अतः उन का किया हुआ यह भावानुवाद विवरण अनेक दृष्टि से उपादेय बनेगा इस में कोइ संदेह नहीं है। पंडितजी ने बडे कौशल से इस कार्य को सम्पूर्ण किया है एतदर्थ हमारे तो वे बडे धन्यवाद के पात्र हैं।

पू. मुनिराज श्री जयसुंदर विजयजी महाराज ने श्रीमदुपाध्यायजी के स्वहस्तादर्शप्रति के अनुसार मूल ग्रन्थ को शुद्ध करने में, हिन्दी विवेचन के संशोधन में और उस के सम्पादनादि में पर्याप्त परिश्रम किया है–इस में कोई संदेह नहीं है।

चारित्रसम्राट कर्मसाहित्यनिष्णात सिद्धान्तमहोदधि स्व. पूज्यपाद आचार्यभगवंत श्री विजय **प्रेमसूरीश्वरजी** म. सा. हमारे प्रातः स्मरणीय गुरुवर्य है। आपश्री की हमारे संघ प्रति अपार कृपा रही है। वस्तुतः आप की प्रेरणा के बल पर ही हमारा संघ धर्म आराधना के स्थान पर प्रतिष्ठित है। आपश्री के पट्टालंकार १०८ वर्धमान तप ओली के आराधक पूज्यपाद आचार्यदेव श्रीमद् **विजय भुवनभानु सूरिजी** म. सा. के भी हमारे सघ के ऊपर अगणित उपकार हैं। आपश्री के शुभाशिष के कारण ही प्रस्तुत ग्रंथ सफलता से प्रकाशित हो रहा है। आपश्री के प्रशिष्य एवं शान्तमूर्ति स्व. पू. मुनिराजश्री धर्मघोषविजयजी म. सा. के गीतार्थ शिष्य-रत्न पंन्यासप्रवर प. पू. **जयघोषविजयजी** म. सा. ने सदा हमारे संघ को रत्नत्रयी की आराधना के लिये अप्रमत्त भाव से प्रेरणा दी है। बहुश्रुत विद्वान् प. पू. मुनिराजश्री जयसुंदरविजयजी म.सा. को हम कैसे भूल सकते हैं ? आपश्री प्रौढप्रज्ञा के कारण स्याद्वादकल्पलता, सन्मतितर्क प्रकरण, उपदेशरहस्य आदि अनेक जटिल ग्रंथों के सफल संशोधक–संपादक या अनुवादक हैं। आपश्रीने इस ग्रंथ का भी संशोधन–संपादन बडी कुशलता से परिपूर्ण किया है। आपश्री के उपकार का ऋण अदा करने के लिये हम असमर्थ हैं। जिन की प्राथमिक आर्थिक सहाय से पंडितजी ने इस ग्रन्थ का निश्चिन्तरूप से विवेचन कार्य सिद्ध किया है वे–आराधनाभुवन जैन संघ (दादर–मुंबई) ट्रस्ट के सदस्य भी धन्यवादार्ह हैं।

इस ग्रंथ के सुंदर मुद्रण के लिये श्री अश्विनभाई, सरस्वतीकंपोझवाले धन्यवाद के पात्र है। इस ग्रंथ में जिन का भी प्रत्यक्ष–परोक्ष रूप से सहयोग प्राप्त हुआ है उन सभी को हार्दिक धन्यवाद।

मोक्षसाधना के मार्ग में यह ग्रंथ पाथेय है। चतुर्विधसंघ इस पाथेय को लेकर सुखपूर्वक ध्येय तक पहुंच पावे यही मंगल भावना—

प्रीयन्तां गुरवः।

हर्षद संघवी
सेवक—
श्री अंधेरी गुजराती जैन संघ

प्रस्तावना

श्री शंखेश्वरपार्श्वनाथाय नमः । बडे आनन्द की बात है, पूज्यपाद उपाध्यायजी श्रीमद् यशोविजय महाराज की ग्रन्थमंजुषा का एक ग्रन्थरत्न अमिट प्रभापुंज के साथ श्री संघ के करकमल का अलकार बन रहा है ।

नय जैनदर्शन का प्रमुख लक्षण है । किसी भी वस्तु का ज्ञान प्रमाण और नय उभयात्मक हो सकता है किंतु वस्तु का प्रतिपादन नयात्मक ही होता है । वस्तु के समस्त अंशों को एक साथ जान लेना संभव है किंतु सभी अंशो की एक साथ विवक्षा कर के तत्तद् अंश प्राधान्येन प्रतिपादन करना सम्भव नहीं है, इसीलिये ऐसी विवक्षा से प्रतिपादन करने पर वस्तु अवक्तव्य बन जाती है । क्रम से ही वस्तु का वर्णन-प्रतिपादन शक्य है अत एव किसी एक क्रमिक प्रतिपादन से वस्तु का आंशिक यानी कथचिद् ही निरूपण किया जा सकता है, सम्पूर्ण नहीं । यद्यपि सकलादेश से संपूर्ण वस्तु का प्रतिपादन होता है, किंतु वह भी एक धर्म के प्राधान्य से, सभी धर्मो का मुख्यविशेष्यतया उस से बोध नहीं होता । यही जैन दर्शन का स्याद्वाद है, स्याद् यानी कथंचित्, सर्वांश से नहीं, ऐसा वाद यानी निरूपण यह स्याद्वाद है, उसी को अनेकान्तवाद भी कहते हैं । जब प्रतिपादन मात्र स्याद्वाद गर्भित ही हो सकता है तब उस को तद्रूप न मानना यह मिथ्यावाद ही है या एकान्तवाद है । स्याद्वाद शब्द से ही यह फलित होता है कि वस्तु का एक एक अंश से प्रतिपादन । उपदेशात्मक नय भी वही वस्तु है,-इसलिये स्याद्वाद को ही दूसरे शब्द में नयवाद भी कह सकते हैं । जैन शास्त्रों का कोई भी प्रतिपादन नयविधुर नहीं होता, अत एव जैन शास्त्रों के अध्येता के लिये नयों के स्वरूप का परिज्ञान अनिवार्य बन जाता है । यद्यपि नयवाद अतिजटिल, गंभीर और गहन है, किंतु सद्गुरू की कृपा पाकर और उन के चरणों में बैठ कर अभ्यास करने पर कुछ न कुछ तो जरूर हाथ लग सकता है ।

वस्तु का प्रतिपादन किसी एक ही नहीं अनेक पहलू से हो सकता है, अतः किस स्थान में किस वक्ता किस के आगे कौन से पहलू से प्रतिपादन करना उचित है इस का अच्छी तरह पता लगाने में ही विद्वत्ता की कसौटी है । शास्त्रकारों ने कोई एक प्रतिपादन कौन से पहलू को दृष्टिगोचर रख कर किया है इस का सही पता लगाने में ही पांडित्य की सार्थकता है । नयगर्भित ज्ञान सम्पन्न करते समय या नयगर्भित प्रतिपादन करते समय यह अनिवार्य है कि जिस अंश के ऊपर हमारी दृष्टि है उस से भिन्न, वस्तु के सद्भूत अंशो का अपलाप नहीं करना चाहिये । प्रतिपादन नयात्मक होने से कदाचित् सुविहित पूर्वाचार्यों के प्रतिपादनों में भी अन्योन्य विरोध प्रतीत होना असम्भव नहीं है । चतुर अभ्यासी को वहाँ किस ने कौन से पहलू को दृष्टिगोचर रख कर क्या प्रतिपादन किया है-इसी में अपनी विचारशक्ति को क्रियान्वित करना चाहिये, अन्यथा व्यामोह की पूरी सम्भावना है । बहुत से विवादों की नींव यही होती है कि एक-दूसरे के प्रतिपादन की भूमिका को ठीक तरह से ध्यान में न लेना । केवलज्ञान और केवल दर्शन का उपयोग क्रमशः होता है या एक साथ ? इस विषय में महामहीम श्रद्धेय तार्किक आचार्य श्री सिद्धसेन दिवाकर सूरिजी और आगमिक श्रद्धेय आचार्यश्री जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण के ग्रन्थों में विस्तृत चर्चा और एक दूसरे के मत की समीक्षा देखी जाती है । चतुर एवं तीक्ष्ण बुद्धिवाले श्रीमद् उपाध्यायजी महाराज ने दोनों मत का गहन अध्ययन कर के उन दोनों ने कौन से नय को प्रधान बना कर वैसा प्रतिपादन किया है यह खोज कर ज्ञानबिंदु ग्रन्थ में सामञ्जस्य का दिग्दर्शन कराया है । **अध्यात्मोनिषत्** ग्रन्थ में उपाध्यायजी महाराज कहते हैं-"यत्र सर्वनयालम्बि-विचारप्रबलाग्निना । तात्पर्यश्यामिका न स्यात्, तच्छास्त्रं तापशुद्धिमत् ॥-अर्थात् तापपरीक्षाशुद्ध शास्त्र वही है जिस में भिन्न भिन्न नयों के विचार रूप घर्षण से चर्चा का प्रबल अग्नि उद्दीप्त होने पर भी कहीं तात्पर्य

धूमिल नहीं होता ।" इस प्रकार, तात्पर्य को कालिमा न लगे इस प्रकार की नयावलम्बि प्रबल चर्चा यह जैन शासन का भूषण है दूषण नहीं है । इसीलिये उपमितिकार ने भी कहा है–"निर्नष्टममकारास्ते विवादं नैव कुर्वते । अथ कुर्युस्ततस्तेभ्यो दातव्यैवैकवाक्यता ॥ अर्थात्–जिन का ममकार (और अहंकार भी) नष्टप्रायः हो गया है वे कभी विवाद नहीं करते हैं (चर्चा जरूर करते हैं) । यदि वे विवाद करने लगे तो उन की प्ररूपणाओं में अवश्य एकवाक्यता लाने का प्रयास करना चाहिये ।" सारांश, कहीं भी शास्त्रों के तात्पर्य को धूमिल नहीं करना चाहिये ।

यतः नयवाद भी नयगर्भित ही है, इसीलिये नयों का भी कोई एक ही विभाग नहीं है । अन्य अन्य आचार्यों ने भिन्न भिन्न स्थान में उन का भिन्न भिन्न विभाग दिखाया है । जैसे नैगम–संग्रह–व्यवहार–ऋजुसूत्र और शब्द, ऐसा पाँच नय का विभाग श्री उमास्वातिजी ने कहा है । संग्रह–व्यवहार–ऋजुसूत्र–शब्द–समभिरूढ और एवंभूत–ऐसा छः नयों का विभाग सम्मतिकार ने दिखाया है । आवश्यकादि में नैगमादि सात नय का विभाग है । तदुपरांत द्रव्यार्थिक–पर्यायार्थिक, अर्थनय–शब्दनय, निश्चयनय–व्यवहारनय, ज्ञाननय–क्रियानय, शुद्धनय–अशुद्धनय इत्यादि अनेक प्रकार का नयविभाग उपलब्ध होता है । श्री नयचक्र में बारह प्रकार का नयविभाग भी उपलब्ध है । सात नय का विभाग ही सर्वाधिक प्रसिद्ध होने से इस नयरहस्य ग्रन्थ में सात नयों का ही विवरण किया गया है ।

नयों का स्पष्टीकरण करने वाले प्राचीन अनेक ग्रन्थशास्त्र जैनशासन में आज भी उपलब्ध है । सूत्रकृतांगसूत्र, स्थानांगसूत्र, समवायांगसूत्र, भगवती सूत्र आदि अनेक अंगसूत्रों में नयों का सूत्रपात देखा जा सकता है । तदुपरांत, अनुयोगद्वारसूत्र, सम्मतिसूत्र, द्वादशारनयचक्र, न्यायावतार, अनेकान्तजयपताका, अनेकान्तवादप्रवेश, शास्त्रवार्त्तासमुच्चय, आवश्यकनिर्युक्ति, विशेषावश्यकभाष्य, स्याद्वादरत्नाकर, रत्नाकरावतारिका, जैनतर्कवार्त्तिक, स्याद्वादमंजरी, तत्त्वार्थसूत्र, उस का भाष्य और व्याख्याएँ, बृहत्कल्पसूत्र, निशीथचूर्णि, नयकर्णिका इत्यादि अनेक छोटे बडे शास्त्रों में नयवाद या अनेकान्तवाद का भली भाँति परिचय दिया गया है । यह तो श्वेताम्बर शास्त्रों की बात हुई। दिगम्बर परम्परा के भी अनेक ग्रन्थों मे नयों की चर्चा उपलब्ध है । अनेक प्राचीन ग्रन्थ विद्यमान होते हुए भी नय के विषय को नवीनशैली से हृदयंगम कराने के लिये श्रीमद् उपाध्यायजी महाराज ने अनेक ग्रन्थों की रचना की है । **नयप्रदीप** यह अति छोटा ग्रन्थ प्राथमिक अभ्यासीयों के लिये अतीव व्युत्पादक है । उस से कुछ अधिक जानकारी के लिये **जैन तर्क परिभाषा** अच्छा ग्रन्थ है । उस से भी अधिक जानकारी के लिये यह **'नयरहस्य'** ग्रन्थ बहुत ही उपयोगी है । उस से भी अधिक जानकारी के लिये **'अनेकान्तव्यवस्था'** ग्रन्थ बहुत सुंदर है । **'नयोपदेश'** में उपाध्यायजी की नय–सम्बन्धी चरम प्रतिभा का तेज दिखाई देता है । तत्त्वार्थसूत्र प्रथम अध्याय की व्याख्या में ३५ वे सूत्र में भी श्री यशोविजय महाराज ने पर्याप्त विवेचन किया है । इस प्रकार अनेक ग्रन्थों में अनेक रीति से श्रीमद् ने नयक्षेत्र को विशदरूप से प्रकाशित किया है ।

'नयरहस्य' के इस संस्करण में, उपाध्यायजी के स्वहस्तलिखित आदर्श के अनुसार, पूर्वमुद्रितग्रन्थ की अपेक्षा अनेक स्थान में नये संस्कार–परिष्कार किये गये हैं, फलतः पूर्वमुद्रित संस्करणों में अशुद्धपाठमुद्रण मूलक असंगतिओं के कारण अभ्यासीवर्ग को जो कठिनाईयाँ महसूस होती थी उस का महदंश में निराकरण हो गया है । पाठकवर्ग पूर्वमुद्रित संस्करण को इस के साथ मिलायेंगे तो नये संस्कारों का अनायास पता लगा सकेंगे।

'नयरहस्य' ग्रंथ का अक्षरदेह नयप्रदीप जैसा लघु नहीं है और नयोपदेश जैसा महान् भी नहीं किंतु मध्यम है । इस में केवल नयों का रहस्य यानी उस का स्वरूप, उस की मान्यता और अपनी मान्यता की समर्थक कुछ युक्तियाँ ही प्रतिपादित है । इसलिये मध्यमरुचि वर्ग के लिये यही ग्रन्थ उपादेय होगा ।

ग्रन्थ के विषय का मोटे तौर पर अवलोकन किया जाय तो इस में सात नयों का ही प्रतिपादन है । प्रारम्भ में सातों नय का साधारण लक्षण और उस की परीक्षा प्रस्तुत है । नय का लक्षण दिखाने से दुर्नय के स्वरूप का भी फलित स्वरूप परिचित हो जाता है । बाद में, नय के पर्यायवाची शब्द दिये हैं । उस के बाद नयों में विप्रतिपत्तित्व की शंका का निरसन कर के भेदाभेदादि के विरोध का जात्यन्तर स्वीकार से परिहार कर दिखाया है । द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नयविभाग दिखाने के बाद सात नय की उत्तरोत्तरविशुद्धि स्फुट करने के लिये शास्त्रप्रसिद्ध प्रदेश-प्रस्थक और वसति दृष्टान्त का विस्तार से निरूपण है । उसके बाद प्रत्येक नयों का लक्षण और स्वरूप प्रतिपादन तथा प्रत्येक नयों की अपनी अपनी मान्यता का समर्थन प्रस्तुत किया गया है । नैगमादिनयों को कितने कितने निक्षेप स्वीकार्य है यह भी स्फुट किया है । साम्प्रतनय के विवरण में सप्तभंगी का भी सुंदर परिचय दिया गया है । सात नय के स्वरूप विवरण के बाद जीव-अजीव-नोजीव -नोऽजीव इन में सात नय का अवतार दिखाया है । तदनन्तर कौन सा नय बलवान् और कौन सा निर्बल इस के विचार में कहा है कि यहाँ अपेक्षा ही शरण है । इस में क्रियानयाभिमत कुर्वद्रूपत्वविशिष्ट चरमकारण की दीर्घसमीक्षा विशेषतः मननीय है और 'क्रियमाणं कृतं' इस विषय की भी समालोचना सुंदर है । इस प्रकार मध्यमपरिमाणवाले ग्रन्थ में श्रीमद्जी ने नय के अनेक पहलूओं को मनोहर ढंग से प्रस्तुत कर दिये हैं जो नयपदार्थ के जिज्ञासुओं के लिये अतीव व्युत्पादक एवं उपकारी है ।

नय के विषय में उपाध्यायजीने ज्ञानसार के अंतिम अष्टक में नयज्ञान के फल का सुंदर निरूपण इस प्रकार किया है-"सर्वनयों के ज्ञाता को धर्मवाद के द्वारा विपुल श्रेयस् प्राप्त होता है जब कि नय से अनभिज्ञ जन शुष्कवाद-विवाद में गिरकर विपरीत फल प्राप्त करते हैं । निश्चय और व्यवहार तथा ज्ञान एवं क्रिया-एक एक पक्षों के विश्लेष यानी आग्रह को छोड कर शुद्धभूमिका पर आरोहण करने वाले और अपने लक्ष्य के प्रति मूढ न रहने वाले, तथा सर्वत्र पक्षपात से दूर रहने वाले, सभी नयों का आश्रय करनेवाले (सज्जन) परमानंदमय होकर विजेता बनते हैं । सर्वनयों पर अवलम्बित ऐसा जिनमत जिनके चित्तमें परिणत हुआ और जो उनका सम्यक् प्रकाशन करते हैं उनको पुनः पुनः नमस्कार है ।"

निष्कर्ष यह है कि कदाग्रह का विमोचन और वस्तु का सम्यक् बोध नय का फल है और उससे सम्यग्दर्शन प्राप्त होता है, पुष्ट होता है और मुक्तिमार्ग की ओर प्रगति बढती है ।

प्राचीन काल में जब भी आगमसूत्रों का व्याख्यान होता था तब वहाँ नयों का भी अवतार दिखाया जाता था । किंतु पश्चात् काल में सूक्ष्मनयों का ज्ञान सभी को परिणत होने की सम्भावना न रहने से कालिकश्रुत को मूढनयिक कहा गया अर्थात् अब कलिकश्रुत में नयों का अवतार नहीं किया जाता । 'तब क्या अब जो सूत्रों की व्याख्या है वह नयविवर्जित है ?' ऐसा प्रश्न हो सकता है । इसका उत्तर यह है कि सूत्र की व्याख्या के जो उपक्रम-निक्षेप-अनुगम और नय ये चार अंग हैं उन में से नय तो साम्प्रत काल में नहीं रहे इसलिये पश्चात्काल भावी आचार्योंने जो सूत्रों की व्याख्या प्रस्तुत की उसको अनुगम स्वरूप ही समझना चाहिये । यद्यपि अनुगम भी नयवर्जित तो हो ही नहीं सकता, किंतु अनुगमात्मक व्याख्या में यह नहीं कह सकते कि कौनसी व्याख्या किस नय के अवलम्ब से की गयी है !-यह विशेषतः विचार करने योग्य है । शास्त्रकारोंने नय का सर्वथा अवतार नहीं होने का नहीं कहा है, अपितु श्रोताविशेष की अपेक्षा नयों के अवतार से सूत्र की व्याख्या करने की अनुज्ञा भी है । हमारे ख्याल से वर्त्तमानकाल में सूत्रों की जो विद्यमान व्याख्याएँ हैं वे प्रायः व्यवहारनयानुसारिणी ही होने का सम्भव है चूँकी जैन शासन के सभी अंगों में व्यवहारनय की ही मुख्यता देखी जाती है । फिर भी अन्य नयों के मिश्रण का भी इन्कार नहीं हो सकता ।

इस ग्रन्थ के रचयिता श्रीमद् उपाध्याय यशोविजयजी महाराज जैन-जैनेतर विद्वद्वर्ग में सुप्रसिद्ध विद्वान् हैं । उन का संक्षिप्त परिचय यह है-वि. सं. १६८० के समीप गुजरात के पाटणनगर के पास 'कनोडु'

गाँव में जन्म हुआ था । करिब १० से १२ साल की आयु में उनकी जैन दीक्षा हुयी । अपने गुरुदेव श्रीमद् नयविजय और जीतविजय गणि महाराज की छत्रछाया में उन्होंने जैन शास्त्रों का छोटी वय में भी गहन अध्ययन किया । उसकी प्रखर बुद्धि प्रतिभा को देखकर बडे बडे विद्वान् आश्चर्यमग्न हो जाते थे । वाराणसी में उन्होंने तत्काल में विद्यमान और प्रचलित मुख्य मुख्य प्रायः सभी जैनेतर दर्शनों और धर्मशास्त्रों का गहरा अभ्यास किया था । दाक्षिणात्य एक महान् वादी को स्याद्वाद शैली से पराजित करने पर काशी के समस्त विद्वानों की ओर से उन्हें 'न्यायविशारद' उपाधि दी गयी थी, बाद में वे रहस्यांकित न्यायगर्भित १०८ ग्रंथ निर्माण करके न्यायाचार्य भी बने । दीर्घ जीवन काल में जैन-जैनेतर अनेक विषयों पर इन्होंने छोटे बडे अगणित ग्रन्थों का निर्माण करके हमारे ऊपर, सारे विद्वत्समाज के ऊपर बडा ही उपकार किया है । जैनशासन में नव्यन्याय के विषय में इनकी बराबरी करने वाले किसी भी विद्वान् आचार्य का नाम सुना नहीं गया । वि. सं. १७१८ में उन्हें जैनशासन के मूल्यवान् उपाध्याय पद से अलंकृत किया गया । वि. सं. १७४४ में बडौदा से २० मील की दूरी पर दर्भावती तीर्थ (डभोइ) में प्रायः मार्गशीर्ष शुक्ल एकादशी के दिन उन का स्वर्गवास हुआ और उस स्थान पर वहाँ के श्री संघने एक स्तूप बना कर उन के चरणों की दूसरे वर्ष में ही प्रतिष्ठा की थी जो आज भी विद्यमान है । उनके स्तूप का स्थान बडा चमत्कारी है ऐसा कई लोगों का अनुभव है । मैंने भी इस स्तूप के चमत्कार का आंशिक अनुभव किया है । निःशंसय ऐसे ही महान् जिनशासन के प्रभावक प्रखर प्रतिभाशाली श्रद्धेय मुनिपुंगवों से जैनशासन की शोभा सदा उज्जवल है ।

पंडितजी श्री दुर्गानाथजी झा गुजरात के विप्रवर्ग में प्रतिष्ठित नव्यन्याय के विद्वान हैं । मैंने भी प्राचीन और नव्य न्याय का अभ्यास इनके पास किया है जिस को बिसर जाना कृतज्ञता को खो देने जैसा है । नयरहस्य का विवेचन बडी सावधानी के साथ उन्होंने किया है । हमने भी मूलकार के आशय की क्षति न हो इस उद्देश्य से इस का संशोधन कार्य किया है । क्षयोपशम भाव का ज्ञान होने से इस में त्रुटियां होने का इनकार कोई भी नहीं कर सकता । इस लिये पाठक विद्वान् वर्ग को यह प्रार्थना है कि जहाँ भी कोई असंगति जैसा लगे तो वहाँ मूल ग्रन्थकार के आशय के अनुकुल ही तात्पर्य का अवधारण करें । 'गच्छतः स्खलना क्वापि' इस श्लोक का अनुसंधान कर के अन्त में यही प्रार्थना है कि इस कार्य में जिनशासन के विपरीत कुछ भी लिखा गया हो तो उस का सम्यक् संशोधन स्वयं कर लिया जाय ।

उपकारीयों के उपकार का विस्मरण विपत्तिजनक है और स्मरण सम्पत्ति कारक है तो यहाँ भी उपकारी वर्ग का पवित्र स्मरण क्यों न किया जाय ? महामहीम कर्मसाहित्य निष्णात सिद्धान्त महोदधि स्व. आचार्यदेव श्रीमद् विजय **प्रेमसूरीश्वरजी** महाराज, उन के पट्टालंकार और हमारे जैसे अबुझ जीवों के तारणहार दर्शन-शास्त्रनिपुण उग्र तपस्वी दृढसंयमी एवं सफल उपदेशक प्रगुरुदेव प. पू. आचार्य देव श्रीमद् विजय **भुवन-भानुसूरीश्वरजी** महाराज, तथा उनके अग्रणी शिष्य स्व. शांतमूर्त्ति मुनिराज श्री **धर्मघोष विजय** महाराज के शिष्यरत्न आगम-शास्त्र-रहस्यवेत्ता गीतार्थाग्रणी उदारचरित प. पू. पंन्यास गुरुदेव श्री **जयघोष विजय** गणिवर आदि वडिल संयमीगण की महती कृपा इस कार्य को साद्यन्त सम्पूर्ण करने में निरन्तर प्रवाहित रही है, अन्यथा मेरे जैसा अल्पज्ञ क्या कर सकता है ?!

जिन महानुभावोंने ऐसे महान् ग्रन्थरत्न के प्रकाशनादि में प्रत्यक्ष या परोक्ष तन-मन या धन से सहायता प्रदान की है वे सब धन्यवाद के पात्र हैं । अधिकृत मुमुक्षु अभ्यासी वर्ग इस ग्रन्थ का साद्यन्त अवगाहन करके आत्मश्रेय प्राप्त करे यही शासन देव से प्रार्थना है ।

—जयसुंदर विजय

नवसारी-आसो सुद ११-२०३९

विषयानुक्रम

पृष्ठ	विषय
१	प्रकाशकीयस्पन्दन
२	प्रस्तावना
७	विषयानुक्रम
१	मंगलाचरण
३	अनुबंधचतुष्टय
४	अध्यवसायरूप नय का सामान्य लक्षण
५	आद्य विशेषण की सार्थकता
६	द्वितीय ,, ,, ,,
,,	विशेषपद की सार्थकता
७	नय की सामानार्थक शब्दावली
८	प्रापकत्व–साधकत्व का अर्थ
९	निर्वर्त्तकत्व–निर्भासकत्व–उपलम्भकत्व
१०	व्यञ्जकत्व का अर्थ
११	उपचार से नय की उपदेशरूपता
१२	दो विकल्प से नय में मिथ्यात्व की शंका
,,	नय में मिथ्यात्व शंका का निराकरण
१३	नय में विप्रतिपत्तिरूपता की शंका
१४	विप्रतिपत्तिशंका का निराकरण (१–२)
१५	,, ,, ,, ,, (३)
१६	,, ,, ,, ,, (४)
१७	विप्रतिपत्तित्वसाधक हेतु का निराकरण
१८	एकत्वादि संख्यारूप न होने की आशंका
१९	भेदाभेद पक्ष में दोषों की आशंका
२०	जात्यन्तरस्वीकार से शंका का निरसन
२१	पित्तादिदोषनिवारण की अन्यथोपपत्ति की आशंका और निराकरण
२२	माधुर्य या कटुता गुण के परित्याग से दोषनिवृत्ति का असम्भव
२३	गुड–शुण्ठीयोग द्रव्यांतर होने की शंका –उस का निराकरण
२४	द्रव्यान्तर में उभयदोषोपशम कारणता की शंका–उस का समाधान
२४	एक स्वभाव द्रव्यान्तरगत एक शक्ति से कार्यद्वय की अनुपपत्ति
२५	जात्यन्तर मानने पर भी प्रत्येक दोष–निवृत्ति के अनियम की शंका का उत्तर
२६	प्रत्येक कार्याऽकारित्व और जात्यन्तरत्व में अनियम की आशंका
२७	प्रत्येककार्याऽकारित्व का अनियम अनिष्टापादक नहीं है–उत्तर
,,	भेदाभेदोभय का एकत्र सर्वथा असमावेश अनुभवविरुद्ध
२८	विरुद्ध उभयधर्मों के एकत्र समावेश का अनुभव भ्रान्त होने की शंका का उत्तर
२९	द्रव्य–पर्याय में वास्तवाभेदवादी मत का विस्तरण और निराकरण
३०	एकवचन–बहुवचन के प्रयोगभेद की उपपत्ति
,,	वचन भेद विवक्षा में टिप्पण
३१	एक साथ एकवचन-बहुवचन की उ०
३२	विवक्षाभेद से विवक्षितधर्म की नियत प्रतिपत्ति
३३	आर्थन्याय का स्पष्टीकरण
,,	अर्पितानर्पितसूत्र का तात्पर्य
३४	द्रव्यार्थिक नय–पर्यायार्थिकनय
,,	द्रव्यार्थिक नय का अभिप्राय
३५	पर्यायार्थिक नय ,, ,,
३६	मात्रपद से दुर्नयत्वापत्ति की शंका
३७	दुर्नयत्वापत्ति का प्रतिकार
३७	द्रव्यार्थिकनय के चार भेद
,,	जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण का मत
३८	ऋजुसूत्र द्रव्यार्थिक नहीं–श्री सिद्ध सेनसूरि

पृष्ठ	विषय
३९	अनुपयोगांश लेकर द्रव्यपद का औपचारिक कथन
४०	पर्यायार्थिक के तीन भेद
,,	सिद्धसेन सूरि के मत से चार भेद
४०	पाँच नय का मतान्तर
४१	नयविशुद्धिदर्शक प्रदेश दृष्टान्त
,,	प्रदेश दृष्टान्त से नैगम-संग्रह और व्यवहार नय का निरूपण
४२	'घट-पटयो रूपम्' इस प्रयोग के अभाव की आपत्ति की शंका
४३	उक्त प्रयोगापत्ति में इष्टापत्ति का उत्तर
,,	प्रदेशदृष्टान्त में ऋजुसूत्र नय
४४	पञ्चविधत्व का निर्दोष निर्वचन अशक्य
४६	प्रदेश दृष्टान्त से शब्दनय का निरूपण
४७	शब्दनय का अभिलापाकार
,,	'नोजीवः' शब्द प्रयोग का तात्पर्य
४८	प्रदेशदृष्टान्त से समभिरूढ का निरूपण
४९	अभेद में सप्तमीप्रयोग योग्यता की आशंका
,,	अनिश्चित बोध की आपत्ति
,,	प्रदेशदृष्टान्त में एवम्भूत का निरूपण
५०	तादात्म्य-तदुत्पत्ति अतिरिक्त सम्बन्ध का अभाव
५१	भेद होने पर सम्बन्ध की आशंका
,,	आकाश और विन्ध्यादि का वास्तव सम्बन्ध नहीं है-उत्तर
५२	प्रस्थकदृष्टान्त में सातनयों का अभिप्राय
,,	नैगमनय का विविध अभिप्राय
५४	प्रस्थक दृष्टान्त में व्यवहारनय
,,	,, ,, संग्रहनय
५५	,, में घटादिरूपता आपत्ति का वारण
,,	,, अनुभयरूपता ,, ,,
५७	,, दृष्टान्त में ऋजुसूत्रनय

पृष्ठ	विषय
५८	करणत्व-कर्मत्व एक साथ दुर्घट होने की शंका का उत्तर
,,	प्रस्थकदृष्टांत में शब्द-समभिरूढ-एवंभूत
५९	तीनों शब्दनयों का ज्ञानाद्वैतवाद में प्रवेश
६०	ज्ञानात्मक-अज्ञानात्मक उभयरूपता का समावेश अविरुद्ध
६१	अर्थ-अभिधान-ज्ञान की तुल्यार्थता
,,	वसति के दृष्टान्त में सात नय
,,	नैगम के विविध भेदों का अभिप्राय
६२	उत्तरोत्तर ,, ,, में विशुद्धि
६४	विशुद्धि तरतमता न होने की शंका का उत्तर
६६	समग्रता को त्याग देने से उपचार के विना अन्वय की शंका का उत्तर
६७	'कहाँ ?' ऐसी आकांक्षा के अल्पबहुत्व से विशुद्धिवैचित्र्य-अन्य मत
६९	वसतिदृष्टान्त में व्यवहार नय
,,	'वसन् वसति' इस भेद पर आपत्ति
,,	अन्यत्रगत व्यक्ति में पाटलिपुत्रवासित्व व्यवहार औपचारिक-उत्तर
७०	वसतिदृष्टान्त में संग्रहनय
७१	,, ,, ,, ऋजुसूत्रनय
७३	वर्त्तमान काल में ही देवदत्त का वास मान्य
,,	वसतिदृष्टान्त में शब्दादि तीन नय
७४	नैगमनय का प्रतिपादन
७५	लोकप्रसिद्ध अर्थ ग्राहक अध्यवसाय
७६	दुर्नयत्व, प्रमाणत्व और संग्रह-व्यवहारान्तर प्रवेश की आपत्ति
७७	गौण-मुख्यभाव के स्वीकार से आपत्ति का वारण
७८	अनुवृत्ति-व्यावृत्ति बुद्धि से भिन्न सामान्य-विशेष की आशंका
८०	तुल्यातुल्य परिणाम ही सामान्य-विशेष-समाधान

पृष्ठ	विषय
८१	अतिरिक्त सामान्यवादी को वृत्तित्व का प्रश्न
,,	अनुक्त उपालम्भ की आशंका–वैशेषिक
८२	तृतीय विकल्प से वृत्तित्व का असम्भव–जैन
,,	अतिरिक्त सामान्यपक्ष में दोषापादन
८३	समानपरिणाम-पक्ष में शंका-समाधान
,,	सामान्य की व्याख्या में आत्माश्रय की शंका
८४	,, ,, दुर्ग्रहता का निराकरण
८५	अनुवृत्तिबुद्धि कारणता पक्ष में आत्माश्रय–शंका
,,	मृत्परिणामत्वादिरूप से निर्दोष कारणता–उत्तर
८६	सामान्यविषयक बुद्धि निर्विषयक होने की बौद्धशंका और समाधान
८८	स्वतन्त्र विशेषपदार्थ की सिद्धि में कणादमत का पूर्वपक्ष
८९	स्वतन्त्रविशेष का निरसन–उत्तरपक्ष
९०	सत्त्व का लक्षण त्रिकालाऽबाध्यत्व –वेदान्ती श्रीहर्ष का मत
९३	भेद अवास्तव होने पर अभेद की असिद्धि–जैन मत
९४	नैगमनय की सूत्रानुसार निरुक्ति
९६	,, स्वीकार्य चारों निक्षेप
९८	चारों निक्षेपों की व्यापकता पर आक्षेप
९९	अव्यापकता पक्ष में सूत्रविरोध की शंका
१००	व्यापकता में संकोच कर के समाधान
,,	पूर्ण व्यापकता की उपपत्ति में अन्यमत
१०१	केवलिप्रज्ञारूप नामनिक्षेप का मत अरम्य
१०२	गुण–पर्यायरहित द्रव्यजीवकल्पना अयुक्त
१०३	नैगमनय में नामादि स्वीकार से द्रव्यार्थिकत्वव्याघात की शंका
१०४	द्रव्यार्थिक–पर्यायार्थिक दोनों के तुल्य अभ्युपगम का निरसन
१०५	शब्दनयों में द्रव्यस्वीकारादि की आपत्ति
१०६	द्रव्यविशेषणतया पर्याय के स्वीकार से समाधान
१०७	भाष्यकार के विरोधाभासी वचनों के तात्पर्य की शंका
१०८	तात्पर्य का स्पष्टीकरण–समाधान
१०९	मुख्यत्वरूप स्वातन्त्र्य को लेकर तात्पर्य भेद–समाधान
११०	'जीवो गुणपडिवन्नो' गाथा व्याख्यान स्पष्टाभिप्राय
१११	द्रव्यार्थिक में मतान्तर से अकल्पित पर्याय का स्वीकार
,,	नय में भासमान विशेषण कल्पित होने का नियम नहीं
११२	सावज्ज जोग विरओ० गाथा का अर्थ
११३	विशेषण कल्पित ही होने की शंका और समाधान
११४	संग्रहनय–संग्रहण में तत्पर
११६	संग्रहतत्परता का अर्थ क्या है ?
११७	संगृहीत–पिण्डितार्थ वचन संग्रहनय
११८	तत्त्वार्थभाष्य के अनुसार व्याख्या
,,	सत्ता से इतर सभी विशेष आविद्धक
११९	चार निक्षेप का स्वीकार
१२२	संग्रह में निक्षेपत्रयवादी का निराकरण
१२३	भावकारणभूत नाम के द्रव्य में अन्तर्भाव की समस्या
१२५	व्यवहारनय–लोकव्यवहार साधक अध्यवसाय
१२६	व्यवहारनय में अन्यापोहरूप सामान्य
१२७	अन्यापोहरूप सामान्य की ज्ञप्ति में अन्योन्याश्रयदोष शंका–समाधान
१२८	शब्दानुगम से अनुगत व्यवहार की उपपत्ति

पृष्ठ	विषय
१२९	तत्त्वार्थभाष्यानुसारी व्यवहारनय की व्याख्या
१३०	'कृष्ण' पद का उद्भूतकृष्ण में तात्पर्य
१३१	'पंचवर्णवाला भ्रमर' प्रयोग में व्यावहारिकत्व की आशंका
१३३	आशंका का समाधान
१३४	व्यवहारनय में उपचारबहुलता का निदर्शन
१३५	स्थापनानिक्षेप स्वीकार में शंका–समाधान
,,	अर्धजरतीयन्याय का अर्थ (टिप्पण)
१३६	ऋजुसूत्रनय—प्रत्युत्पन्नार्थग्राही
१३९	अतीत–अनागताकार ज्ञान से विपरीत्य की शंका
,,	प्रत्यक्षज्ञान में अतीताद्याकार का अभाव–उत्तर
१४०	तत्त्वार्थभाष्य के अनुसार ऋजुसूत्र नय
,,	ऋजुसूत्र का व्यवहारनयवादी को प्रश्न
१४१	,, का प्रश्न मिथ्या नहीं है ।
१४४	असत् में भावधर्म के असम्भव से निषेध के अनुपपत्ति की शंका
१४५	वैज्ञानिक सम्बन्ध के उपराग से शशसींग में नास्तित्व्यवहार–समाधान
१४८	चार निक्षेपों का स्वीकार
१४९	शब्दनय—यथार्थाभिधान
,,	शब्दनय के निर्वचन में एक मत
१५०	साम्प्रतनय का लक्षण परिचय
१५१	,, के लक्षण में अव्याप्ति की शंका
१५२	शब्दनय लक्षण की अतिव्याप्ति का वारण
१५३	सम्प्रदायानुसार साम्प्रतनय का लक्षण
१५४	विशेषितर प्रत्युत्पन्न अर्थग्राही शब्दनय
१५५	साम्प्रतनय में विशेषिततरग्राहिता की उपपत्ति

पृष्ठ	विषय
१५६	ऋजुसूत्र की अपेक्षा से विशेषता
,,	व्यवहार से नामघटादि में घटत्व सिद्धि का निराकरण
१५७	भावघट और नामघटादि में घट-शब्द प्रयोग में अन्तर
१५८	ऋजुसूत्र और साम्प्रतनय का विशेष अंतर
१५८	सप्तभंगी का प्रथम भंग
,,	सप्तभंगी की प्ररूपणा
१५९	द्वितीयभंग
१५९	प्रमेयत्वावच्छेदेन अकुम्भत्वापत्ति का निरसन
१६०	तृतीय भंग
१६०	सकलस्वपर्यायावच्छिन्न सत्त्वविशिष्ट घट के अवक्तव्य को उपलक्षण मानने से समाधान अशक्य
१६१	अवक्तव्यत्वाभाव आपत्ति का वारण अशक्य
१६२	एकपदमात्र जन्यत्व की विवक्षा में भी आपत्ति
१६२	अवक्तव्यत्व का नये ढंग से निर्वचन से समाधानप्रयास
१६३	अप्रसिद्धि दोष से नये निर्वचन वाला प्रयास निष्फल
१६३	निरपेक्षवक्तव्यत्व के आठवें भंग की आपत्ति
१६४	आपत्ति का प्रतिकार अशक्य
,,	दीर्घ आशंका का समाधान तृतीय निर्वचन के स्वीकार से
१६५	सप्तभंगी का चतुर्थभंग
१६६	,, के पंचम भंग की निष्पत्ति
१६७	,, ,, छट्ठे ,, ,, ,,
१६८	,, ,, सातवें ,, ,, ,,
१६९	भाष्यकार के शब्दों में सप्तभंगी का निर्देश

पृष्ठ	विषय
१७०	सकलादेश–विकलादेश, स्याद्वाद–नय
१७२	कालादि आठ का स्वरूप
१७३	लिंगादि भेद से अर्थभेद स्वीकार साम्प्रत की विशेषता
१७४	पलालादि का अदहनादि कैसे ?
१७५	समभिरूढनय–सद्भूत अर्थों में असंक्रम
१७६	संक्रम में संकरादि दोष
१७७	नैगमादिनयों में अतिव्याप्ति निवारणोपाय
१७८	संज्ञाभेद से अर्थभेद में गूढाशय
१७९	भिन्न पदों से समानरूप से अर्थबोध असिद्ध
१८०	पारिभाषिक संज्ञा में अनर्थकत्व
१८१	,, –नैमित्तिक संज्ञा में साम्यापत्ति का निवारण
१८२	एक पद में अर्थसंक्रमवत् एक अर्थ में पद संक्रम अमान्य
१८३	एवम्भूतनय–व्यंजन और अर्थ का अन्योन्य विशेष
१८४	व्युत्पत्त्यर्थ से अन्वित अर्थ का स्वीकार
१८५	सिद्धात्मा में जीवन का अस्वीकार
१८६	जीवादिविषय में सप्तनयाभिप्राय
१८७	'नोऽजीव' पद का तात्पर्यार्थ
,,	एवम्भूत नय से जीवादि पद का का अर्थ
१८८	दिगम्बर मत में सिद्धात्मा ही जीव
१८९	शुद्धचैतन्यरूप प्राणधारण से जीव
१९०	दिगम्बरमत की समीक्षा
१९१	भावप्राणधारण से सिद्ध में जीवत्व की आशंका और समाधान
१९१	ज्ञानाद्वैत और शून्यवाद में पर्यवसानापत्ति

पृष्ठ	विषय
१९२	अप्राप्तकाल निग्रहस्थान की प्राप्ति।
१९२	इन्द्रिय क्षायोपशमिकभाव होने से सिर्फ औदयिक भाव कैसे ?
१९३	एवम्भूतनय में सिद्ध में सत्त्वभाव और आत्मत्व की उपपत्ति
१९४	नयों के द्वारा प्रमाणों का उपग्रह–अनुग्रह
,,	,, में बलवान्–दुर्बलभाव इच्छाधीन
१९५	विविध प्रकार से नयों का विभाजन
१९६	निश्चयादि में बलवत्ता आपेक्षिक
१९७	क्रियानय–ज्ञाननय में अपनी अपनी विशेषता
१९८	सामग्री की व्याख्यामें विनिगमनाविरह
१९९	कृर्वदूरूप चरमकारण ही एकमात्र कारण– दीर्घ आशंका
२००	'क्रियमाण कृत ही है' इस का समर्थन
२०१	कृत के करण में असमाप्ति की आपत्ति
२०२	कुर्वदूरूपत्व में जातिसांकर्य की स्पष्टता
२०३	चक्रभ्रमणादि दीर्घक्रियाकाल में घटानुपलब्धि का रहस्य
२०५	भिन्न भिन्न कार्यकोटि की अनुपलब्धि क्यों ?
२०६	सामग्रीकाल में कार्यव्याप्यता का नियम
२०७	'क्रियमाणं कृत' यहाँ अन्वय अनुपपत्ति की दीर्घ शंका
२०८	शंका का निवारण
२१०	'नष्टो घटः' प्रयोग व्यवस्था की अनुपपत्ति
२११	कृत्प्रत्ययार्थ उत्पत्ति में अतीतत्वादि के अन्वय में नियमभंग
२१३	एक पद से उपस्थापित दो अर्थों के अन्वय का समर्थन

पृष्ठ	विषय
२१४	कृत्प्रत्ययार्थ उत्पत्ति का प्रातिपदिकार्थ में अनन्वय दोष
२१६	नामार्थप्रकारक धात्वर्थविशेष्यक बोध की सम्भावना अशक्य
२१७	नश् धातु की नाशवंत में लक्षणा कर के अन्वय की उपपत्ति
२१८	लक्ष्यार्थ प्रकारक बोध चिन्तामणिकार को सम्मत
२१९	आख्यातार्थ संख्या के अन्वय का विचार
२२०	शक्तिप्रयोज्यत्व को कार्यतावच्छेदक मानने में गौरव का विचार
२२१	'स्तोकः पाकः' इत्यादि दो प्रयोग की उपपत्ति
२२२	'नष्टो घटः' में प्रत्ययार्थ की चिन्ता
२२३	सिद्धत्व और साध्यत्व के विरोध की चिन्ता
२२४	'कृत' में भजना, क्रियमाणकृत और उपरत-क्रियकृत
२२४	सिद्धत्व की सिद्धत्वविशिष्ट साध्यता में व्याप्ति
२२५	निश्चयनय के सामने व्यवहारनय से दीर्घशंका का समाधान
२२६	निश्चयनय में कार्यहेतुक अनुमानोच्छेद की शंका
२२८	क्रियमाण कृत नहीं है—व्यवहारनय
२३०	विचित्र नयवाद का फल रागद्वेषविलय
२३१	विविध नयों का भिन्न भिन्न अभिप्राय
२३२	चरण-गुण स्थिति परममध्यस्थता
२३३	ग्रन्थकार प्रशस्ति
२३४	दुर्जनोपेक्षा-सज्जनस्तुति
२३५	नयरहस्य ग्रन्थ समाप्ति
२३६	शुद्धिपत्रक

परिशिष्ट १—न्यायरहस्ये उद्धृत साक्षिपाठअकारादिक्रमः

पृष्ठांकः	उद्धृतांशः
१४२	अत्यन्ताऽसत्यपि–(खंडनखंडखाद्य–१)
१०९	अत्र चाद्या नामादय–(तत्त्वार्थसूत्र १–५–वृत्ति)
९६	अर्थाभिधानप्रत्यया–( )
११८	अर्थानां सर्वैकदेश–(तत्त्वार्थभाष्य १–३५)
३२	अर्पिताऽनर्पितसिद्धेः (तत्त्वार्थ–५–३१)
११७	अहव महासामन्नं–(हिन्दी) (विशेषा० भाष्य–२२०५)
१६९	अहवा पच्चुप्पन्नो (विशे० भाष्य–२२३१)
१५३	इच्छइ विसेसियतरं (अनुयोगद्वार–सू० १५२)
३७–१४९	उजुसुअस्स एगे० (,, ,, १४)
११	उवएसो सो णओ (आव० नि०–१०५४)
१८५	एवं जीवं जीवो (विशे० भाष्य–२२५६)
९९	जत्थ वि य ण० (अनुयोगद्वार सू०–७)
१०७–११०	जीवो गुणपडिवन्नो (आव० नि० ७९२)
१०८	णामाइतियं दव्व० (विशे० भाष्य–७५)
९४	णेगेहिं माणेहिं (अनुयोगद्वार–सू०१३६)
१८९	तिक्काले चदु पाणा (द्रव्यसंग्रह–१८९)
१७६	दव्वं पज्जाओ वा (विशे० २२३७) (हिन्दी)
४१	दासेन मे खरः ( )
६	नयाः प्रापकाः.....(तत्त्वार्थभाष्य १–३५)
१२०	नामं आवकहियं (अनु० सू०–११)
९४	निगमेषु चेऽभि–(,, ,,)
१३६	पच्चुप्पण्णग्गाही० (,, –१५२)
१७४	पलालं न दहत्यग्नि–( )
२७	भागे सिंहो नरो–( )
१०३–१०९	भावं चिय सद्दणया (विशे०–२८४७)

१८९ मग्गणगुणठाणेहिं (द्रव्यसंग्रह–१३)

१०० यद्यत्रैकस्मिन् ( )

१५२ वच्चई विणिच्छय–(अनु०–१५२)

१७५ वत्थूओ संकूमण (अनु० १५२)

७८–८० वस्तुन एव समानो ( )

१८३ वंजण–अत्थ–तदुभयं (अनु० १५२)

१४० सतां साम्प्रतानां (तत्त्वार्थभाष्य–१–३५)

१७५ सत्स्वर्थेष्वसंक्रमः (त०सू०भा० १–३५)

१६९ सब्भावाऽसब्भावो–(विशे० भा० २२३२)

१०८ सव्वणया भावमिच्छति (,, –३६०१)

११५ संगहणं संगिण्हई (,, –२२०३) (हिन्दी)

११७ संगहिय–पिंडियत्थं (अनु० द्वार–१५२–२)

११० सावज्जजोगविरओ (आव० नि० अन्तर्गत भाष्य–१४९)

२५ स्निग्धोष्णं दाडिमं ( )

श्रीमद्विजय **प्रेमसूरीश्वर** सद्गुरुभ्यो नमः

हिन्दी विवेचन विभूषित

न्यायविशारद—न्यायाचार्य—महोपाध्याय श्रीमद्**यशोविजय**गणिवर विरचित

नयरहस्य

[मङ्गलाचरण]

ऐन्द्रश्रेणिनतं नत्वा वीरं तत्त्वार्थदेशिनम् ।
परोपकृतये ब्रूमो रहस्यं नयगोचरम् ॥१॥

इन्द्रके समुदाय से नमस्कृत, तत्त्वभूत अर्थ का उपदेश करनेवाले, ऐसे महावीर स्वामीको नमस्कार करके लोकोपकारार्थ नयविषयक रहस्यमय अर्थ को कहते हैं ।

[मङ्गल श्लोक का विशेषार्थ]

किसी भी कार्य के प्रारम्भ से पूर्व उस कार्य की निर्विघ्न समाप्ति के उद्देश्य से मङ्गल करना यह भारतीय शिष्ट परम्परा का आचार है। मङ्गल उसको कहते हैं जिस से अभिलषित कार्य में प्रतिबन्धक दुरात की निवृत्ति होती है । मङ्गल तीन प्रकार के होते हैं-१ आशीर्वादरूप २ इष्टदेवता नमस्काररूप और ३ प्रतिपाद्यवस्तु का संक्षेप में निर्देश-रूप । प्रस्तुत श्लोक में उपाध्यायजीने दो प्रकार के मङ्गलों का आचरण किया है । प्रथम-पाद से इष्टदेवता को नमस्काररूप मङ्गल किया है और चतुर्थ पाद से वस्तुनिर्देशात्मक मङ्गल को किया है ।

ऐन्द्र-इन्द्रसम्बन्धि श्रेणि से नमस्कृत ।

'इन्द्रस्य रूपं ऐन्द्री, ऐन्द्री चासौ श्रेणिश्चेति ऐन्द्रश्रेणिः' इस विग्रह के अनुसार इन्द्रके समूह से महावीरस्वामी नमस्कृत हुए हैं-यह अर्थ निकलता है । जैन शास्त्र के अनुसार अनेक इन्द्र एक काल में अपने-अपने पद पर आसीन होते हैं, ऐसा कहा गया है । महावीर स्वामीने जब केवलज्ञान को प्राप्त किया उस समय अनेक इन्द्र उनके समीप एक साथ ही आकर उनको वन्दन करते थे, यह वस्तु इस विशेषण से सूचित होती है । तथा जो इन्द्र के समूह से पूजनीय हैं वे अन्य से पूजनीय अवश्य हैं यह 'कमु-तिक'न्याय से सिद्ध होता है । कारण, इन्द्र देवोंकी अपेक्षा से और मनुष्योंकी अपेक्षा से श्रेष्ठ माने जाते हैं । । जो सर्वश्रेष्ठ से पूजित होते हैं, वे अन्य से पूजित होने योग्य अवश्य होते हैं, इसलिए महावीर स्वामी में पूजातिशय का भी द्योतन इस विशेषण से होता है । यदि 'इन्द्रश्रेणिनतं' ऐसा विशेषण वीररूप विशेष्य में लगाया गया होता तो भी पूजातिशय का लाभ हो जाता परन्तु ऐसा न करके उपाध्यायजीने ऐन्द्रपद का प्रयोग किया है । इस से यह भी सूचित होता है कि जिस मन्त्र से उपाध्यायजीको सिद्धि प्राप्त हुई थी, उस सारस्वत मन्त्र ऐंकार का अपने प्रत्येक ग्रन्थों की आदि में निर्देश

करना इनका अभीष्ट है, इसलिए 'इन्द्र' पद का प्रयोग न करके 'ऐन्द्र' पद का प्रयोग किया है। 'ऐन्द्र' पद में जो प्रथम अक्षर है वही (ऐं) उपाध्यायजी का सिद्धिप्रद सारस्वत मन्त्र है।

'नत्वा'–"नम्" धातु से "त्वा" प्रत्यय लगाने से "नत्वा" शब्द बनता है। "नम्" धातु का अर्थ नमस्कार होता है। जिस क्रिया से नमस्कार करनेवाले की अपेक्षा, जिसको नमस्कार किया जाता है उस में उत्कर्ष का द्योत न हो, यही क्रिया 'नमस्कार' पद का अर्थ है। वह क्रिया यहाँ पर शुभमनोभावयुक्त कराञ्जलि-मस्तकनमन और शब्दप्रयोगरूप है। "वीरं नत्वा" इस शब्द प्रयोग से वीर हम से उत्कृष्ट हैं, ऐसा भाव उपाध्यायजी को अवश्य रहा होगा यह कहने की आवश्यकता नहीं है। "त्वा" प्रत्यय से 'ग्रन्थारम्भापेक्षया पूर्वकालीनत्व' नमस्कार पदार्थ में बोधित होता है। "वीर"को नमस्कार करने के बाद ही ग्रन्थ रचना का आरम्भ करना ग्रन्थकार को अभीष्ट है, यह "त्वा" प्रत्यय से विदित होता है।

'वीरम्'–'विशेषेण ईरयति=कम्पयति शत्रून्'–इस व्युत्पत्ति के अनुसार "वीर" शब्द का अर्थ होता है शत्रुओं को नष्ट करनेवाला। 'नाम के एक देश के ग्रहण से सम्पूर्ण नाम का बोध हो जाता है,' यह लोक-न्यायसिद्ध वस्तु है, जैसे-सत्यभामा का बोध सत्या और भामा दोनों शब्द से हो जाता है। सत्यभामा के लिए केवल सत्यापद और केवल भामापद का प्रयोग शास्त्रों में भी पाया जाता है। इसी न्याय के अनुसार 'महावीर' अर्थ में उपाध्यायजीने 'वीर' शब्द का प्रयोग किया है। लोक में जो बाह्य शत्रुओं को जीतने का बल-सामर्थ्य रखता है, वह आन्तर शत्रु जो "राग-द्वेषादि" उन को न जीत सकने पर भी "वीर" शब्द से व्यवहृत होता है। किंतु "महावीर" स्वामीने आन्तर शत्रु जो राग-द्वेष आदि हैं, उन पर भी विजय प्राप्त किया था, इसलिए वे महावीर शब्द से व्यवहृत हुए और महावीर शब्द उन में रूढ हो गया। इसलिए महावीरस्वामी में महावीर शब्द योगरूढ है। योगरूढ शब्द वही कहा जाता है जिस से अवयवार्थ के साथ-साथ समुदायार्थ भी भासित होता हो। जैसे-पङ्कज शब्द से 'पङ्क में उत्पन्न होनेवाला' ऐसा अवयवार्थ भासित होता है और उसके साथ ही रूढि से कमलरूप अर्थ भी भासित होता है, उसीतरह "महावीर" शब्द से 'अन्तःशत्रुओं का विजेता' इस अवयवार्थके साथ अन्तिम तीर्थंकररूप समुदायार्थ भी रूढि से भासित होता है। इसलिए "महावीर" पद चरम तीर्थङ्कर में योगरूढ है। रागादि अन्तःशत्रुविजेता चरम तीर्थंकर यह "महावीर" शब्द का शुद्ध अर्थ है। "वीर" इस विशेष्य पद से जो अवयवार्थ भासित होता है, उससे अपायापगमातिशय का द्योतन होता है।

"तत्त्वार्थदेशिनम्"–"तत्त्वं-अर्थं-दिशति" इस विग्रह के अनुसार 'तत्त्वभूत अर्थ के उपदेष्टा महावीरस्वामी थे' इस वस्तु का इस विशेषण से सङ्केत किया गया है। तत्त्वभूत अर्थ वस्तुमात्र में अनेकान्तात्मकत्व आदि ही है, जो द्रव्यार्थिकनय और पर्यायार्थिक-नय इन दोनों के द्वारा समझा जाता है। जैनसिद्धान्त में उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यविशिष्टत्व रूप सत्त्व सभी वस्तु में मान्य है। 'उप्पन्नेइ वा विगमेइ वा धुवेइ वा' इस त्रिपदी से

उक्त सत्त्व का प्रतिपादन उन्होंने किया है, उस से ही वस्तुमात्र में अनेकान्तात्मकत्व सिद्ध होता है जो किसी प्रमाण से बाधित नहीं है। अन्य कोई भी दर्शनकार इस-तरह के वस्तुतत्त्व का प्रतिपादन नहीं कर पाया। इस से महावीरस्वामी ही तत्त्वार्थोपदेष्टा सिद्ध होते हैं। इस विशेषण से महावीरस्वामी में वचनातिशय द्योतित होता है। वचनातिशय ज्ञानातिशय के विना नहीं हो सकता है क्योंकि वचन से पूर्व में वाक्यार्थज्ञान होना आवश्यक है, वाक्यार्थज्ञान के विना वाक्य का प्रयोग करना उन्मत्त प्रलाप कहा जाता है। इसलिए "तत्त्वार्थदेशि" इस विशेषण से "महावीर" स्वामी में अर्थापत्ति न्याय से ज्ञानातिशय का भी द्योतन होता है। इसतरह मङ्गल श्लोक के पूर्वार्ध से "महावीर" स्वामी में अतिशयचतुष्टय का प्रतिपादन उपाध्यायजीने किया है।

"परोपकृतये"–मङ्गल श्लोक के उत्तरार्ध से अनुबन्धचतुष्टय का प्रतिपादन किया गया है। अनुबन्ध कहा जाता है 'प्रवृत्तिप्रयोजकज्ञानविषयत्व' को। "विषयश्चाधिकारी च, सम्बन्धश्च प्रयोजनम्" इस वचन के अनुसार विषय, अधिकारी, सम्बन्ध और प्रयोजन ये चार प्रकार के अनुबन्ध माने गए हैं। इन अनुबन्धों के ज्ञान से ही ग्रन्थाध्ययन में बुद्धिमानों की प्रवृत्ति होती है। यद्यपि इष्टसाधनताज्ञान ही प्रवृत्ति का साक्षात् कारण है, तथापि इष्टसाधनताज्ञान का भी कारण अनुबन्धचतुष्टयज्ञान है। इसलिए अनुबन्धचतुष्टय के ज्ञान में प्रवृत्तिप्रयोजकता आ जाती है और तादृशज्ञानविषयता विषय, अधिकारी, सम्बन्ध और प्रयोजन में आ जाती है इसलिए ये चार अनुबन्ध कहलाते हैं। 'अनुबध्नन्ति=लोकान् ग्रन्थाध्ययने उन्मुखीकुर्वन्ति ये ते अनुबन्धाः' इस व्युत्पत्ति अनुसार लोकों की ग्रन्थाध्ययन में उत्सुकता जिस से जागरित हो वे अनुबन्ध कहलाते हैं।

प्रस्तुत ग्रन्थ में प्रतिपाद्य विषय "नयरहस्य" है, "नयरहस्य" का जिज्ञासु ही अधिकारी है और 'नयरहस्य' का ज्ञान ही प्रयोजन है। "नयरहस्य" ग्रन्थ और "नय रहस्य" रूप अर्थ इन दोनों का 'प्रतिपाद्य–प्रतिपादकभाव' सम्बन्ध है। इस तरह अनुबन्ध चतुष्टय का प्रतिपादन उत्तरार्ध से सिद्ध होता है। उस में 'परोपकृतये' इस पद से अधिकारी और प्रयोजन इन दोनों का प्रतिपादन होता है। यहाँ 'नयरहस्य' के ज्ञान का पिपासु जो होगा वही 'पर' पद से विवक्षित है और वही अधिकारी है, क्योंकि उसी को इस ग्रन्थ के अध्ययन से उपकार हो सकेगा, वह उपकार "नयरहस्य" के ज्ञानरूप ही है जो उपकृति पद से कहा गया है। इस रीति से अधिकारी और प्रयोजन इन दोनों अनुबन्धों का सूचन इस पद से होता है।

नयगोचरं रहस्यम्–'नय' के विषय में जो रहस्य अर्थात् शास्त्रकारों का तात्पर्य है उसी का अनावरण ग्रन्थकार को अभीष्ट है, अतः इस अवयव से "नयरहस्य" रूप विषय जो एक अनुबन्ध ही है उस का प्रतिपादन होता है। "नयरहस्य" रूप अभिधेयार्थ के साथ प्रस्तुत ग्रन्थ का बोध्य–बोधकभाव सम्बन्ध रूप अनुबन्ध भी इसी पद से प्रतीत होता है।

"ब्रूमः"–यह पद "ब्रू" धातु से वर्त्तमान आख्यातप्रत्यय मस् लगने पर बनता है। अभी ग्रन्थकार मङ्गलाचरण कर रहे हैं, इसके अनन्तर "नयरहस्य" ग्रन्थ का आरम्भ होगा, तथापि भविष्यत् अर्थबोधक आख्यात का प्रयोग न कर के जो वर्त्तमान आख्यात का प्रयोग किया है इस से प्रस्तुत ग्रन्थ करने की प्रतिज्ञा ग्रन्थकार की सूचित होती है। श्रोता के चित्त में सावधानतासिद्धि के लिए प्रतिज्ञा करना भी आवश्यक ही होता है, वह ग्रन्थकार ने किया है। 'अव्यवहित भविष्य में मैं ग्रन्थ करूँगा' इस प्रकार का ज्ञान जिस से हो उस क्रिया को प्रतिज्ञा कहते हैं। वह क्रिया यहाँ "ब्रूमः" इस शब्द के प्रयोग से प्रतीत होती है। वर्त्तमान के समीप में जो भविष्यत्काल है उस में वर्तमान-कालबोधक प्रत्यय का प्रयोग हो सकता है। "वर्त्तमानसमीपे वर्तमानवद् वा" यह व्याकरणकारों का अनुशासन इस बात को सिद्ध करता है। 'वर्त्तमान के समीप में जो भूतकाल या भविष्यत्काल हो उसमें भी वर्त्तमानकाल बोधक प्रत्यय का प्रयोग किया जा सकता है' यह उक्त व्याकरणानुशासन का अर्थ है। इस हेतु से भाविकाल को लक्ष्य में रखकर वर्त्तमानार्थप्रत्यय का "ब्रूमः" ऐसा प्रयोग करना असङ्गत नहीं है, किन्तु शास्त्रसम्मत ही है।

प्रकृतवस्त्वंशग्राही तदितरांशाऽप्रतिक्षेपी अध्यवसायविशेषो नयः।

दुर्नयस्याप्यधिकृतांशाऽप्रतिक्षेपित्वात्तत्राऽतिव्याप्तिवारणाय 'प्रकृतवस्त्वंशग्राही' ति। एवञ्च तत्पदेन तद्भिन्नप्रतिपन्थिधर्मोपस्थितेर्न दोषः। प्रकृतवस्त्वंशग्राहित्व-मपि दुर्नयेऽतिव्याप्तमेवेति 'तदितरांशाऽप्रतिक्षेपी' ति। सप्तभङ्गात्मकशब्दप्रमाणप्रदीर्घ-सन्तताध्यवसायैकदेशेऽतिव्याप्तिवारणायाध्यवसायपदम्। रूपादिग्राहिणि रसाद्यप्रति-क्षेपिण्यपायादिप्रत्यक्षप्रमाणेऽतिव्याप्तिवारणाय 'विशेष'पदम्॥

[नय की व्याख्या और उसका पदकृत्य]

"प्रकृतवस्त्वंशग्राही" इत्यादि–प्रकृत वस्तुके किसी एक अंश का ज्ञान जिस से हो और उस अंश से भिन्न अंश का निषेध न हो, ऐसा अध्यवसाय विशेष ही "नय" पदार्थ है। यथा–"घट सत् है" इस ज्ञान में प्रकृतवस्तु घट है, जो सत्त्व-असत्त्व, नित्यत्व-अनित्यत्व आदि अनन्तधर्मात्मक है। जैन दर्शन में धर्म और धर्मी का कथञ्चित् अभेद मान्य होने से घटरूप धर्मी भी सत्त्व आदि अनन्त धर्मात्मक कहा जाता है। तथा धर्म और धर्मी का कथञ्चित् भेद भी जैनदर्शन में मान्य है, इसलिए सत्त्व और असत्त्व आदि अनेक अंश घट में रहते हैं, उन अंशों में से सत्त्वांश जो घट में 'घटः सन्' इस ज्ञान से विवक्षित है–उसका अवभास तो होता है, अविवक्षित अंश जो असत्त्व आदि है उनका निषेध नहीं किया जाता है, इसलिए 'घटः सन्' इस तरह का अध्यवसाय "नय" है।

इस अध्यवसाय का बोधक "घटः सन्" यह वाक्य "नयवाक्य" माना जाता है। "नयन्ते इति नयाः" इस व्युत्पत्ति से भी, सामान्यरूप से या विशेषरूप से अर्थ के किसी एक अंश को जो प्रकाशित करे और तदन्य अंश में जो उदासीनता बतावे वह अभि-

प्रायविशेष "नय" है, ऐसा लक्षण निकलता है, जो ग्रन्थकारकृत लक्षण को ही पुष्ट करता है। "नय" दो प्रकार से विभक्त होते हैं-विशेषग्राही तथा सामान्यग्राही। "घटः" ऐसा कहने पर कुम्भकार से बना हुआ विस्तृत और गोल उदरवाला, गोल ग्रीवा से युक्त, जल आदि धारण करने में समर्थ द्रव्यविशेष का ज्ञान होता है, वह ज्ञान जब नील-पीत आदि विशेष से युक्त या कनक, रजत आदि विशेष से युक्त किसी एक घट का प्रकाशक होता है, तब विशेषग्राही या देशग्राही कहा जाता है, तथा उक्त विशेष से रहित सभी समान व्यक्तियों को जब प्रकाशित करता है, तब सामान्यग्राही या समग्रग्राही माना जाता है।

इस लक्षणवाक्य में "अध्यवसाय" पद का निवेश है। "अध्यवसीयन्ते=आधिक्येन परिच्छिद्यन्ते अर्था अनेन स अध्यवसायः" इस व्युत्पत्ति के अनुसार अनेक धर्मात्मक वस्तु अनेकाकार ज्ञान के द्वारा जिस से प्रकाशित हो, ऐसा ज्ञानविशेष ही "अध्यवसायविशेष" पद से इस लक्षण में विवक्षित है।

['प्रकृतवस्त्वंशग्राही' विशेषण की सार्थकता]

इस लक्षण में "प्रकृतवस्त्वंशग्राही" यह विशेषण यदि नहीं लगाया जाय तो दुर्नय में अतिव्याप्ति का प्रसंग होता है। स्वाभिप्रेत अंश से इतर अंश का अपलाप जिस से किया जाता हो, उस नय को दुर्नय या नयाऽऽभास कहते हैं, जैसे-नित्यत्व अनित्यत्व आदि अनन्त धर्मों से युक्त घट को नैयायिक विद्वान 'अनित्य ही है' ऐसा मानते हैं, उनका यह ज्ञान दुर्नय है, क्योंकि उनका अभिप्रेत अंश अनित्यत्व है उसको तो घट में मानते हैं, परन्तु उस से इतर अंश जो नित्यत्व है उस का प्रतिषेध भी करते हैं। ऐसा दुर्नय भी स्वाभिप्रेत अंश का प्रतिषेध नहीं करता है, इसलिए 'तदितरांशाऽप्रतिक्षेपी अध्यवसायविशेषो नयः' इतना ही "नय" का लक्षण माना जाय तो "तत्" पद सर्वनाम होने के कारण अनभिप्रेत अंश का बोधक हो सकता है, उस से इतर अंश अभिप्रेतांश होगा उस का प्रतिक्षेप तो दुर्नय भी नहीं करता है। इस हेतु से दुर्नय में "नय" के लक्षण की अतिव्याप्ति हो जाती है, जो ग्रन्थकार को अभीष्ट नहीं है, इसलिए "प्रकृतवस्त्वंशग्राही" यह विशेषण देना आवश्यक है। इस विशेषण के लगाने पर 'तदितरांशाऽप्रतिक्षेपी' इस पद में तत् पद से प्रकृतवस्त्वंश का ही ग्रहण होगा क्योंकि पूर्वोक्त का परामर्श करना 'तत्' पद का स्वभाव है। अतः तदितर पद से अनभिप्रेत अंश का ही ग्रहण होगा और उसका प्रतिक्षेप तो दुर्नय करता ही है, इसलिए अतिव्याप्ति का प्रसंग नहीं होता है। इसी आशय से ग्रन्थकार "एवञ्च तत्पदेन तद्भिन्नप्रतिपन्थिधर्मोपस्थितेर्न दोषः" यह पंक्ति लिखते हैं। इस में "एवञ्च" शब्द का-"प्रकृतवस्त्वंशग्राही इस विशेषण के लगाने पर" ऐसा अर्थ निकलता है। तब "तत्" पद से तद्भिन्न यानी अनभिप्रेत जो नित्यत्वधर्म उस से भिन्न उस का विरोधी अनित्यत्वधर्म की ही उपस्थिति होती है, नित्यत्व की नहीं, और उस अनित्यत्व से इतर अंश नित्यत्व है उस का प्रतिक्षेप दुर्नय में होता ही है इसलिए दोष नहीं होता अर्थात् अतिव्याप्ति नहीं होती है। यह उक्त सन्दर्भ का अभिप्राय है।

['तदितरांश०'...की सार्थकता]

"यदि प्रकृतवस्त्वंशग्राही अध्यवसायविशेषो नयः" इतना ही नय का लक्षण माना जाय तो भी दुर्नय में अतिव्याप्ति का प्रसङ्ग आता ही है । क्योंकि दुर्नय भी स्वाभिप्रेत अंश का ग्राहक होता है जैसे 'घटोऽनित्य एव' यह दुर्नय प्रकृत घटरूप वस्तु का जो अनित्यत्व अंश है उस का प्रकाश करता ही है । इस अतिप्रसंग का वारण करने के लिए तदितरांशाऽप्रतिक्षेपी यह विशेषण भी देना चाहिए । इस द्वितीय विशेषण लगाने पर दुर्नय में अतिव्याप्ति का वारण हो जाता है क्योंकि दुर्नय में वस्तु के विवक्षित अंश से इतर अंश का प्रतिक्षेप होता है। 'जैसे घटः अनित्य एव' यह दुर्नय नित्यत्व अंश का निषेध करता है । इस नय लक्षण में अध्यवसाय पद न लगाया जाय और 'प्रकृतवस्त्वंशग्राही तदितरांशाऽप्रतिक्षेपी नयः' इतना ही लक्षण किया जाय तो सप्तभङ्गात्मक जो शब्दप्रमाण अर्थात् [(१) स्यादस्त्येव (२) स्यान्नास्त्येव (३) स्यादस्त्येव स्यान्नास्त्येव (४) स्यादवक्तव्यमेव (५) स्यादस्त्येव स्यादवक्तव्यमेव (६) स्यान्नास्त्येव स्यादवक्तव्यमेव (७) स्यादस्त्येव स्यान्नास्त्येव स्यादवक्तव्यमेव] इस रूप से स्यात्पदयुक्त वाक्यप्रयोग रूप शब्द प्रमाण, उस से होनेवाला दीर्घ और निरन्तर अध्यवसाय उस का एक देश स्यादस्त्येव इत्यादि किसी एक दो वाक्यप्रयोग से होनेवाला अध्यवसाय-उस में नय लक्षण की अतिव्याप्ति हो जायगी क्योंकि उस आध्यवसायिक देश से भी विवक्षित अंश का परिग्रह और अविवक्षित अंश का अनिषेध होता है । इस हेतु से उस दोष का निवारण करने के लिए अध्यवसायपद देना चाहिए । अध्यवसाय पद देने पर वहाँ अतिप्रसंग नहीं हो सकता, क्योंकि अध्यवसाय के एक देश में अध्यवसायत्व नहीं माना गया है, जैसे-शरीरैकदेश हस्त-पादादि में शरीरत्व नहीं माना जाता है ।

[विशेषपद की सार्थकता]

इस लक्षण में विशेषपद यदि न लगाया जाय तो 'प्रकृतवस्त्वंशग्राही तदितरांशाऽप्रतिक्षेपी अध्यवसायो नयः' इतना ही लक्षण का आकार होगा तब अपाय और धारणारूप प्रत्यक्षप्रमाण में अतिव्याप्ति का प्रसंग होगा । जिस अपाय से घटादि में रूप का ज्ञान होता है और रसादिका निषेध नहीं होता है वह अपायादि प्रकृतवस्त्वंशग्राही तदितरांशाऽप्रतिक्षेपी अध्यवसायरूप है उस में नय का लक्षण जाना अभीष्ट नहीं है क्योंकि नय प्रमाणरूप नहीं है, अपायादि तो प्रमाणरूप है, अतः प्रमाण से भिन्न नय का लक्षण प्रमाणरूप अपाय में जाना इष्ट नहीं हो सकता, इसलिए विशेष पद देना लक्षण वाक्य में आवश्यक है । विशेष पद के लगाने पर यह दोष नहीं होता है क्योंकि सभी अध्यवसाय में नयत्व विवक्षित नहीं है, किन्तु अमुक-अमुक-अध्यवसाय में ही नयत्व विवक्षित है । अपायादि प्रमाणरूप अध्यवसाय नय नहीं है अतः विशेषपद से उसका ग्रहण नहीं होता है ।

"नयाः, प्रापकाः (कारकाः), साधकाः, निर्वर्तकाः, निर्भासकाः, उपलम्भकाः, व्यञ्जका इत्यनर्थान्तरमि"ति भाष्यम् (तत्त्वार्थ १-३५)

[नय की समानार्थक अन्य शब्दावली]

नया...इत्यादि–तत्त्वार्थ सूत्र के भाष्यकार ने नय के ही सूचक अन्य शब्दों का उल्लेख किया है । उसका तात्पर्य यह है कि प्रापक, साधक, निर्भासक इत्यादि सभी शब्द नय शब्द के समानार्थक हैं । यद्यपि प्रापक, साधक इत्यादि शब्दों के अर्थों में कुछ कुछ भेद अवश्य है, तो भी भाष्यकार ने अनर्थान्तरं शब्द से जो कहा है उसका तात्पर्य यह है कि विशेष रूप से अर्थप्रकाशकत्व सभी में समान है इसीलिए इन शब्दों को समानार्थक कहना सङ्गत ही है । प्रापक शब्द से 'प्रापयन्ति तं तमर्थं ये ते प्रापकाः' इस व्युत्पत्ति के अनुसार स्वसम्मत युक्तियों द्वारा उन उन अर्थों का ज्ञान जो करावे वे प्रापक कहे जाते हैं । प्रापक शब्द को नय शब्द का समानार्थक मानने में नी धातु के अर्थ में णि प्रत्ययार्थ प्रेरणा का अन्तर्भाव समझ लेना चाहिये । नय शब्द को कारक शब्द का समानार्थक मानने में धातूनामनेकार्थत्वात्=धातु अनेकार्थक होते हैं–इस न्याय से नी धातु के प्रसिद्ध अर्थ का त्याग कर के उसको कृधात्वर्थक समझना चाहिये, अर्थात्–नी धातु को कृ धातु के समानार्थक मानना चाहिए, क्योंकि 'कुर्वन्ति तत्तद् विज्ञानं ये ते कारकाः' ऐसी व्युत्पत्ति कारक शब्द की होती है । अपूर्व विज्ञान को जो करे वह कारक कहलाता है । नय शब्द को साधक शब्द का पर्याय मानने में भी नी धातु का मुख्यार्थ छोड देना चाहिये । साधयन्ति विज्ञप्तिं जनयन्ति-यह साधक शब्द की व्युत्पत्ति है । परस्पर व्यावृत्तिबुद्धि जिस से उत्पन्न हो उस का नाम साधक है ।

नय शब्द को निर्वर्तक शब्द का पर्यायवाचक मानने से नी धातु का निर्वर्त्तन अर्थ निकलता है । निर्वर्तयन्ति इति निर्वर्त्तका इस विग्रह के अनुसार वे अध्यवसाय-विशेष नय कहे जाते हैं जो अपने निश्चित अभिप्राय से उत्पन्न हैं । ऐसे ही नय शब्द को निर्भासक शब्द का पर्यायवाची मानने से नी धातु का दीप्ति अर्थ स्फुट होता है । निर्भासयन्ति जीवादीन् पदार्थान्–इस विग्रह के अनुसार वस्तु के किसी अंश का जो ज्ञापन करावे उसे निर्भासक कहते हैं । ऐसे ही नय शब्द को उपलम्भक शब्द का पर्याय मानने से नी धातु का उपलब्धि अर्थ सिद्ध होता है । उपलम्भयन्ति ये ते उपलम्भका इस विग्रह के अनुसार उन उन अत्यन्त सूक्ष्म अर्थों का विशिष्टक्षयोपशम से उपलम्भ जिस से हो उसे उपलम्भक कहते हैं । उपलम्भक शब्द से ज्ञानविशेष ही यहाँ लेना चाहिए । ऐसे ही नय शब्द को व्यञ्जक शब्द का समानार्थक मानने से नी धातु का व्यञ्जन अर्थ निकल आता है क्योंकि 'व्यञ्जयन्ति स्फुटीकुर्वन्ति' इस विग्रह के अनुसार जो वस्तु को अपने अभिप्राय के अनुसार स्पष्ट करे उसे व्यञ्जक कहते हैं । यहाँ प्रापक, कारक इत्यादि शब्दार्थों में जो कुछ भेद है वह विग्रह से निकले हुए अर्थ के अनुसन्धान करने पर भासित हो जाता है तो भी समानरूप से या विशेषरूप से अर्थबोधकत्व सभी पक्ष में समान है, इसलिए भाष्यकार ने जो पर्यायता का प्रतिपादन किया है वह युक्त ही है ।

अत्र प्रापकत्वं प्रमाणप्रतिपन्नप्रतियोगिप्रतियोगिमद्भावापन्ननानाधर्मैकतरमात्र-प्रकारकत्वम् ।

अत्र प्रापकत्वं इत्यादि–तत्त्वार्थ सूत्र के भाष्यकार ने नय शब्द का पर्याय प्रापक शब्द दिया है। उस में प्रापकत्व क्या है ? इस वस्तु को न्याय की परिभाषा में परिष्कृतरूप से उपाध्यायजी प्रदर्शित करते हैं।

प्रमाण से प्रतिपन्न अर्थात् प्रमाण के द्वारा सुनिश्चित और प्रतियोगि–प्रतियोगिमद्भावापन्न–यहाँ प्रतियोगि का अर्थ विरोधी है और प्रतियोगिमत् शब्द का अर्थ विरोध्य है, इसलिए विरोधिविरोधिमद्भाव को प्राप्त ऐसा अर्थ निकलता है, इस तरह के जो अनेक धर्म उनमें से कोई एक धर्म मात्र प्रकार यानी विशेषणरूप से जिस अध्यवसायविशेष में भासित होता है वह अध्यवसायविशेष प्रमाणप्रतिपन्न प्रतियोगिप्रतियोगिमद्भावापन्ननानाधर्मएकतरमात्र प्रकारक हैं, उसी को नय कहते हैं। प्रतियोगिप्रतियोगिमद्भावापन्न शब्द से प्रतियोगि–अनुयोगिभावापन्न ऐसा अर्थ भी लिया जा सकता है। यहाँ प्रमाण पद से प्रत्यक्ष प्रमाण और परोक्षप्रमाण दोनों का ग्रहण है। क्योंकि दोनों से ही अनन्त धर्मात्मक वस्तु का ज्ञान होता है। अनन्तधर्मात्मक वस्तु का किसी एक धर्म से जो ज्ञान करावे उसी का नाम नय है। जैसे यह नित्य वा अनित्य है। यहाँ घटपटादि अथवा जीव–अजीव आदि वस्तु में अनन्त धर्म हैं। इसलिए नित्यत्व और अनित्यत्व भी उस में अपेक्षा से है ही। यह नित्यत्व और अनित्यत्व प्रमाण से निश्चित है और नित्यत्व का विरोधी अनित्यत्व है वैसे अनित्यत्व का विरोधी नित्यत्व है। जब नित्यत्व विरोधी बनता है तब अनित्यत्व विरोध्य बन जाता है। जब अनित्यत्व विरोधी बनता है तब नित्यत्व विरोध्य बन जाता है। इसलिए ये दोनों धर्म प्रतियोगि–प्रतियोगिमद्भाव से आक्रान्त हैं अर्थात् विरोधि–विरोधिमद्भाव से युक्त हैं। इन दोनों धर्मों से किसी एक धर्म नित्यत्व या अनित्यत्व प्रकारक ज्ञान विशेष ही नय है क्योंकि सामान्यरूप से अर्थ के प्रकाश को करता है और स्वाभिमत युक्ति द्वारा नित्यत्वादि विशिष्ट अर्थ की आत्मा को प्राप्ति कराता है इसलिए प्रापकत्व भी नय में सुघटित ही है।

साधकत्वं तथाविधप्रतिपत्तिजनकत्वम्।

[साधकेत्यादि] यहाँ तथाविध पद से प्रापकत्व के लक्षण में कथित पदार्थों का ग्रहण होता है। सर्वनाम शब्द पूर्वोक्त वस्तु का परामर्शक होता है ऐसा नियम है। इस हेतु से तथाविध शब्द से प्रमाणप्रतिपन्न प्रतियोगि–प्रतियोगिमद्भावापन्न नानाधर्मएकतरमात्रप्रकारकत्व का लाभ होता है। प्रमाणप्रतिपन्न प्रतियोगिप्रतियोगिमद्भावापन्न नानाधर्मएकतरमात्रप्रकारकप्रतिपत्तिजनकत्व ही साधकत्व पदार्थ सिद्ध होता है, यह भी नय का एक लक्षण हुआ। तथाविध शब्द से सूचित अर्थ इस लक्षण में प्रतिपत्ति का विशेषण बनता है। प्रतिपत्ति शब्द से ज्ञानरूप अर्थ यहाँ विवक्षित है। तब प्रमाण से प्रतिपन्न और विरोध्यविरोधकभाव से युक्त जो विविधधर्म, उनमें से किसी एक धर्म प्रकार रूप से जिस में भासित होवे ऐसे ज्ञान का जनक अध्यवसाय विशेष को नय कहते हैं–ऐसा इस लक्षण का भावार्थ है। उदाहरण तो सभी लक्षण का एक ही होगा। जैसे–घट में नित्यत्व–अनित्यत्व एकत्व–अनेकत्वादि अनेक धर्म प्रमाण से सिद्ध हैं और नित्यत्व–अनित्यत्व परस्पर प्रतियोगिप्रतियोगिमद्भावापन्न ही है अर्थात्–परस्पर विरोधितया ज्ञात हैं।

निर्वर्तकत्वमनिवर्त्तमाननिश्चितस्वाभिप्रायकत्वम् ।
निर्भासकत्वं शृङ्गग्राहिकया वस्त्वंशज्ञापकत्वम् ।
उपलम्भकत्वं प्रतिविशिष्टक्षयोपशमापेक्षसूक्ष्मार्थावगाहित्वम् ।

इनमें से किसी एक धर्म अनित्यत्व अथवा नित्यत्व जिसमें प्रकार है ऐसा ज्ञान 'अनित्यो घटः' अथवा 'नित्यो घटः' ऐसा ज्ञान, उसका जनक अध्यवसायविशेष नय कहलाता है ।

निर्वर्तकत्वमित्यादि-अपने जिस अभिप्राय से अध्यवसायविशेष उत्पन्न होते हैं उस निश्चित अभिप्राय की निवृत्ति जहाँ न हो ऐसे अध्यवसाय का नय पद से व्यवहार किया जाता है । यहाँ नय शब्द की 'नयन्ते इति नयाः' इस व्युत्पत्ति में नयन्ते पद से जो वर्त्तमान अर्थ प्रतीत होता है उस को इस लक्षण में प्रविष्ट अनिवर्त्तमान पद से सूचित किया गया है । तथा निर्वर्तयन्ति इति निर्वर्तकाः इस व्युत्पत्ति में निर्वर्तयन्ति इस पद में ति पद से जो वर्त्तमान अर्थ प्रतीत होता है उसका सूचक अनिवर्तमान पद है । अनिवर्तमानः निश्चितः स्वः अभिप्रायो यत्र-यह लक्षणवाक्य का विग्रह है । यहाँ स्वपद स्वकीय अर्थ का बोधक है । अभिप्राय और अध्यवसायविशेष में जन्यजनकभाव सम्बन्ध है । अध्यवसाय का जनक अभिप्राय है इसलिए अध्यवसाय का स्वकीय अभिप्राय बनता है । इस हेतु से जनकतासम्बन्ध से अभिप्राय अध्यवसाय का स्वकीय बनता है अर्थात् स्वजनक बनता है-यह अर्थ स्वपद से सूचित होता है ।

निर्भासका-निर्भासयन्ति विशेषेण दीपयन्ति वस्त्वंशं ये ते निर्भासकाः-जो वस्तु के अंश विशेष को शृङ्गग्राहिका न्याय से अर्थात् विशेष रूप से बतावे वह निर्भासक कहलाता है । नय शब्दगत नी धातु का दीप्ति अर्थ मानकर यह लक्षण बनाया गया है । शृङ्गग्राहिका न्याय यह है कि अनेक गोपाल अपनी अपनी गायों को एक मैदान में चरने के लिए छोड देते हैं । सादृश्य होने के कारण किस गोपालकी कौन कौन धेनु हैं इसका निश्चय साधारणतया सभी को नहीं होता है, जिसकी जो गौ होती है वह गोपाल अपनी अपनी गायों के विशेष को जानते होते हैं । इसलिए मैदान से अपने अपने गोष्ठ जाने के समय अपनी अपनी गायों का शृङ्ग पकड कर उस दिशा में ले जाते हैं जिस दिशा में उनका गोष्ठ होता है । शृङ्गं गृह्यते यस्यां क्रियायां सा शृङ्गग्राहिका इस व्युत्पत्ति के अनुसार जिस क्रिया में शृङ्ग का ग्रहण करना आवश्यक होता है उस क्रिया को शृङ्गग्राहिका या शृङ्गग्राहिकान्याय कहते हैं । इस न्याय से अनेक अंशवाली वस्तु के किसी अंशविशेष का ज्ञान जिस से हो उसको निर्भासक कहते हैं-यह भी नय का ही एक लक्षण है ।

'उपलम्भकत्व' इत्यादि-नय शब्दगत नी धातु का उपलब्धि अर्थ मानकर यह लक्षण किया गया है । 'उपलम्भयन्ति ये ते उपलम्भकाः' ऐसा इसका विग्रहवाक्य है । जो उपलम्भ करावे वह उपलम्भक कहलाता है। इस लक्षण में क्षयोपशम का विशेषण 'विशिष्ट' पद और 'प्रति' पद दिया गया है । विशिष्ट पद से क्षयोपशम में अन्य क्षयोपशम की अपेक्षा से कुछ विशेष का सूचन होता है । प्रति शब्द सन्निकर्ष का बाधक है जो अति-

व्यञ्जकत्वं च प्राधान्येन स्वविषयव्यवस्थापकत्वम् ।
एवं च पदार्थं प्रतिपादयन्नपि भाष्यकारस्तत्त्वतो लक्षणान्येव सूत्रितवान् ।

शयित संलग्नता का सूचक-बोधक है । मन का एकाग्रीभाव जब होता है तब क्षयोपशम में संलग्नता आती है । ऐसे क्षयोपशम को प्रतिविशिष्ट क्षयोपशम कहा जाता है । ऐसे क्षयोपशम से सूक्ष्म अर्थका ज्ञान होता है । इसलिए इस वाक्य से यह अर्थ निकलता है कि मनको एकाग्र करने पर इतर क्षयोपशम से विलक्षण क्षयोपशम की अपेक्षा से अत्यन्त सूक्ष्मअर्थविषयक ज्ञान जिस से हो उसे उपलम्भक कहते हैं । यह भी नय का एक लक्षण ही है ।

व्यञ्जकत्वमित्यादि-तत्त्वार्थ सूत्र भाष्य में नय पदार्थ का प्रतिपादन व्यञ्जक पद से भी किया गया है । नय पद में प्रविष्ट नी धातु का अर्थ व्यञ्जन भी हो सकता है, इस आधार पर नय पद और व्यञ्जक पद की समानार्थता सिद्ध होती है । नय में व्यञ्जकत्व क्या है ? इसी को उपाध्यायजी अपनी भाषा में कहते हैं कि प्राधान्येन स्वविषयव्यवस्थापकत्व ही नय में व्यञ्जकत्व है । व्यञ्जयन्ति स्पष्टयन्ति स्वाभिप्रायेन वस्तु ये ते व्यञ्जकाः-ऐसा इस का विग्रह वाक्य है, जो अपने अभिप्राय से वस्तु को स्फुट कर दे, अर्थात् आत्मस्वभाव में स्थापित कर दे, वह व्यञ्जक कहा जाता है । यही अर्थ उपाध्यायजी के शब्दों से भी निकलता है । वस्तु अनन्त धर्मात्मक है, उन अनन्त धर्मों में से प्रधानरूपेण किसी धर्म की व्यवस्था जिस से हो वह व्यञ्जक कहा जाता है । परन्तु वह धर्म स्वाभिप्राय का विषय होना चाहिए और उस स्वाभिप्राय-विषयरूप धर्म में, इतर धर्म की अपेक्षा से प्रधानता होनी चाहिए । नय का ऐसा स्वभाव है कि अभिप्रत धर्म का प्रतिपादन प्रधानरूप से करता है और अनभिप्रेत धर्मों का निषेध नहीं करता है इसलिए अनभिप्रेत अंश का भी गौणरूप से व्यवस्थापन करता है । इसी अभिप्राय से उपाध्यायजी ने प्राधान्येन यह पद लक्षण की कुक्षि में प्रविष्ट किया है । यह भी नय का एक लक्षण ही है ।

एवं चेत्यादि-शंकाः—तत्त्वार्थसूत्र भाष्यकार ने तो नय पद के अर्थ का प्रतिपादन नयाः, प्रापकाः, साधकाः, निर्वर्तकाः, निर्भासकाः, उपलम्भकाः, व्यञ्जकाः इति अनर्थान्तरं इस सन्दर्भ से किया है । प्रापकत्व, साधकत्व, निर्वर्तकत्व इत्यादि नय के लक्षण हैं ऐसा तो नहीं कहा है और आपने प्रापकत्व, साधकत्व आदि को नय के लक्षणरूप से प्रतिपादन किया है यह तो भाष्य से विरुद्ध प्रतीत होता है । उत्तर :—एवञ्च शब्द का अर्थ यह है कि प्रापकत्व, साधकत्व वगैरह नय के लक्षण भी बन सकते हैं, तब नय पदार्थ का प्रतिपादन करते हुए भाष्यकार ने वास्तविकरूप से नय के लक्षणों का ही सूत्ररूप से प्रतिपादन किया है। इस हेतु से प्रापकत्व, साधकत्व आदि को नय के लक्षण मानने में भाष्य के साथ कोई विरोध नहीं आता है । क्योंकि लक्षण के प्रतिपादन में ही भाष्यकार का तात्पर्य है । लक्षणान्येव सूत्रितवान् इस वाक्य खण्ड में जो एव पद उपाध्यायजी ने लगाया है, इस से यह तात्पर्य अभिव्यक्त होता है कि भाष्यकार का आशय लक्षण के प्रतिपादन में ही है । अतः पदार्थ प्रतिपादन के व्याज से भाष्यकार ने भी लक्षणों का ही प्रतिपादन किया है । भाष्यकार के लक्षण सूत्ररूप से हैं इसलिए

यद्येवं नयानामध्यवसायरूपता, कथं तर्हि "उवएसो सो णओ णाम त्ति"? (आव. नि. १०५४) सत्यं, नयजन्योपदेशे नयपदोपचारात् ।

सभा को समझने में क्लेश का अनुभव हो सकता है-वह न हो इस आशय से उपाध्यायजी ने लक्षणों को विशिष्ट स्वरूप प्रदान किया है ।

[नय अध्यवसायरूप है या उपदेशात्मक ?]

यद्येवमित्यादि—यहाँ ऐसी आशंका की जाय कि आप ने प्रकृतवस्त्वंशग्राही और तदितर अंश का निषेधक न हो ऐसे अध्यवसायविशेष को नय माना है । इससे यह सिद्ध होता है कि सभी नय अध्यवसायरूप अर्थात् ज्ञानरूप हैं । आवश्यक निर्युक्तिकार ने उपदेश को नय कहा है, उपदेश वाक्यरूप है, उस से आप के लक्षण में विरोध आता है क्योंकि आवश्यकनिर्युक्तिकार वाक्यात्मक उपदेश को नय मानते हैं और आप अध्यवसाय को नय मानते हैं । अतः आप का मन्तव्य आवश्यक निर्युक्तिकार के मन्तव्य से बाधित हैं, इसलिए अमान्य है ।

उत्तर—यहाँ सत्य पद अर्ध स्वीकार अर्थ में प्रयुक्त है । उस का तात्पर्य यह है कि आपने जो विरोध बताया उस को कुछ अंश में मैं भी स्वीकार करता हूं । वास्तविक रीति से विरोध नहीं है, क्योंकि आवश्यक निर्युक्ति में जहाँ उपदेश को नय बताया गया है, वहाँ नय पद का मुख्य प्रयोग नहीं है, किन्तु गौण प्रयोग है । नय पद का मुख्य प्रयोग तो अध्यवसायविशेष में ही होता है । नय जन्य उपदेश में नय पद का प्रयोग उपचार से किया गया है । 'अन्य वस्तु में प्रसिद्ध धर्म का अन्य वस्तु में जो आरोप' उस को उपचार कहते हैं । अभिप्रायविशेष में प्रसिद्ध नयत्व धर्म का नयजन्य उपदेश में आरोप कर के उपदेश का नय पद से व्यवहार आवश्यक निर्युक्तिकार ने किया है, इसलिए विरोध नहीं आता है । ऐसा आरोप करने में भी जिस धर्मी के धर्म का जिस अन्य धर्मी में आरोप किया जाता है, उन दोनों धर्मियों का कुछ न कुछ सम्बन्ध रहता है, तभी आरोप होता है । यहाँ भी अभिप्रायविशेषरूप नय का धर्म जो नयत्व उस का आरोप उपदेश में किया गया है, इसलिए नयरूप धर्मी और उपदेशरूप धर्मी इन दोनों धर्मियों में कुछ सम्बन्ध होना आवश्यक है । वह सम्बन्ध जन्यजनकभाव सम्बन्ध है । यहाँ नयरूप धर्मी जनक है और उपदेशरूप धर्मी जन्य है । इस कारण से उपदेशरूप धर्मी में नय के धर्म नयत्व का आरोप है क्योंकि दोनों धर्मी जन्यजनकभाव सम्बन्ध से सम्बन्धित है ।

इस तरह के उपचार का शास्त्रकारों ने असद्भूतव्यवहार शब्द से भी परिचय कराया है । जो जिस रूप से सत् नहीं है, किन्तु असत् है, तथापि उस रूप से उस का व्यवहार करना ही असद्भूतव्यवहार कहा जाता है, जैसे–रजत का रूप जो रजतत्व है उस रूप से शुक्ति असत् है, उस शुक्ति का रजतत्व धर्म से 'यह रजत है' ऐसा व्यवहार असद्भूतव्यवहार है । प्रकृत में भी नयजन्य उपदेश नयत्व रूप से असत् है उस में नयत्वरूप से व्यवहार करना ही असद्भूत व्यवहार है । यही उपचार कहा जाता है ।

'तथाप्येते तन्त्रान्तरीयाः स्वतन्त्रा वा चोदकपक्षग्राहिणो मतिभेदेन विप्रधाविताः ? उभयथापि मिथ्यात्वमि'ति चेत् ? न, प्रमाणापेक्षत्वेनैतेषामुभयवैलक्षण्यात्, स्वविषयग्राधान्यरूपस्वतन्त्रतायाश्च मिथ्यात्वाऽप्रयोजकत्वात् । गौणत्वमुख्यत्वयोर्ह्रस्वत्व–दीर्घत्वयोरिवापेक्षिकवस्तुधर्मत्वात् । प्रपञ्चितं चेदमन्यत्रेति नेह प्रतन्यते ।

[दो विकल्प से नय में मिथ्यात्व की शंका]

तथाप्ये० इत्यादि–इस ढंग से नय पदार्थ का निरूपण करने पर यह प्रश्न ऊठता है कि नैगम आदि नय तन्त्रान्तरीय हैं अर्थात्–वैशेषिकादि के वाद रूप ये नय हैं, जो स्वशास्त्र प्रतिपादित अर्थों को निश्चित करने में संलग्न हैं ? अथवा ये नैगमादि नय स्वतन्त्र हैं अर्थात्–जिनप्रवचन का अपनी बुद्धि के अनुसार विभाग करने में संलग्न हैं ? स्वतन्त्र शब्द के भावार्थ का विवरण करने के लिए, चोदकपक्षग्राहिणो मतिभेदेन विप्रधाविताः इन तीनों पद का प्रयोग किया गया है । अपने पक्ष में भी द्विरुक्ति अनुक्ति आदि का चिन्तक जो होवे उस को चोदक कहते हैं । उस का पक्ष अर्थात्–विषय, उस को ग्रहण करने का, अर्थात् विचार करने का स्वभाव जिन का होवे वे चोदकपक्षग्राही कहलाते हैं । वे लोग मतिभेद से अर्थात् अपनी अपनी बुद्धि के अनुसार विरुद्ध पथ में विप्रधावन अर्थात् प्रगति करते हैं इसलिए वे यथार्थ निरूपण नहीं कर सकते, किन्तु, अयथार्थ निरूपण ही उन से होता है । इस का समुदित अर्थ यह है कि, ये नैगमादि नय जिनप्रवचन को प्रधान मानते हुए भी अपनी अपनी बुद्धि के अनुसार यह बतलाते हैं कि जिनप्रवचन में अमुक अंश का कथन न हो सका तथा अमुक अंश का कथन होते हुए भी युक्त नहीं है, ऐसे वादि को स्वपक्ष में "स्वतन्त्र" पद से परिगृहीत किया है । पूर्वपक्षी कहता है कि दोनों पक्षों में कोई भी पक्ष युक्त नहीं है क्योंकि दोनों पक्षों में मिथ्यात्व का प्रसंग आता है । वैशेषिक आदि तन्त्रवाले जिनप्रवचन से विपरीत मान्यता रखते हैं, एकान्तवादी है, इसलिए मिथ्यात्व में आते ही हैं । अतः "नय" यदि तन्त्रान्तरीय हैं, तो मिथ्यात्व इन में है ही । यदि स्वतन्त्र हैं, तो भी मिथ्यात्व का प्रसंग होता है, क्योंकि अपनी बुद्धि से अनुक्तत्व, दुरुक्तत्व आदि की चिन्ता में लगे रहने के कारण अयथार्थ निरूपण ही इन से होता है । इसलिए इन "नैगमादि नयों" को अन्यतन्त्रीय मानने में दोष होने से युक्त नहीं है । स्वतन्त्रीय मानना भी युक्त नहीं क्योंकि उस में भी दोष प्रतीत होता है । यह शंकाकार का आशय है ।

[नय में मिथ्यात्व शंका का निराकरण]

उपाध्यायजी समाधान इस ढंग से देते हैं कि ये नैगमादिनय न तो अन्यतन्त्रीय हैं और न स्वतन्त्रीय हैं, किन्तु दोनों से विलक्षण हैं । इस का कारण यह है कि नय में प्रमाण की अपेक्षा है और उन दोनों पक्षों में प्रमाण की अपेक्षा नहीं, उपेक्षा है । अर्थात्–विविध धर्मात्मक वस्तु का विविधाकार ज्ञान से निरूपण इन नयों के द्वारा प्रमाण की अपेक्षा से होता है, इसलिए स्वतन्त्र अर्थात् जिनप्रवचनसिद्ध वस्तु का हा निरूपण इन नयों से होता है । इसलिए अध्यवसायविशेषरूप ही ये नय हैं । अतः मिथ्यात्व दोष का प्रसंग इन अध्यवसायविशेषरूप नयों में नहीं आता है ।

अत एव नैकस्मिन्नर्थे नानाध्यवसायरूपाणामेतेषां विप्रतिपत्तित्वमप्याशङ्कनीयम्, सत्त्व–जीवाजीवात्मकत्व–द्रव्यगुणपर्यायात्मकत्व–चतुर्दर्शनविषयत्व–पञ्चास्तिकायावरुद्धत्व–षड्द्रव्यक्रोडीकृतत्वधर्मैरेकत्व-द्वित्व–त्रित्व–चतुष्ट्व–पञ्चत्व–षड्त्वाध्यवसायानामिव १, पर्यायविशुद्धिवशात् पृथगर्थग्राहिणां मतिज्ञानादीनामिव २, एकत्रार्थे प्रतिनियतविषयविभागशालिनां प्रत्यक्षादीनामिव ३ वा नैगमाद्यध्यवसायानामविरुद्धनानाधर्मग्राहित्वेऽप्यविप्रतिपत्तिरूपत्वादिति सम्प्रदायः ।

यहाँ यह आशंका होती है कि ये नय यदि स्वतन्त्र ही हैं तो, मिथ्या क्यों न माने जाय, क्योंकि स्वतन्त्रता ही मिथ्यात्व का प्रयोजक है, वह स्वतन्त्रता तो नयों में भी रहती है । इस का समाधान उपाध्यायजी देते हैं, स्वविषयप्राधान्यरूप स्वतन्त्रता मिथ्यात्व प्रयोजक नहीं मानी जाती है । जैसे–गौणत्व, मुख्यत्व आपेक्षिक वस्तु धर्म हैं, एक ही वस्तु में किसी की अपेक्षा से गौणत्व और किसी की अपेक्षा से मुख्यत्व रहता है और दोनों का विरोध भी नहीं होता है क्योंकि दोनों धर्म अपेक्षाकृत होते हैं । अत एव वे परस्पर बाध्यबाधक नहीं बनते हैं, इसलिए मिथ्या भी नहीं बनते हैं । अथवा एक ही वस्तु में ह्रस्वत्व और दीर्घत्व ये दोनों धर्म रहते हैं, वे अपेक्षा से ही रहते हैं, इसलिए एकदूसरे का बाधक नहीं होते हैं और एकदूसरे से बाध्य भी नहीं होते हैं, अत एव मिथ्या भी नहीं बनते हैं । इसी रीति से स्वविषयप्राधान्यरूप स्वतन्त्रता भी आपेक्षिक वस्तु धर्म है, क्योंकि प्राधान्य किसी की अपेक्षा से किसी में होता है । इन नैगमादि अध्यवसायों में स्वाभिप्रेत धर्म की प्रधानता रहती है । वह प्रधानता स्वाऽभिप्रेत धर्म की अपेक्षा से रहती है, अनभिप्रेत धर्म गौणरूप से इन नयों में भी भासते ही हैं । दुर्नयों की तरह अनभिप्रेत धर्मों का सर्वथा प्रतिषेध यहाँ नहीं होता है । इस कारण से स्वविषयप्राधान्यरूप स्वतन्त्रता मिथ्यात्व प्रयोजक नहीं बनती है । अत एव नयों में मिथ्यात्वप्रसंग का अवसर नहीं है । उपाध्यायजी कहते हैं कि इस वस्तु का विवेचन अन्य ग्रन्थों में मैंने किया है, इस कारण से यहाँ विस्तृत विवेचन नहीं करता हूँ ।

[नय में विप्रतिपत्तिभाव की आपत्ति की शंका]

अत एव इत्यादि–यहाँ शंका होती है कि–नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र और शब्द ये पाँच नय हैं । इन पाँचों नयों की योजना घट-पट वगैरह प्रत्येक वस्तु में की जाती है क्योंकि नयों की योजना के बिना जीवाजीवादि तत्त्वों का विस्तृत अधिगम नहीं हो सकता है । प्रमाणनयैरधिगमः यह तत्त्वार्थाधिगमसूत्र (१-६), इस बात को पुष्ट करता है । प्रमाण और नयों के द्वारा तत्त्वों का स्पष्ट परिच्छेद होता है, इस बात को सूत्रकार ने बताया है । इसलिए प्रत्येक वस्तु में प्रमाणों की और नयों की योजना आवश्यक है । तभी पदार्थों का स्फुट ज्ञान हो सकता है । ये पाँचों नय भिन्न भिन्न अध्यवसायरूप हैं । एक वस्तु में अनेक विविध अध्यवसायों का होना जब निश्चित हुआ, तब वे अध्यवसाय अवश्य विरुद्धप्रतीतिरूप होंगे, इसलिए इन नयों में विप्रति-

पत्तित्व यानी संदिग्धता का प्रसंग आता है, जो इष्ट नहीं है। क्योंकि जिस पदार्थ की विरुद्ध प्रतीतियाँ होती हैं, उस पदार्थ का निश्चय नहीं हो सकता है और अनिश्चयात्मक ज्ञान को तत्त्वज्ञान नहीं कह सकते हैं। तत्त्वज्ञान तो निश्चयात्मक ही होता है, यह प्रसिद्ध है।

[विप्रतिपत्तित्व की शंका का निराकरण—१]

इस शंका का एक समाधान उपाध्यायजी 'अत एव' पद से देते हैं। 'अत एव' का अर्थ यह है कि जिस कारण से विभिन्नाध्यवसायरूप नयों में मिथ्यात्व का प्रसंग नहीं दिया जा सकता है, उसी कारण से विप्रतिपत्तित्व का प्रसंग भी नहीं दिया जा सकता। नय विभिन्नाध्यवसायरूप अवश्य है, तथापि सभी नय अपने अपने विषयों का प्रधानरूप से प्रतिपादन करते हैं। अन्य धर्म भी घटपटादि वस्तु में प्रमाणसिद्ध हैं। उनका नयों से निषेध नहीं होता है, किन्तु गौणतया प्रतिपादन ही होता है। इस ढंग से यदि अन्य धर्मों का प्रतिपादन होता हो तो मिथ्यात्व या विप्रतिपत्तित्व नयों में नहीं आता है। ये नय विप्रतिपत्तिरूप तब होते, यदि विरोध होता। जैसे—आत्मा में ज्ञानरूप धर्म विद्यमान है। यहाँ यदि अज्ञानता का प्रतिपादन हो कि आत्मा ज्ञानरूप धर्म से शून्य (रहित) है, तो ज्ञान और अज्ञान का विरोध होने से आत्मा ज्ञानी है और आत्मा अज्ञानी है, इन दोनों वाक्यों से होनेवाले उभय ज्ञान विप्रतिपत्तिरूप होते हैं, क्योंकि आत्मा में ज्ञानधर्म तो सत् है और दूसरे वाक्य से अज्ञानरूप धर्म का उपादान किया गया है, जो आत्मा में असत् है। यह स्थिति नयों में नहीं है। तब यदि गौणतया अन्य धर्मों का प्रतिपादन करे भी तो विरोध नहीं होगा, क्योंकि प्रमाण से वे धर्म भी उस वस्तु में सिद्ध हैं। यदि इन नयों में से कोई नय घटादिवस्तु में प्रमाणसिद्ध धर्म का प्रतिपादन करता और दूसरा नय प्रमाण से असिद्ध धर्म का प्रतिपादन उसी वस्तु में करता तो अध्यवसायरूप इन नयों में विरोध हो सकता था, ऐसा तो है नहीं। निष्कर्ष—'नय विप्रतिपत्तिरूप हैं' इस आशंका को अवसर नहीं है।

[विप्रतिपत्तित्व की शंका का निराकरण—२]

दूसरा समाधान यह देते हैं कि अध्यवसायरूप नैगमादिनय विरुद्ध विभिन्न धर्म के ग्राही होने पर भी विप्रतिपत्तिरूप नहीं हैं। इस समाधान के लिए तीन दृष्टान्त बताये हैं। उस में पहला दृष्टान्त यह है कि अनेकावयवात्मक इस समग्र जगत् में सत्त्व व्याप्त है। इसलिए 'सारा जगत् एक है'—इस तरह का एकत्वाध्यवसाय समस्त जगत में होता है। वैसे ही सतरूप से एकात्मक यह जगत् जीवाजीवात्मक होने से उभयात्मक है—इस तरह का द्वित्वाध्यवसाय भी जगत् में होता है। ऐसे ही एक होते हुए भी यह जगत् त्रितयात्मक है, ऐसा त्रित्वाध्यवसाय भी होता है, क्योंकि यह समुचा जगत् द्रव्य-गुण-पर्यायात्मक है। गुण और पर्यायों में जिस का अन्वय हो वह द्रव्य कहा जाता है। गुण तो रूप रसादि प्रसिद्ध ही है, कपालादि मिट्टी का पर्याय है। इसलिए यह जगत् द्रव्य-गुण-पर्यायात्मक है, त्रितयात्मक होने से उस एक में भी त्रित्वाध्यवसाय होता है। इसी तरह 'यह जगत् चतुष्टयात्मक है' ऐसा चतुष्टवका अध्यवसाय एक ही जगत् में होता है। क्योंकि यह जगत् *चक्षुदर्शनादि चारों दर्शनों का विषय हैं।

* चक्षुर्दर्शन, अचक्षुर्दर्शन, अवधिदर्शन और केवलदर्शन।

तथा यह जगत् पंचात्मक हैं-इस तरह का पञ्चत्वाध्यवसाय जगत् में होता है। क्योंकि यह जगत् धर्म, अधर्म, आकाश, जीव, पुद्गल ये पांच अस्तिकायों का समूह है, अर्थात् एकादिरूप यह जगत् पंच अस्तिकायात्मक है। तथा यह जगत् जो पंच अस्तिकायात्मक है 'वह षड्विध भी हैं' ऐसा षट्त्वाध्यवसाय भी जगत् में होता है। कारण, धर्मादि पाँच और एक काल, इस तरह से षड् द्रव्यात्मक यह जगत् है। जैसे-ये छह प्रकार के अध्यवसाय विप्रतिपत्तिरूप नहीं होते हैं, कारण, एकत्व-द्वित्वादि धर्म जगत् में परस्पर विरुद्ध नहीं है, किन्तु आपेक्षिक वस्तु-धर्म हैं, और एकत्वाध्यवसाय से प्रधानतया एकत्व का प्रतिपादन तो होता है, परन्तु आपेक्षिकद्वित्वादि धर्मों का निषेध नहीं होता है, किन्तु अपेक्षा से विद्यमान द्वित्वादि धर्मों का भी गौणरूप से प्रतिपादन ही होता है-इसी तरह द्वित्व, त्रित्वादि अध्यवसायों से भी द्वित्व, त्रित्वादि धर्मों का मुख्यतया प्रतिपादन होने पर भी उन से इतर धर्मों का निषेध नहीं होता है, किन्तु गौणतया प्रतिपादन ही होता है; इस कारण से एकत्व द्वित्वादि अध्यवसाय विप्रतिपत्तिरूप नहीं होते हैं। उसी तरह नैगमादिनय विविधाध्यवसायरूप होते हुए भी विप्रतिपत्तिरूप नहीं हैं, ऐसा तात्पर्य प्रथम दृष्टान्त का निकलता है।

[विप्रतिपत्तित्व की शंका का निराकरण—२]

उपाध्यायजी मतिज्ञानादीनामिव दूसरा दृष्टान्त देकर नयों में विप्रतिपत्तित्व प्रसंग का वारण करते हैं। मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्यायज्ञान और केवलज्ञान ये पाँच प्रकार ज्ञान के माने गये हैं। ये पाँचों ज्ञान धर्म-अधर्म-आकाश-पुद्गल और जीव, इनमें से किसी एक अर्थ को अन्य अन्य रूप से बताते हैं। कारण मत्यादिरूप ज्ञानपर्यायों में जब आवरण के हट जाने से स्वच्छतारूप जो विशुद्धि की प्राप्ति होती है, वह विशुद्धि मत्यादि ज्ञानों में भिन्न भिन्न रूप की होती है, तब वे मत्यादिज्ञान धर्मादि अस्तिकायों को भिन्न भिन्न रूप से बताते हैं। जैसे-मतिज्ञानी पुरुष मनुष्यपर्याय को चक्षुरादि इन्द्रिय द्वारा साक्षात् बताता है। उसी मनुष्य पर्याय को श्रुतज्ञानी आगम द्वारा बताता है। उसा को अवधिज्ञानी अतीन्द्रियज्ञान से बताता है। उसी को मनःपर्यायज्ञानी मनोद्रव्य के अवलंबन से बताता है। केवलज्ञानी तो अत्यन्त विशुद्ध होने से केवलज्ञान द्वारा मनुष्य के पूरे स्वरूप की स्पष्ट उपलब्धि कराता है। तो भा मत्यादिज्ञान विप्रतिपत्तिरूप नहीं होता है, कारण अपने अपने सामर्थ्य के अनुसार तर-तमभाव से मनुष्यादि के पर्यायों का बोधन करते हैं। वैसे हा नैगमादि नय अपने अपने सामर्थ्य के अनुसार एक ही वस्तु को विभिन्नरूप से बोध कराते हैं, तो भी वे विप्रतिपत्तिरूप नहीं होते हैं। ऐसा भी कह सकते हैं कि मनुष्यादि पर्यायों की मत्यादिज्ञानों से विशुद्धिवशात् पृथक् पृथक् उपलब्धि होती है, क्योंकि मतिज्ञानी पुरुष मनुष्यादि जीवों के अमुक पर्यायों का ही ज्ञान करता है। उस से अधिक पर्यायों का ज्ञान श्रुतज्ञानी को होता है। श्रुतज्ञानी की अपेक्षा से भी अधिक पर्यायों का ज्ञान अवधिज्ञानी को होता है। अवधिज्ञानी की अपेक्षा से भी अधिक मनुष्यादि पर्यायों का ज्ञान मनःपर्यायज्ञानी को होता है। केवलज्ञानी को तो सकल पर्यायों का ज्ञान होता है, एक भी पर्याय मनुष्यादि का वैसा नहीं रहता है कि जिस का ज्ञान केवलज्ञानी को न हो। इस रीति

अत्र च त्रिभिर्निदर्शनैर्विरुद्धधर्मग्राहित्वांशग्राहित्वप्रमितिवैलक्षण्यानां विप्रतिपत्तित्वसाधकहेतूनामसिद्धिव्यभिचारप्रदर्शनादिष्टसिद्धिरिति विभावनीयम् ॥

से रत्यादिज्ञान स्वगत विशुद्धि की अपेक्षा से क्रमभावि मनुष्यादिपर्यायों का तारतम्य से बोध कराते हैं, तो भी विप्रतिपत्तिरूप नहीं होते हैं। वैसे ही नैगमादि नय विभिन्न अर्थों का ज्ञान कराते हैं, तथापि प्रतिपत्तिरूप नहीं है।

[विप्रतिपत्तित्व की शंका का निराकरण—४]

उपाध्यायजी नयों में विप्रतिपत्तित्वप्रसंग का निवारण करने के लिए तीसरा भी दृष्टान्त देते हैं। प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और आप्तवाक्य इन प्रमाणों का अपना अपना विषय नियत है। इसलिए प्रत्यक्षादिप्रमाण चतुष्टय एक ही वस्तु में प्रवृत्त होने पर भी अपने अपने नियत विषयों का ही ज्ञान कराते हैं। जैसे-पर्वत में रहे हुए अग्नि का ज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाण से वह व्यक्ति करेगा जो अग्नि के समीप देश में रहता हो और अग्नि के साथ जिस को इन्द्रिय सन्निकर्ष हो। उसी अग्नि का ज्ञान दूरदेशवर्त्ति व्यक्ति को धूमादि लिङ्गज्ञान से होता है। उसी अग्नि का ज्ञान उपमान से भी किसी को होता है, जब कोई अग्नि के स्वरूप को न जानता हुआ पूछे कि अग्नि कैसा होता है, तब अग्नि के स्वरूप को जानता हुआ व्यक्ति यदि जवाब देता है कि जैसा सुवर्ण का पुंज भास्वर होता है, वैसा अग्नि होता है। इस वाक्य के अर्थ का अनुसंधान रखता हुआ वह प्रश्न करनेवाला जब कभी अग्नि के साथ इन्द्रिय सन्निकर्ष होने पर यह समझ जाता है कि सुवर्ण पुंज के समान यह भी प्रकाशित हो रहा है, इसलिए यह अग्नि है, -इसी को उपमान से हुआ ज्ञान कहा जाता है। कोई व्यक्ति तो किसी आप्त व्यक्ति के उपदेश से ऐसा निश्चय करता है कि इस पर्वत में अग्नि है। यहाँ एक ही अग्निरूप अर्थ अनेक प्रमाणों से निश्चित होता है और सभी का विषय भिन्न है। प्रत्यक्ष, सन्निकृष्ट अग्नि को विषय करता है। अनुमान का विषय विप्रकृष्ट अग्नि है। उपमान का विषय सुवर्ण पुंज सदृश अग्नि है। आप्त वाक्य का विषय पर्वतादिगत परोक्ष अग्नि है। तथापि प्रत्यक्षादिरूप ज्ञान जो प्रत्यक्षादि प्रमाणों से होते हैं, वे विरुद्ध नहीं होते हैं। अर्थात् अयथार्थ ज्ञान नहीं होते। उसी तरह से नैगमादिनय भी अपने अपने नियत विषयों का प्रकाश करते हैं, तथापि विप्रतिपत्तिरूप नहीं है, अर्थात् अयथार्थ नहीं हैं। उपाध्यायजी की पंक्ति का अर्थ ऐसा है-एकत्रार्थे=अग्निआदिरूप एक अर्थ में प्रतिनियत-विषयविभागशालिनाम्=जिन के विषयों का विभाग निश्चित है, ऐसे प्रत्यक्षादीनाम्= प्रत्यक्षादि प्रमाणों में जैसे विप्रतिपत्तित्व प्रसंग नहीं होता है, वैसे नैगमादि नयों को भी विप्रतिपत्ति मानना ठीक नहीं है। इन तीनों दृष्टान्तों से नैगमादि अध्यवसायों में विरुद्ध विविध धर्मबोधकता होने पर भी नैगमादि अध्यवसायों में एकत्वद्वित्वादि अध्यवसायों के जैसे और भिन्नार्थग्राहि मतिज्ञानादि के जैसे, तथा एक अर्थ में स्वस्व-विषयग्राहि प्रत्यक्षादि प्रमाणों के जैसे विप्रतिपत्तिरूपता नहीं होती है। ऐसा सम्प्रदाय है-ऐसी परम्परा है। अर्थात्-प्राचीन आचार्यों की ऐसी मान्यता है।

[विप्रतिपत्तित्व के साधक हेतुओं का निराकरण]

अत्र चेत्यादि-यहाँ नैगमादि अध्यवसायों में विप्रतिपत्तित्व सिद्ध करने के लिए तीन हेतुओं का प्रयोग करना पूर्वपक्षी को अपेक्षित है। जैसे-नैगमादयः अध्यवसायाः विप्रतिपत्तिरूपाः, विरुद्धधर्मग्राहित्वात्, अंशग्राहित्वात्, प्रमितिवैलक्षण्याच्च। इन तीनों हेतुओं में से जो प्रथम हेतु विरुद्धधर्मग्राहित्वरूप है, उस की असिद्धि का प्रदर्शन प्रथम दृष्टान्त से किया गया है। एकत्व-द्वित्व-त्रित्व-चतुष्ट्व-पञ्चत्व-षट्त्व अध्यवसायों में आपाततः विरुद्धधर्मग्राहित्व यद्यपि भासता है तो भी एकत्व-द्वित्वादि धर्म वास्तविकरूप से विरुद्ध नहीं हैं। कारण, वे एकत्व-द्वित्वादि धर्म आपेक्षिक धर्म हैं। आपेक्षिक धर्मों में वास्तविकरूप से विरोध नहीं होता। इसलिए एकत्व-द्वित्वादि अध्यवसायों में जैसे-विरुद्धधर्मग्राहित्व नहीं है, वैसे ही नैगमादि अध्यवसायों में भी विरुद्धधर्मग्राहित्व नहीं है। अतः नैगमादि अध्यवसायरूप पक्ष में विरुद्धधर्मग्राहित्वरूप हेतु के न रहने से यह हेतु स्वरूपासिद्धि दोष से ग्रस्त है, पक्ष में हेतु का न रहना ही स्वरूपाऽसिद्धि दोष का लक्षण है। इस कारण से विरुद्धधर्मग्राहित्वरूप हेतु द्वारा नैगमादि अध्यवसायों में विप्रतिपत्तित्वरूप साध्य की सिद्धि सम्भव नहीं है, क्योंकि दोषयुक्त हेतु अपने साध्य की सिद्धि करने में असमर्थ होते हैं, इसलिए यह अनुमान असत् अनुमान है। इस असत् अनुमान से नयों में विप्रतिपत्तित्व का साधन जो पूर्वपक्षी को अभीष्ट है, वह नहीं हो सकता है। इस तात्पर्य से प्रथम दृष्टान्त का प्रदर्शन उपाध्यायजी ने किया है।

ऐसे ही नयों में विप्रतिपत्तित्व सिद्ध करने के लिए जो अंशग्राहित्व हेतु पूर्वपक्षी ने लगाया है, वह हेतु भी व्यभिचार दोष से ग्रस्त है। क्योंकि मतिज्ञान, श्रुतज्ञान आदि से जो अंश गृहीत होते हैं, वे अंश भी परस्परविरुद्ध नहीं हैं, क्योंकि एक वस्तु में वे सभी अंश विद्यमान हैं-यह प्रमाण से सिद्ध होता है। तब विप्रतिपत्तित्वरूप साध्य जहाँ नहीं है, ऐसे मतिज्ञानादि ज्ञानों में अंशग्राहित्वरूप हेतु रहता है इसलिए यह हेतु व्यभिचार दोष से युक्त है। साध्य जहाँ नहीं रहता, वहाँ हेतु का रहना ही व्यभिचार दोष है। व्यभिचारी हेतु हेत्वाभास होने से साध्य की सिद्धि नहीं कर सकता है। अतः अंशग्राहित्वरूप असत् हेतु से नयरूप पक्ष में विप्रतिपत्तिरूपता की सिद्धि जो पूर्वपक्षी को अभीष्ट है, वह नहीं हो सकती है। इस आशय से उपाध्यायजी ने दूसरा दृष्टान्त दिया है।

पूर्वपक्षी ने नयों में विप्रतिपत्तित्व सिद्ध करने के लिए जो प्रमितिविलक्षणत्वरूप तीसरा हेतु ग्रहण किया है, वह भी ठीक नहीं है क्योंकि वहाँ भी असिद्धि दोष है। एक वस्तु में अपने अपने नियत विषयों को ग्रहण करानेवाले प्रत्यक्षादि प्रमाण ज्ञानों में प्रमितिविलक्षणत्वरूप हेतु जैसे नहीं रहता है, वैसे ही नैगमादि अध्यवसाय में भी प्रमितिविलक्षणत्वरूप हेतु नहीं है। इसलिए पक्ष में हेतु का अभाव होने से प्रमिति-विलक्षणत्वरूप हेतु स्वरूपाऽसिद्धि दोष से युक्त है, इस कारण से यह हेतु भी विप्रति-पत्तिरूपता की सिद्धि करने में असमर्थ है। अतः इस हेतु से पूर्वपक्षी का मनोरथ सिद्ध नहीं हो सकता। किन्तु हमें जो इष्ट है यथार्थत्व वही सिद्ध हो जाता है। इस

स्यादेतत् "एकत्वादिकं न वास्तवसंख्यारूपं, किंतु विभिन्नधर्मप्रकारकबुद्धि-विषयत्वरूपं, तच्च मिथो न विरुद्धं नयविषयीभूतं भेदाऽभेदादिकं तु विरुद्धमेवे"ति। मैवम्, सतामेवैकत्वादीनां बुद्धिविशेषेणाभिव्यक्तेः, अन्यथा तद्विषयत्वाऽयोगादेकत्र प्रमीयमाणत्वेन चाऽविरोधात्, तद्वदेव भेदादीनामविरोध इति विभावनीयम्।

अभिप्राय से उपाध्यायजी ने तृतीय दृष्टान्त का उपादान किया है। इन बातों का विचार पाठक को भी करना चाहिए, ऐसी सूचना 'विभावनीयं' पद से उपाध्यायजी ने दी है।

[एकत्वादि संख्यारूप न होने की आशंका]

स्यादेतदिति–यहाँ यह शंका होती है कि–नगमादि नयों में विप्रतिपत्तित्व साधक जो प्रथम हेतु विरुद्धधर्मग्राहित्वरूप लगाया गया था, उस को आभास बनाने के लिए आपने एकत्व–द्वित्वादि अध्यवसायों को दृष्टान्तरूप से ग्रहण किया था। परन्तु उस दृष्टान्त से विरुद्धधर्मग्राहित्वरूप हेतु आभास बनता नहीं है। चूँकि एकत्व–द्वित्वादि अध्यवसायों में जो एकत्व–द्वित्वादि धर्म भासते हैं, वे वस्तुतः संख्यारूप नहीं हैं, किन्तु विभिन्नधर्मप्रकारकबुद्धिविषयत्वरूप हैं। अतः वे परस्पर विरुद्ध नहीं हैं। 'यह सकल जगत् सत् होने से एक है' यह बुद्धि एकत्वप्रकारकबुद्धि है, तद्विषयत्वरूप ही एकत्व जगत् में भासता है। ऐसे ही यह सकल जगत् जीवात्मक और अजीवात्मक है, इस-लिए दो है। यह बुद्धि द्वित्वप्रकारक बुद्धि है। एतत्बुद्धिविषयतारूप ही द्वित्व जगत् में रहता है, जो द्वित्वाध्यवसाय में भासित होता है किन्तु वह द्वित्व द्वित्वसंख्यारूप नहीं है। ऐसे ही त्रित्वादि अध्यवसायों में जो त्रित्वादि धर्म भासित होते हैं, वे भी संख्यारूप नहीं हैं, किन्तु विभिन्नधर्मप्रकारकबुद्धिविषयत्वरूप ही हैं। अतः विरुद्ध-विभिन्न-धर्मग्राहित्वरूपहेतु एकत्वादि अध्यवसायों में है ही नहीं। इस कारण से एकत्वादि अध्यवसाय भले ही विप्रतिपत्तिरूप न होवे, नैगमादि नय तो एक वस्तु में भेदाऽभेद, नित्यत्व-अनित्यत्व इत्यादि जो विरुद्ध धर्म हैं, उन के ग्राही हैं, इसलिए विरुद्धविभिन्न-धर्मग्राहित्वहेतु से विभिन्नअध्यवसायरूप नयों में विप्रतिपत्तित्व सिद्ध होता ही है। तब प्रथम दृष्टान्त से आप का अभीष्ट जो नयों में अविप्रतिपत्तिरूपता है उसकी सिद्धि नहीं हो सकती है।

इस शंका का समाधान उपाध्यायजी देते हैं कि सकल जगत् में एकत्व द्वित्वादि संख्यारूप धर्म अवश्य विद्यमान हैं। जिन की बुद्धिविशेष से अर्थात् 'सकल जगत् एक है, सकल जगत् दो हैं' इत्यादि बुद्धियों से अभिव्यक्ति होती है, अर्थात् प्रगट रूप से जाने जाते हैं। यदि एकत्वादि संख्यारूप धर्म जगत् में विद्यमान नहीं होते तो 'यह जगत् एक हैं, यह जगत् दो हैं' इत्यादि बुद्धिविषयता एकत्वादि में नहीं होती। एक ही वस्तु में एकत्व–द्वित्वादि धर्म प्रमीयमाण हैं, अर्थात् प्रमात्मकबुद्धि के विषय बनते हैं। इसलिए एकत्व-द्वित्वादि धर्म में परस्पर विरोध नहीं है। इसी तरह भेद–अभेद, नित्यत्व–अनित्यत्व आदि धर्म भी एकवस्तु में प्रमीयमाण हैं। इसी हेतु से इन धर्मों में भी परस्पर विरोध नहीं हैं। तब विरुद्धधर्मग्राहित्वरूपहेतु एकत्वादि अध्यवसायरूप

एकैकपक्षोक्तदोषापत्तिस्तु जात्यन्तरत्वाभ्युपगमान्निरसनीया। दृष्टा हि वैकल्य-परिहारेण तत्प्रयुक्तायाः परस्परानुवेधेन जात्यन्तरमापन्नस्य गुडशुण्ठीद्रव्यस्य कफ-पित्तदोषकारिताया निवृत्तिः।

दृष्टान्त में जैसे नहीं है, वैसे ही विभिन्नअध्यवसायरूप नयात्मक पक्ष में भी नहीं है। इसलिए आभासरूप होने से विप्रतिपत्तित्व का साधक नहीं बन सकता है।

[भेदाभेद इत्यादि में उभयपक्षीय दोषों की आशंका]

एकैक इत्यादि—यहाँ यह शंका होती है कि-'यद्यपि एकत्व-द्वित्वादि एकवस्तु में प्रमीयमाण हैं और उन का परस्पर विरोध नहीं है इस दृष्टान्त से वस्तु में भेदाऽभेद नित्यत्व-अनित्यत्व आदि धर्म भी प्रमीयमाण हैं और उन का परस्पर विरोध नहीं है, इसलिए वस्तु अनेकात्मक है, उस के एक अंश का प्रधानरूप से ग्रहिता होने से नय का लक्षण भी घटता है-परन्तु यह सब कहना असंगत है, क्योंकि 'प्रत्येकं यो भवेद्दोषो द्वयोर्भावे कथं न सः ?' यह शास्त्रकारों का वचन है। एक एक धर्म को स्वीकार करने में जो दोष लगता हो, वह दोष उभय धर्म को स्वीकार करने में क्यों न लगे ? यही इस वचन का अर्थ है। प्रकृत में वस्तु को भेदाभेदात्मक यदि माने तो 'गुण-गुणी का अभेद है' इस पक्ष में भेदपक्षवादी ने दोष दिया है कि अंधव्यक्ति को घट का (परोक्ष) ज्ञान किसी तरह यदि हो जाय, तो घटीयरूप का भी ज्ञान हो जाना चाहिए। इसलिए अभेदपक्ष युक्त नहीं है। ऐसे ही अवयवाऽवयवी का भेदाऽभेद स्याद्वाद सिद्धान्त में स्वीकृत है, यदि अवयवावयवी का (केवल) भेद माना जाय तो, अभेदवादी ने दोष दिया है कि अवयवगत गुरुत्व से अवयवीगत गुरुत्व का उत्कर्ष हो जायगा, इसलिए भेद पक्ष भी युक्त नहीं है, यह एक एक पक्ष में कहा हुआ दोष भेदाऽभेदात्मक वस्तु को माननेवाले स्याद्वाद सिद्धान्त में लागू होते ही हैं। ऐसे ही वस्तुमात्र को नित्याऽ-नित्यात्मक स्याद्वादियों ने माना है। वस्तु को यदि केवल नित्य माना जाय तो वस्तु में अर्थक्रियाकारित्व ही नहीं हो सकता है। यदि वह नित्यवस्तु क्रम से अर्थक्रिया करेगी तो कालान्तरभावि सभी क्रियाओं को प्रथमकाल में ही कर डालेगी, क्योंकि सभी क्रियाओं को करने की शक्ति को धारण करनेवाली वस्तु विलम्ब क्यों करेगी ? यदि विलम्ब करेगी, तो वस्तु में सामर्थ्य का अभाव सिद्ध हो जायगा। यदि वस्तु युगपद् ही सकल क्रिया को करेगी यह पक्ष रखा जाय, तो यह भी प्रतीतिविरुद्ध है। कारण, कोई भी वस्तु सकल काल में होनेवाली सभी क्रियाओं को एक साथ करती है ऐसा देखने में नहीं आता है। यदि मान लिया जाय कि वह सभी क्रियाओं को एक साथ करती है, तो द्वितीय क्षण में अर्थक्रियाकारित्व वस्तु में नहीं रहेगा, इसलिए वह असत् बन जायगी क्योंकि अर्थक्रियाकारित्व ही सत् का लक्षण है। नित्यत्व पक्ष में यह दोष लगता है। वस्तु को केवल अनित्य मानने में यह दोष है कि अनित्य वस्तु भी क्रम से अर्थक्रिया नहीं कर सकती है क्योंकि उस में क्रम ही नहीं है। कालिकपौर्वापर्य और दैशिकपौर्वापर्य ही क्रम पदार्थ है, वह अनित्यत्ववादि के पक्ष में सम्भव नहीं है क्योंकि वह वस्तु को क्षणिक मानता है। क्षणिक वस्तु अनेक देश और अनेक काल तक

रह नहीं सकती है यह दोष अनित्यत्वपक्ष में लगता है। यह प्रत्येक पक्ष में होने वाला दोष नित्यानित्य उभय पक्ष में भी लागू होगा ही। अतः वस्तु भेदाभेद उभयात्मक हो नहीं सकती। तब 'वस्तु के किसी एक अंश का प्रधानरूप से ग्राहक नय होता है'-ऐसा कहना सम्भवित नहीं है। दूसरी आपत्ति यह है कि जब भेदाभेद उभयात्मक और नित्यानित्य उभयात्मक वस्तु को मानने में प्रत्येक पक्षोक्त दोष लागू है, तब दोषयुक्त पक्षका स्वीकार करना भ्रमरूप है। इसलिए भेदाभेद उभय एकवस्तु में प्रमीयमाण यानी प्रमाविषय नहीं हो सकता। जब प्रमीयमाण नहीं है, तब भेद-अभेद, नित्यत्व-अनित्यत्व आदि का एक वस्तु में विरोध सिद्ध होने से भेदादि में विरोध नहीं होता है, ऐसा मानना भी उचित नहीं है।'—

इस शंका का समाधान "जात्यन्तरत्वाभ्युपगमात्" इस ग्रन्थ से उपाध्यायजीने दिया है। गुड मिश्रित शुण्ठाद्रव्य में जात्यन्तर मान लेने पर जैसे—कफकारिता तथा पित्तकारिता दोष की निवृत्ति हो जाती है उसीतरह भेदाभेदादि उभयात्मक वस्तु में भी जात्यन्तर मान लेने पर प्रत्येक प्रक्षोक्त दोष का अवसर नहीं आता है।

तात्पर्य यह है कि प्रत्येक पक्ष में जो दोष दिया गया है, वह एकान्त भेद और एकान्त अभेद मानकर वैसे ही-एकान्त, नित्यत्व और एकान्त अनित्यत्व मानने में प्रत्येक पक्ष में दोष दिया गया है, किन्तु वह दोष स्याद्वाद सिद्धान्त में तभी लागू हो सकता है, यदि स्याद्वादी वस्तु में एकान्त भेद और एकान्त अभेद इन दोनों को मान्य करता हो, तथा एकान्त नित्यत्व और एकान्त अनित्यत्व इन दोनों को एक वस्तु में मानता हो, किन्तु ऐसा तो नहीं है। स्याद्वादी तो वस्तु में कथंचित् भेद और कथंचित् अभेद मानता है, वैसे ही कथंचित् नित्यत्व और कथंचित अनित्यत्व वस्तु में मानता है। इसलिए यह उभयात्मक वस्तु जात्यन्तर ही है। अतः कथंचित् भेद और कथंचित् अभेद माना जाता है, वैसे ही कथंचित् नित्यत्व और कथंचित् अनित्यत्व वस्तु में माना जाता है। इसलिए यह उभयात्मक वस्तु जात्यन्तर ही है। प्रत्येक पक्षोक्त दोष का यहाँ सम्भव नहीं है।

"दृष्टा हि" इत्यादि-जात्यन्तर स्वीकार करने पर प्रत्येक पक्ष में दिए हुए दोष की निवृत्ति कैसे होती है इस का समर्थन करने के लिए गुडशुण्ठीद्रव्य दृष्टान्त रूपसे उपाध्यायजीने बताया है। उस का आशय यह है कि जब गुड और शुण्ठी ये दोनों द्रव्य संयुक्त होते हैं अर्थात्-दोनों का मिश्रण होता है, तब वह विलक्षण चूर्णरूप बन जाता है। उस चूर्ण को न तो गुड कह सकते हैं और न शुण्ठी कह सकते हैं। क्योंकि उस चूर्ण में न तो गुड में रहे हुए उत्कृष्ट माधुर्य का अनुभव होता है और न तो उस चूर्ण के भक्षण से शुण्ठी द्रव्य में रही हुई उत्कट कटुता का ही अनुभव होता है। तथा केवल गुडभक्षण में जो कफदोषजनकता है, तथा केवल शुण्ठीभक्षण में जो पित्तदोषजनकता है, ये दोनों दोष चूर्णभक्षण में नहीं है, किन्तु इन दोनों दोषों की निवृत्ति ही चूर्ण-भक्षण से होती है। इसलिए इन दोनों द्रव्यों से बना हुआ जो चूर्ण द्रव्य है, उस में गुडांश में शुण्ठी द्रव्य का अनुवेध है और शुण्ठी द्रव्यांश में गुड द्रव्य का अनुवेध है। "अनुवेध" शब्द का अर्थ अनुप्रवेश या अत्यन्त संयोग होता है। इस हेतु से वह चूर्ण

"नेयं जात्यन्तरनिमित्ता, किन्तु मिथो माधुर्य–कटुकत्वोत्कर्ष–हानिप्रयुक्ते" ति चेत् ? न,– द्वयोरेकतरबलवत्त्व एवाऽन्याऽपकर्षसम्भवात्, तन्मन्दतायामपि मन्द-पित्तादिदोषापत्तेश्च ।

जात्यन्तरभाव को प्राप्त होता है और उस द्रव्य से केवल गुड प्रयुक्त दोष की निवृत्ति होती है, तथा केवल शुण्ठी प्रयुक्त जो दोष होता है उसकी भी निवृत्ति होती है। इसी तरह केवल भेदपक्ष कथित दोष और केवल अभेदपक्ष में कथित दोष की निवृत्ति, भेदाभेद के मिश्रण में जात्यन्तर भाव अर्थात् गुडत्व और शुण्ठीत्व जाति से विलक्षण जाति का स्वीकार कर लेने से हो जाती है। इस दृष्टान्त से यह सूचित होता है कि वस्तुद्वयका मिश्रण होने पर जात्यन्तर की कल्पना अदृष्टकल्पना नहीं है, किन्तु गुडशुण्ठी द्रव्यों के मिश्रण से जात्यन्तरत्व की प्राप्ति दृष्ट है। इसलिए भेद-अभेद के मिश्रण होने पर जात्यन्तर की कल्पना दृष्टानुसारी कल्पना है।

[पित्तादिदोष के निवारण की अन्यथा उपपत्ति की आशंका]

"नेयमिति"–यहाँ यह शंका होती है कि–"गुड और शुण्ठी से बने हुए चूर्ण में एक नयी अतिरिक्त जाति स्वीकार करके उस जात्यन्तर को ही कफकारिता और पित्त-कारिता दोषों की निवृत्ति के प्रति कारण मानना आवश्यक नहीं लगता है, किन्तु गुड का संयोग होने पर शुण्ठी द्रव्य में जो उत्कट कटुता है, उस का नाश हो जाता है। इस उत्कट कटुता के नाश को ही पित्तकारिता की निवृत्ति का कारण माना जाय। तथा गुड द्रव्य में शुण्ठी द्रव्य के संयोग होने पर गुड द्रव्यगत जो मधुरता का उत्कर्ष है उस का नाश हो जाता है। वही उत्कर्षनाश कफकारिता की निवृत्ति का कारण बनता है। तब जात्यन्तर मानने की आवश्यकता नहीं प्रतीत होती है। तथा इस जात्यन्तर को दृष्टान्त मानकर भेदाभेद के मिश्रण से वस्तुको कथंचित् उभयात्मक मान कर और उस उभयात्मक वस्तु में जात्यन्तर स्वीकार करके तत्प्रयुक्त प्रत्येक पक्षोंके दोष का निवारण करना भी गौरवग्रस्त होने से अयुक्त प्रतीत होता है।"—

[दोषनिवृत्ति की अन्यथा उपपति का स्पष्ट निराकरण]

इस का समाधान उपाध्यायजी देते हैं कि आप की शंका अयुक्त है। क्योंकि जिन वस्तुओं में परस्पर विरोध होता है उनमें से एक के बलवान् होने पर दूसरे में उत्कर्ष की हानि होती है, अथवा दूसरे में अपकर्ष होता है। यहाँ गुड और शुण्ठी द्रव्यों में परस्पर विरोध मान लिया जाय, तब भी दोनों में से किसी एक की बलवत्ता नहीं सिद्ध होती है क्योंकि दोनों द्रव्यों का समान परिमाण से उपादान किया जाता है। इसलिए एक द्रव्य से दूसरे द्रव्य में विद्यमान माधुर्य के उत्कर्ष की हानि अथवा एक द्रव्य से अपर द्रव्यगत कटुत्व का अपकर्ष होना सम्भवित नहीं है। तब पित्तोत्कर्ष के हानिप्रयुक्त अथवा अपकर्ष प्रयुक्त दोषकारिता की निवृत्ति को मानना उचित नहीं प्रतीत होता है। किन्तु परस्पर मिश्रण से बने हुए चूर्ण द्रव्य को जात्यन्तर मानकर तत्प्रयुक्त ही पृथक् गुड पृथक् शुण्ठी-द्रव्यगत कफपित्तदोषकारिता की निवृत्ति को मानना उचित है। अर्थात्–दोष (कारिता)

एतेनेतरेतरप्रवेशादेकतरगुणपरित्यागोऽपि निरस्तः, अन्यतरदोषापत्तेरनुभवबाधाच्च ।

निवृत्ति के प्रति जात्यन्तर को प्रयोजक मानना ही योग्य है। माधुर्योत्कर्ष की निहा को, तथा कटुकत्वोत्कर्ष की हानि को या माधुर्यापकर्ष और कटुतापकर्ष को दोष (कारिता) की निवृत्ति के प्रति प्रयोजक मानने पर दूसरी आपत्ति भी आती है। वह यह है कि माधुर्योत्कर्ष की हानि होने पर, तथा माधुर्यापकर्ष से, मन्दकफकारित्व हो जाना चाहिए। एवं कटुतोत्कर्ष की हानि होने पर अथवा कटुता का अपकर्ष होने पर मन्दपित्तकारिता उस चूर्ण में होनी चाहिए, परन्तु गुडशुण्ठी से तैयार किये हुए चूर्ण से मन्दकफ या मन्दपित्त का होना अनुभव में नहीं आता है। इस हेतु से उस चूर्णद्रव्य में जात्यन्तर स्वीकार करके तत्प्रयुक्त दोष (कारिता) निवृत्ति को मानना यह योग्य प्रतीत होता है। अतः इस दृष्टान्त से कथञ्चित् भेदाभेद उभयात्मक वस्तु में जात्यन्तर मानकर तत्प्रयुक्त प्रत्येक पक्ष में उक्त दोष का वारण करना यही योग्य है।

[माधुर्य या कटुता गुण के परित्याग से दोषनिवृत्ति का असंभव]

"एतेनेति"–यहाँ किसी का यह मन्तव्य है कि गुड शुण्ठी के संयोग से बने हुए चूर्ण में शुण्ठीद्रव्य में गुड द्रव्य का प्रवेश होने से शुण्ठी द्रव्य अपने कटुकत्व का त्याग कर देता है, और गुड द्रव्य में शुण्ठी के प्रवेश से गुड द्रव्य अपने माधुर्यगुण का त्याग कर देता है। इसलिए शुण्ठी में पित्तदोषकारिता नहीं रहती है, तथा गुडद्रव्य में कफदोषकारिता नहीं रहती है, इतने मात्र को मानने से यदि कोई दोष नहीं होता है, तब गुडशुण्ठी मिश्रण से बने हुए चूर्णद्रव्य में जात्यन्तर मानना आवश्यक नहीं है। इस पक्ष के निरास का अतिदेश उपाध्यायजी "एतेन" पद द्वारा करते हैं। इसका भावार्थ यह है कि एकतर की बलवत्ता होने पर भी अन्य का अपकर्ष सम्भव होता है वैसे ही एकतर की बलवत्ता होने पर भी अन्य के गुण का परित्याग भी सम्भवित हो सकता है। किन्तु यहाँ गुड और शुण्ठी इन दोनों द्रव्यों में से कोई भी द्रव्य अधिक बलशाली नहीं है, किन्तु दोनों समान बलशाली हैं। इसी कारण से उत्कर्षहानि या अपकर्ष मानने वाले पूर्वोक्त पक्ष का निरास किया गया है। वह निरास का हेतु तो गुणपरित्यागपक्ष में भी लागू है ही तो उसी हेतु से गुणत्याग पक्ष का भी निरास हो जाता है। तथापि गुणत्याग पक्ष को निरस्त करने के लिए और दो हेतु बताते हैं। इन में एक हेतु यह है कि—शुण्ठी के प्रवेश से गुड के माधुर्यगुण का परित्याग माना जाय तो उस काल में शुण्ठी का गुण जो कटुकत्व है उस का तो त्याग नहीं होता है, परन्तु उसका सद्भाव है, तब कटुकत्व प्रयुक्त पित्तदोष की आपत्ति होनी चाहिए। दूसरा, शुण्ठी द्रव्य में गुड द्रव्य के प्रवेश से शुण्ठी का गुण जो कटुकत्व है उस का त्याग माना जाय तो कटुकत्व के त्यागकाल में गुड का गुण जो माधुर्य है, उस का त्याग तो नहीं होता है, किन्तु उस का सद्भाव ही रहता है। इसलिए उक्त चूर्ण के सेवन से कफ की वृद्धि होनी चाहिए, वह तो होती नहीं है, इस हेतु से यह गुणत्याग पक्ष अयुक्त है

अथ "समुदितगुडशुण्ठीद्रव्यं प्रत्येकगुडशुण्ठीभ्यां विभिन्नमेकस्वभावमेव द्रव्यान्तरं, न तु मिथोऽभिव्याप्यावस्थितोभयस्वभावं जात्यन्तरमि"ति चेत् ? न, तस्या (स्य) द्रव्यान्तरत्वे विलक्षणमाधुर्यकटुकत्वाननुभवप्रसङ्गात्, एकस्वभावत्वे दोषद्वयोपशमाहेतुत्वप्रसङ्गात् ।

दूसरा हेतु "अनुभवबाधरूप" है। उस का तात्पर्य यह है कि गुडशुण्ठी मिश्रण से बना हुआ जो चूर्ण होता है, उस के सेवन से माधुर्य और कटुकत्व का ही अनुभव होता है। यदि एकतरगुणपरित्याग पक्ष माना जाय तो यह अनुभव नहीं होना चाहिए, परन्तु यह अनुभव होता है। इसलिए भी एकतर गुण परित्याग पक्ष युक्त नहीं है, किन्तु उक्त चूर्ण द्रव्य में जात्यन्तर मानना ही युक्त है और इस दृष्टान्त से कथञ्चिद् भेदाभेद-उभयात्मकवस्तु में जात्यन्तर मानकर ही प्रत्येक पक्षोक्त दोष का निवारण करना योग्य है।

[गुडशुण्ठीद्रव्य द्रव्यांतर होने की शंका]

"अथ समुदित" इत्यादि-यहाँ यह शंका होती है कि-"परस्पर मिश्रित गुडशुण्ठा द्रव्य को केवल गुड तथा केवल शुण्ठी से भिन्न द्रव्यान्तर ही माना जाय तथा उस द्रव्यान्तर को एकस्वभाव माना जाय, तो भी कफ-पित्त दोषकारिता की निवृत्ति हो सकती है, तब उस में विलक्षण जाति मानने की आवश्यकता नहीं रहती है। तब इस दृष्टान्त से कथञ्चित भेदाभेद उभयस्वभाव वस्तु में जात्यन्तर की कल्पना कैसे करते हो ? तथा जात्यन्तरप्रयुक्त प्रत्येक पक्षोक्त दोषों का वारण भी कैसे कर सकते हो ? क्योंकि मिश्रित "गुडशुण्ठी" द्रव्य में गुड और शुण्ठी इन दोनों को व्याप्त करके रहनेवाला कफ-पित्त इन दोनों दोषों का निवर्त्तक उभयस्वभाव जात्यन्तर हम मानते ही नहीं हैं और जो वस्तु वादि-प्रतिवादि इन दोनों को मान्य न हो वह वस्तु दृष्टान्त नहीं बन सकती है।"—

[अतिरिक्त द्रव्यान्तर की कल्पना अयुक्त—उत्तर]

इस का उत्तर उपाध्यायजी ऐसा देते हैं कि गुडशुण्ठी के मिश्रण से बना हुआ चूर्ण द्रव्य यदि गुड और शुण्ठा से सर्वथा भिन्न माना जाय तो चूर्ण दशा में भी जो गुडगत विलक्षण माधुर्य का अनुभव होता है वह न होगा। तथा शुण्ठीगत विलक्षण कटुकत्व का जो अनुभव होता है, वह भी न होगा। इसलिए उस चूर्णात्मक द्रव्य को गुड और शुण्ठी से सर्वथा भिन्न द्रव्यान्तर मानना उचित नहीं है। तथा द्रव्यान्तर मानने में यह भी दोष आता है कि यदि उस द्रव्यान्तर को एकस्वभाव वाला माना जाय तो, वह द्रव्यान्तर कफ और पित्त इन दोनों दोषों में से किसी एक दोष के उपशम का कारण यद्यपि बन सकेगा, परन्तु कफ और पित्त इन दोनों दोषों के उपशम का कारण नहीं बन सकेगा। उभयस्वभाव जात्यन्तर मानने पर दोनों दोषों के उपशम का हेतु वह चूर्ण द्रव्य बनता है ऐसा अनुभव है, इसलिए जात्यन्तर मानना यही पक्ष श्रेष्ठ है और इस दृष्टान्त से कथञ्चित् उभयात्मक एकवस्तु में जात्यन्तर स्वीकार करके ही तत्प्रयुक्त प्रत्येक पक्षोक्त दोषों का वारण करना श्रेष्ठ है।

उभयजननैकस्वभावस्य चानेकत्वगर्भत्वेन सर्वथैकत्वायोगाद् एकया शक्त्योभयकार्यजननेऽतिप्रसङ्गाद् विभिन्नस्वभावानुभवाच्च । तस्मान्माधुर्य-कटुकत्वयोः परस्परानवेधनिमित्तमेवोभयदोषनिवर्त्तकत्वमित्यादरणीयम् ।

[द्रव्यान्तर में उभय दोष के उपशमकी कारणता की शंका]

"उभये"ति–यहाँ यह आशंका होती है कि–"द्रव्यान्तर मानने पर भी कफ और पित्त इन दोनों दोषों के उपशम का कारण वह चूर्णरूप द्रव्यान्तर बन सकता है। क्योंकि उस द्रव्य में जो हम एकस्वभावता मानेंगे वह कफोपशम और पित्तोपशम इन दोनों कार्यों की जनिका मानेंगे तब तो कार्यद्वयजनक एकस्वभाववाला वह द्रव्यान्तर होगा और उस से कफ और पित्त दोनों की निवृत्ति हो जायगी, तब उस मिश्रण में जात्यन्तर मानने की क्या आवश्यकता होगी ? अर्थात् कुछ नहीं। तब दृष्टान्त में जात्यन्तरता की असिद्धि होने से दार्ष्टान्तिक जो कथञ्चित् उभयात्मक एकवस्तु में जात्यन्तरता है उस की सिद्धि नहीं हो सकती है।"—

[उभयदोष निवर्त्तक स्वभाव अनेकत्वगर्भित–प्रत्युत्तर]

इस का समाधान उपाध्यायजीने ऐसा दिया है कि कफनिवृत्ति और पित्तनिवृत्ति इन दोनों कार्यों का जनक स्वभाव एक नहीं हो सकता है क्योंकि उभयजनन एकस्वभाव में उभयत्व का प्रवेश होने से वह स्वभाव अनेकत्व गर्भित है, अर्थात् अनेकत्व उसकी कुक्षि में प्रविष्ट है, क्योंकि कफनिवृत्ति और पित्तनिवृत्ति ये दोनों कार्य हैं। यहाँ कार्य का भेद है इसलिए कार्य के भेद से स्वभाव का भी भेद होगा। अतः अनेक कार्यजनक स्वभाव में एकत्व किसी तरह नहीं आ सकता है। इसलिए उस चूर्णद्रव्य को अनेक कार्यजनक एकस्वभाव नहीं मान सकते हैं। तब ऐसे स्वभाव से दोषद्वय की निवृत्ति नहीं हो सकती है। अतः दोषद्वय निवृत्ति के लिए उस द्रव्य में उभय स्वभाव जात्यन्तर मानना ही श्रेयस्कर है।

[एक स्वभाव द्रव्यान्तरगत एक शक्ति से कार्यद्वय की अनुपपत्ति]

यदि यह शंका ऊठायी जाय कि–"गुडशुण्ठी मिश्रण से बने हुए द्रव्य में कार्यद्वयजनक एकस्वभावता नहीं मानी जाय तो भी उस द्रव्य में जात्यन्तर मानने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि उस द्रव्य में कार्यद्वयजनक एक शक्ति मानेंगे, उसी शक्ति के द्वारा कफशमन और पित्तशमन ये दोनों कार्य हो जायेंगे, जात्यन्तर मानना निरर्थक है"–तो इस का समाधान इस प्रकार से दिया गया है कि– एकशक्ति से यदि कार्यद्वय का जनन मानेंगे तो कफशमन और पित्तशमन इन दोनों कार्यों में भेद सिद्ध नहीं होगा, क्योंकि कारणवैलक्षण्य से ही कार्य में वैलक्षण्य आता है। शक्ति तो आप एक मानते हैं, क्योंकि पित्तशमन करनेवाली जो शक्ति है वही शक्ति कफशमन करनेवाली भी आप मानते हैं। इसलिए पित्तशामक शक्ति और कफशामकशक्ति में भी वैलक्षण्य नहीं होगा। तब पित्तशमन और कफशमन इन दोनों कार्यों में भी वैलक्षण्य नहीं होगा। इसलिए पित्तशमन ही

ननु जात्यन्तरत्वेपि प्रत्येकदोषनिवृत्तिरिति नैकान्तः, पृथक् स्निग्धोष्णयोः कफपित्तविकारित्ववत् समुदितस्निग्धोष्णस्यापि माषस्य तथात्वादिति चेत्? न, माषे स्निग्धोष्णत्वयोर्जात्यन्तरात्मकत्वाऽभावादन्योन्यानुवेधेन स्वभावान्तरभावनिबन्धनस्यैव तत्त्वात् । अत्र च स्निग्धोष्णत्वयोर्गुञ्जाफले रक्तत्वकृष्णत्वयोरिव खण्डशोव्याप्त्याऽवस्थानात्, जात्यन्तरात्मकस्निग्धोष्णत्वशालिनि च दाडिमे श्लेष्मपित्तोभयदोषाऽकारित्वमिष्टमेव, "स्निग्धोष्णं दाडिमं रम्यं, श्लेष्मपित्ताऽविरोधि च" इति वचनादिति सम्प्रदायः ।

कफशमनरूप हो जायगा और कफशमन ही पित्तशमनरूप हो जायगा । यही यहाँ पर अतिप्रसंगपदार्थ है जो कार्यों में विलक्षण्य का अभाव हो जाता है । तात्पर्य, जात्यन्तर का स्वीकार करना आवश्यक है ।

तथा गुडशुण्ठी से बने हुए चूर्णरूप द्रव्यान्तर को एकस्वभाव मानने में अनुभवबाध भी दोष होता है । क्योंकि उस द्रव्य में माधुर्यस्वभाव का अनुभव होता है और कटुता स्वभाव का भी अनुभव होता है, ये दोनों स्वभाव परस्पर विलक्षण हैं । अतः अनुभव के अनुरोध से विभिन्न स्वभाव मानना आवश्यक है । वह जात्यन्तर को स्वीकार किए बिना सम्भवित नहीं हो सकता । इसलिए जात्यन्तरता अवश्य माननी चाहिए और इस दृष्टांत से कथञ्चिद् भेदाभेद उभयात्मक एकवस्तु में भी जात्यन्तर स्वीकार के द्वारा ही प्रत्येक पक्षोक्त दोष का वारण करना चाहिए । "तस्मात्" इत्यादि पंक्ति द्वारा इस का उपसंहार इसतरह उपाध्यायजी करते हैं कि गुडशुण्ठी से बने हुए चूर्ण द्रव्य में विलक्षण स्वभाव का अनुभव होता है । इस हेतु से माधुर्य और कटुकत्व में जो दोषद्वयनिवारकत्व आता है उस में निमित्त उन दोनों का परस्पर अनुवेध अर्थात् मिश्रण भी है । इन दोनों धर्मों का मिश्रण धर्मीरूप गुडशुण्ठी द्रव्यों के मिश्रण से होता है अर्थात्-शुण्ठी का अनुप्रवेश गुड में और गुड का अनुप्रवेश शुण्ठी में होने पर उन के धर्मों का भी अनुप्रवेश हो जाता है । इसलिए पित्त और कफरूप दोषों की निवृत्ति होती है-यही आदर करने योग्य है, अर्थात्-इसी को मानना चाहिए ।

[जात्यन्तर मानने पर भी प्रत्येक दोष निवृत्ति के अनियम की शंका का उत्तर]

"ननु" इत्यादि-समुदित द्रव्य में जात्यन्तर को न माननेवाले यहाँ पर शंका उठाते है कि-"प्रत्येक से होनेवाले दोष की निवृत्ति जात्यन्तरभाव प्राप्त समुदित द्रव्य से होती है यह नियम नहीं है, क्योंकि स्निग्धस्वभाव से होनेवाले जो कफदोष और उष्णस्वभाव से होनेवाला जो पित्तदोष वह समुदित स्निग्धोष्णस्वभाववाले माष (उडद) से होता है । माष केवल स्निग्धस्वभाव या केवल उष्णस्वभाव नहीं है किन्तु जात्यन्तरभाव को प्राप्त है, तो भी उस से प्रत्येक स्वभावजन्य दोषों की उत्पत्ति होती है । इसलिए 'जात्यन्तरभाव को प्राप्त समुदित द्रव्य से प्रत्येक दोष की निवृत्ति होती है' इस व्याप्ति में व्यभिचार

यद्यपि जात्यन्तरत्वं न प्रत्येककार्याऽकारित्वेन नियतं, भेदाभेदेन भेदाभेद-व्यवहारात्—तथापि विभिन्नधर्मयोरभिव्याप्य समावेश एवोक्तनिदर्शनम्, अन्यत्रोक्तं नृसिंहनिदर्शनं तु समावेशमात्र एव, तत्र नृत्वसिंहत्वयोरन्यान्यभागावच्छेदेनैव समावेशात् ।

आता है । तब तो भेदाभेदात्मक एकवस्तु में जात्यन्तर स्वीकार कर के प्रत्येक पक्षोक्त दोष का वारण नहीं हो सकता है ।"–इस का समाधान उपाध्यायजी देते हैं कि माष में स्निग्धत्व और उष्णत्व जात्यन्तरात्मक नहीं है । क्योंकि जहाँ पर परस्पर अनुवेध सम्पूर्णतया होता है, वहाँ स्वभावान्तरत्व माना जाता है, और उस स्वभावान्तरत्व को निमित्त बनाकर जात्यन्तरत्व भी माना जाता है । माष में स्निग्धत्व–उष्णत्व का परस्पर अनुवेध सम्पूर्णतया नहीं है, किन्तु खण्डशः है । अर्थात्–माष के अमुक भाग में स्निग्धत्व और उस से अतिरिक्त द्वितीयभाग में उष्णत्व है । जैसे–"गुंजाफल" (चणोठी) में एकभाग को व्याप्त कर के रक्तत्व रहता है और अन्यभाग को व्याप्त कर के कृष्णत्व रहता है, सम्पूर्ण गुंजाफल को व्याप्त कर के न तो कृष्णत्व रहता है और न तो रक्तत्व ही रहता है । उसी तरह माष में एकभाग को व्याप्त कर के स्निग्धत्व रहती है और अपरभाग को व्याप्त कर के उष्णत्व रहता है, सम्पूर्ण माष को व्याप्त कर के न तो स्निग्धत्व रहता है, न उष्णत्व ही रहता है । इसलिए माष में जात्यन्तरत्वरूप हेतु ही नहीं है । तब यदि 'प्रत्येक दोष निवर्त्तकत्व'रूप साध्य न रहा तो उक्त नियम में व्यभिचार नहीं आता है, क्योंकि साध्य जहाँ न रहे वहाँ हेतु का रहना ही व्यभिचार है और जात्यन्तरत्व रूप हेतु माष में नहीं है । इसलिए कथञ्चित् भेदाभेदउभयात्मक वस्तु में प्रत्येक पक्षोक्त दोष का वारण करना उचित ही है । दाडिम में स्निग्धत्व और उष्णत्व ये दोनों स्वभाव सम्पूर्ण में व्याप्त रहता है, इसलिए वह जात्यन्तरात्मक है, तत्प्रयुक्त कफ और पित्त इन दोनों दोषों की उत्पत्ति दाडिमसेवन से नहीं होती है, यह तो सभी को इष्ट है, परन्तु उस का प्रयोजक जात्यन्तरात्मकत्व ही है । दाडिम में कफ और पित्त ये उभयदोष-कारिता नहीं है, इस में प्राचीन आचार्य के वचन को प्रमाणरूप से साक्षि देते हैं–"स्निग्धोष्णं दाडिमं रम्यं" इत्यादि । दाडिम स्निग्धोष्णस्वभाव है, इसीलिए रम्य है, अर्थात् हृदयप्रिय है, और श्लेष्म और पित्त का अविरोधि है । यहाँ "अविरोधि" पद से यह अर्थ निकलता है कि दाडिम जैसे श्लेष्मपित्त का विरोधि नहीं है उसी प्रकार श्लेष्म और पित्त का उत्पादक भी नहीं है, इसलिए "श्लेष्मपित्तरूप दोषद्वयअकारित्व" इस में घटता है, और वह इष्ट भी है । यह परम्परा की मान्यता है ।

[प्रत्येक कार्याऽकारित्व और जात्यन्तरत्व में अनियम की आशंका]

"यद्यपी"ति–यहाँ यह आशंका होती है कि "आपने जो जात्यन्तरत्व का स्वीकार कर के प्रत्येक पक्षोक्त दोष का निवारण किया है, यह उचित प्रतीत नहीं होता, क्योंकि जहाँ जहाँ जात्यन्तरत्व है, वहाँ वहाँ प्रत्येक कार्याऽकारित्व रहता है ऐसी व्याप्ति ही नहीं बन सकती है । क्योंकि भेदाभेदात्मक वस्तु में इस व्याप्ति का व्यभिचार आता है । जैसे,

न च भेदाभेदाद्यसमावेश एव, अनुभवबाधात् । न च सामान्यतोऽसमावेशव्याप्तिकल्पनादनुभवभ्रान्तत्वम्, प्रतियोग्यादिगर्भतया विशिष्टस्यैव भेदाभेदाद्यसमावेशव्याप्तिकल्पनादिति तु तत्त्वम् ।

वस्तु में भेदाभेदात्मकत्व होने से जात्यन्तरत्वरूप हेतु हैं और भेदात्मकत्व प्रयुक्त भेदव्यवहाररूप प्रत्येककार्य होता है तथा अभेदात्मकत्वप्रयुक्त अभेद व्यवहार स्वरूप प्रत्येक कार्य भी होता है अतः प्रत्येक कार्यकारित्व ही भेदाभेदात्मक प्रत्येक वस्तु में है अतः प्रत्येक कार्याऽकारित्व साध्य का व्यभिचारी सिद्ध होता है ।

[प्रत्येककार्याऽकारित्व का अनियम अनिष्टापादक नहीं है—उत्तर]

इस शंका का समाधान "तथापि" इत्यादि पंक्ति से दिया जाता है कि यद्यपि जात्यन्तरत्व होने पर भी जो प्रत्येक कार्यकारित्व होता है, वह स्याद्वादी को अत्यन्त अनिष्ट नहीं है, क्योंकि दाडिम के दृष्टान्त से जो जात्यन्तरत्व और प्रत्येककार्याकारित्व में व्याप्ति बनायी गई है वह दृष्टान्त उतने ही अंश में ग्राह्य है, जितने अंश में विभिन्न धर्मों का परस्पर व्याप्त होकर समावेश होता है। जैसे–दाडिम में जात्यन्तरत्व होने पर भी स्निग्धत्व–उष्णत्व विभिन्न धर्मों का परस्पर अभिव्याप्त होकर समावेश है और यहाँ व्यभिचार नहीं है, जात्यन्तर होने से प्रत्येक पक्षोक्त दोषों का वारण भी होता है, अनेकात्मकत्व की सिद्धि भी होती है । अन्यस्थलों में नृसिंह दृष्टान्त से जो अनेकान्तात्मकत्व की सिद्धि की गई है, वह भी स्याद्वादी को इष्ट ही है । अन्तर इतना है कि नृसिंह दृष्टान्त से नरत्व–सिंहत्व का परस्पर अभिव्याप्त होकर एकवस्तु में समावेश नहीं है, किन्तु अवच्छेदक भेद से एकवस्तु में समावेश है, इस समावेशमात्र को लेकर जैसे–नृसिंह शरीर नरात्मक और सिंहात्मक होने से अनेकान्तात्मक हैं, वैसे ही–वस्तु में भेदाभेदादि विरुद्धधर्म भी "अन्य अन्य भागावच्छेदेन समाविष्ट" माना जाय तो भी प्रत्येक वस्तु में अनेकान्तात्मकत्व की सिद्धि में कोई बाध नहीं होता है । इसीलिए अभियुक्तों का यह वचन प्रमाणित सिद्ध होता है–

"भागे सिंहो नरो भागे, योऽसौ भागद्वयात्मकः ।
तमभागं विभागेन नरसिंहं प्रचक्षते ॥ [ ]

=नृसिंह शरीर के ऊपर के भाग में सिंहत्व है और अधोभाग में नरत्व है तो भी विभाग की विवक्षा को न कर के नरसिंह पद से व्यवहार किया जाता है और विभाग की विवक्षा होने पर नरत्व और सिंहत्व का भी व्यवहार होता है । उसी तरह भेदाभेदात्मक वस्तु में, भेदात्मकत्व विवक्षा से भेदव्यवहार और अभेदात्मकत्व विवक्षा से अभेद व्यवहार भी होता है, तो भी वस्तु में भेद और अभेद इन दोनों का समावेश होने के कारण अनेकान्तात्मक भी है । नृसिंह दृष्टान्त का यही तात्पर्य है ।

[भेदाभेदोभय का एकत्र सर्वथा असमावेश अनुभवविरुद्ध है]

"न च भेदाभेदे"ति–यहाँ यह आशंका उठती है कि–"एकवस्तु में भेद और अभेद इत्यादि विरुद्धधर्मों को जो स्याद्वादी मानते हैं, यह बात अयुक्त प्रतीत होती है क्योंकि

विरुद्धधर्म जो गोत्व-अश्वत्व हैं, उनका किसी एक धर्मी गो अथवा अश्व में समावेश देखा नहीं जाता है। तब दृष्टविपरीत वस्तु का स्वीकार करना स्याद्वादियों के लिये ठीक नहीं है। इसलिए भेद-अभेद, नित्यत्व-अनित्यत्व आदि विरुद्ध धर्मों का एकवस्तु में समावेश होता ही नहीं है।"-इस आशंका का समाधान "अनुभवबाधात्" इस पंक्ति से दिया जाता है कि गोत्व-अश्वत्व आदि विरुद्ध धर्मों का एक धर्मी में अनुभव किसी को नहीं होता है, इसलिए उनका एक धर्मी में समावेश भले न हो, परन्तु जिन विरुद्ध धर्मों का एक धर्मी में अनुभव होता है, उन विरुद्ध धर्मों के एक धर्मी में समावेश को गोत्व-अश्वत्व आदि विरुद्ध धर्मों के दृष्टान्त से न मानना अनुभवविरुद्ध होगा। घटात्मक वस्तु का विशेष रूप से अनुभव होता है। 'यह घट द्रव्यविशेषरूप है' यही विशेषानुभव है, इसलिए घट में भेद भी रहता है। विशेष को ही भेद कहते हैं, क्योंकि विशेष और भेद ये दोनों शब्द पर्यायवाचक है। उसी घट में 'यह द्रव्य है' इसतरह सामान्य रूप से भी अनुभव होता है इसलिए अभेद भी घटात्मक वस्तु में अनुभवसिद्ध है। अतः भेदाभेदात्मक घट की अनुभव से सिद्धि होती है। यदि घट में भेद और अभेद इन विरुद्ध धर्मों का समावेश न माना जाय तो अनुभव का बाध उपस्थित होगा। अनुभवानुसार ही वस्तु की व्यवस्था सभी वादी को इष्ट है, इसलिए वस्तु में भेदाभेदादि विरुद्ध धर्मों का समावेश मानना ही योग्य है।

[विरुद्ध उभयधर्मों के एकत्र समावेश का अनुभव भ्रान्त होने की शंका का उत्तर]

"न च सामान्यतः" इति—यहाँ पर यह आशंका हो कि-आपने जो अनुभवबाध बताया है, वह युक्त नहीं है। क्योंकि एकवस्तु में भिन्नत्व और अभिन्नत्व का अनुभव भ्रान्तिरूप है, और भ्रमात्मक अनुभव से किसी वस्तु की सिद्धि नहीं होती है क्योंकि प्रमात्मक अनुभव ही वस्तु का साधक माना गया है। भेद और अभेद ये दोनों परस्पर विरुद्ध होते हैं, उन का एकवस्तु में समावेश नहीं होता है यही नियम है। तब भेद और अभेद की एकवस्तु में बुद्धि भ्रमात्मक होने के कारण वस्तु को भेदाभेदात्मक सिद्ध नहीं कर सकती है, तब तो अनुभव के बल पर जो आपने भेदाभेदात्मक वस्तु को माना है, वह युक्तिसंगत नहीं है। -इस शंका का समाधान "प्रतियोग्यादिगर्भतया" इस पंक्ति से दिया जाता है।

समाधान का तात्पर्य यह है कि भेद और अभेद इन दोनों का सामान्यरूप से विरोध है ही नहीं। क्योंकि गो का भेद अश्व में रहता है और अश्व में अश्व का अभेद भी रहता है। यदि यह कहें कि-"गोभेद और अश्वाभेद का विरोध तो नहीं है किन्तु गोभेद और गो-अभेद इन दोनों का विरोध है, ऐसे ही अश्वभेद और अश्वाभेद का विरोध है चूँकि ये दोनों एकवस्तु में नहीं रहते हैं।"-तो यह कहना भी ठीक नहीं हैं। कारण, नील गाय में पीत गाय का भेद है और पीतगाय में नीलगाय का भेद है तो भी इन दोनों में गाय का अभेद रहता है। इसीतरह एक ही वृक्षमें शाखावच्छेदेन कपिसंयोगि का अभेद रहता है और मूलावच्छेदेन कपिसंयोगि का भेद रहता है। इस हेतु से भेदाभेद का सामान्यरूप से विरोध न मान कर विशेषरूप से ही विरोध मानना होगा। अर्थात्-तद्रूपेण तत्प्रतियोगिभेद और तद्रूपेण तत्प्रतियोगि-अभेद का विरोध मानना

"द्रव्यपर्याययोर्वास्तवोऽभेद एव, संख्यासंज्ञालक्षणकार्यभेदाच्चस्वाभाविको भेद" इति तु न रमणीयम्, भेदस्याऽस्वाभाविकत्वे संख्यादीनां निरालम्बनत्वाऽऽपातात् ।

होगा । जैसे-गोत्वेन रूपेण गोप्रतियोगिभेद और गोत्वेन रूपेण गोप्रतियोगि अभेद का विरोध है । एवं तदवच्छेदेन तत्प्रतियोगिभेद और तदवच्छेदेन तत्प्रतियोगि अभेद का विरोध मानना होगा । ऐसे-प्रतियोगिअवच्छेदक सम्बन्ध आदि का प्रवेश कर के विशेषरूपेण भेदाभेद का एकवस्तु में समावेश नहीं होता है यही नियम मानना आवश्यक होगा । तब सामान्यरूप से भेदाभेद का एकवस्तु में समावेश होने में कोई बाधक न होने से एकवस्तु में भेदाभेदादि का अनुभव भ्रमरूप नहीं है, किन्तु प्रमात्मक ही है, तब उस अनुभव से भेदाभेदात्मक वस्तु को मानना युक्त ही है। यह स्याद्वादी का अभिप्राय है।

[द्रव्य—पर्याय में वास्तवाभेदवादीमत का विस्तरण और निराकरण]

'द्रव्यपर्याययोः' इति-स्याद्वादसिद्धान्त में द्रव्य और पर्याय इन दोनों में भेद और अभेद ये दोनों वास्तविक ही माने गए हैं। किन्तु, किसी विद्वान का यह मन्तव्य है कि,

"अभेद तो वास्तविक है और भेद वास्तविक नहीं है । उन का आशय यह है कि मिट्टी-सुवर्णादि ही घटशरावादिरूप से तथा कटक-कुंडलादिरूप से परिणाम को प्राप्त होते हैं । इसलिए घट-शरावादिरूप पर्याय मृद्द्रव्यरूप ही है, किन्तु उस से भिन्न नहीं है । तथा-कटककुण्डलादिरूप पर्याय सुवर्णद्रव्यरूप ही है । इस हेतु से द्रव्य और पर्याय में वास्तविकरूप से अभेद ही है, भेद नहीं है । तब जो भेद की प्रतीति होती है, वह अस्वाभाविक है। अर्थात्-उपाधि के प्रभाव से कल्पित है। जिन उपाधियों के द्वारा द्रव्य-पर्यायों में भेद की कल्पना होती है, वे उपधियाँ चार प्रकार की हैं । संख्याभेद, संज्ञा-भेद, लक्षणभेद और कार्यभेद । 'मृद् द्रव्य एक है' 'सुवर्णद्रव्य एक है,' ऐसा व्यवहार होता है इसलिए मृदादि द्रव्य में एकत्व संख्या है। घट दो हैं-घट बहुत है, शराव दो है-तीन हैं, चार हैं, ऐसा व्यवहार पर्यायों में होता है, इसलिए घटशरावादि पर्यायों में द्वित्व, त्रित्वादि संख्याएँ हैं । इस तरह द्रव्य और पर्यायों में संख्याभेद है । इसी रीति से सुवर्णादि द्रव्यों में और उनके कटककुण्डलादि पर्यायों में भी संख्याभेद हैं । एवं मृद् द्रव्य की 'मृद्' यह संज्ञा है । घट-शरावादि पर्यायों की घट-शराव-उदंचन इत्यादि संज्ञाएँ हैं । इसीतरह सुवर्णद्रव्य की सुवर्ण यह संज्ञा है और उस के पर्यायों की कटक, कुन्डल, स्वस्तिक, रुचक इत्यादि संज्ञाएँ हैं। इस तरह द्रव्य और पर्यायों में संज्ञाभेद भी व्यवहार से सिद्ध होता है । तथा मृत्त्वजातिमान् जो हो वह मृत्तिका कहलाती है और घटत्व जातिमान् जो हो वह घट कहलाता है। इस तरह मृद्रूप द्रव्य और घटरूप पर्याय में लक्षण का भी भेद है । वैसे ही सुवर्णत्व जातिमान् सुवर्ण कहा जाता है और कटक-त्वादिजातिमान् कटक आदि कहा जाता है । इस रीति से सुवर्ण और उस के कटक आदि पर्यायों में लक्षण का भेद है। तथा मृद् का कार्य भीत्ति, घट, भूमिलिंपन आदि है और घटादि पर्यायों का कार्य जलाहरण आदि है इस तरह मृत् द्रव्य और उस के पर्यायों में कार्यभेद भी दृष्टिगोचर है । सुवर्ण द्रव्य का कार्य सुवर्णभस्म इत्यादि प्रसिद्ध है । कटककुंडलादि का कार्य शरीर की शोभा को बढाना इत्यादि प्रसिद्ध है । इस तरह

कथं तर्ह्येकत्रैव कदाचिद् "गुरुः" इत्येकवचनं, कदाचिच्च "गुरवः" इति बहुवचनम् ? उच्यते—द्रव्यपर्याययोर्यथाक्रममुद्भूतानुद्भूतत्वविवक्षणात् शाब्दन्याया-नुसरणात् ।*

सुवर्णद्रव्य और उसके पर्यायों में कार्यभेद भी प्रत्यक्ष ही है, इन चारों उपाधियों से द्रव्य और उनके पर्यायों का भेद माना जाता है । वह भेद स्वाभाविक नहीं है, किन्तु औपाधिक या काल्पनिक है।"—

परन्तु यह मन्तव्य युक्त नहीं है। कारण, द्रव्य और पर्याय इन दोनों का वास्तविक भेद यदि नहीं माना जाय तो द्वित्वादि संख्या, जो पर्यायों में रहती हैं और पर्यायों की जो घटकटकादि संज्ञा तथा कम्बुग्रीवादिमत्त्वादि पर्यायों का लक्षण और जलाहरणादि पर्यायों का कार्य ये सभी निराश्रय बन जाएँगे । क्योंकि इन का आश्रय उक्त पर्याय ही हो सकते हैं । वे पर्याय द्रव्य से वस्तुतः भिन्न न होने पर तो द्रव्यस्वरूप में ही इन का निवेश हो जाता है, द्रव्य से पृथक् इन की स्थिति है नहीं, तब इन में रहनेवाले संख्या, संज्ञा आदि भेदों का आलंबन कौन बनेगा ? इसलिए द्रव्य और पर्यायों का भेद और अभेद ये दोनों स्वाभाविक है। यही मानने योग्य है, यही स्याद्वाद का सिद्धान्त है ।

[एकवचन—बहुवचन के प्रयोगभेद की उपपत्ति]

"कथं तर्ह्येक" इत्यादि यहाँ यह आशंका उठती है कि–यदि भेद और अभेद दोनों को एक वस्तु में वास्तविक रूप से स्याद्वादी स्वीकार करते हैं, तो एक व्यक्तिविशेष 'गुरु' में भेद भी वास्तविक ही है, इसलिए बहुवचन का प्रयोग होना उचित है और अभेद भी वास्तविक ही है, इसलिए एकवचन का भी प्रयोग प्राप्त है । एकवचन और बहुवचन इन दोनों का एक साथ प्रयोग होना सम्भवित नहीं है । 'कालभेद से एक–

---

*नन्वेवं पर्यायनयोद्भूतत्वप्रयुक्तबहुत्वविवक्षयैकत्रापि घटे 'घटाः' इति प्रयोगापत्तिः, द्रव्यनयोद्भूतत्वप्रयुक्तैकत्वविवक्षया च 'आपो' 'दारा' इत्यादावप्येकवचनापत्तिः, उभयविवक्षया च 'मनुष्यो गच्छन्ति' इत्यादि प्रयोगापत्तिः । एकत्वधर्मिताव्यवच्छेदकैकत्वबहुत्वप्रकारकप्रत्यये इच्छाया हेतुत्वेऽपि 'एकत्र द्वयम्' इति न्यायेनैकत्वबहुत्वबोधस्याऽप्रत्यूहत्वात् । 'एतादृशशब्दाऽसाधुत्वान्नैता आपत्तयः' इति चेत् ? तथापि साधुत्वभ्रान्त्या जायमानेदृशज्ञानप्रामाण्यापत्तिरिति चेत् ?

अत्र वदन्ति–नयविवक्षायां यद्धर्मप्रकारेणैकत्वबहुत्वविषयत्वं, तज्जन्यशाब्दबोधेऽपि तद्धर्मप्रकारेणैवेति नोक्तदोषः । 'घट एव रूपादय' इति द्रव्यार्थिकविवक्षया तथैव शाब्दबोधात्, 'घटो रूपादय एव' इति पर्यायार्थविवक्षया च तथैव शाब्दबोधात् । यदा तु द्रव्यपर्यायनययोरेकत्वबहुत्वाभ्यां नोद्देशो, न वा विधानं, किंतु तदुपरागेण सत्त्वाद्येव प्रतिपिपादयिषितम् तदा ताभ्यां 'घटोऽस्ति' 'रूपादयः सन्ति' इत्येवाभिलापः । यदा तूभयगोचरयोर्धर्मधर्मिभावेन प्रतिपिपादयिषा तदा घटस्य रूपादय इत्येवाभिलापः । अवच्छेदकविनिर्मोकेनैकत्र बहुत्वं त्वनुशासनोपग्रहेणैव नयः प्रकाशयतीति नैकघटादौ 'घटा' इत्यादिप्रयोगापत्तिः । साधुत्वभ्रान्त्या जायमानज्ञाने च विषयाबाधरूपप्रमाण्यसत्त्वेऽपि स्वावच्छेदकधर्मानवधारणेन स्वपरव्यवसायित्वलक्षणं प्रामाण्यम् । [इत्ययं पाठः टिप्पणकरूपेण स्वयं ग्रन्थकृता स्वलिखितहस्तादर्शे पार्श्वद्वयेऽधोभागे चोद्टंकितः, पूर्वमुद्रितपुस्तकेषु च ग्रन्थमध्य एव संयोजितो वर्त्तते] ।

यदा तूभयोरप्युद्भूतत्वं विवक्ष्यते, तदा भवतु 'घटस्य रूपादय' इत्येकदैवैक-वचनबहुवचनप्रयोगः ।

वचन और बहुवचन दोनों का प्रयोग हो सकता है' ऐसा कहना भी ठीक नहीं है । कारण, सभी काल में भेदाऽभेद के होने से एकत्व, बहुत्व इन दोनों का दोनों काल में होना अनिवार्य है । इसलिए एकत्वप्रयुक्त एकवचन का प्रयोग बहुत्व से प्रतिबद्ध होगा और बहुत्वप्रयुक्त बहुवचन का प्रयोग एकवचन से प्रतिबद्ध होगा । तब किसी काल में "गुरुः" ऐसा एकवचन का प्रयोग होता है और किसी काल में "गुरवः" ऐसा बहुवचन का प्रयोग होता है वह न होना चाहिए"– इस शंका का समाधान "उच्यते" इत्यादि सन्दर्भ से दिया जाता है कि-जब एक ही वस्तु में द्रव्य के उद्भूतत्व की विवक्षा वक्ता को रहेगी और पर्यायों में अनुद्भूतत्व की विवक्षा रहेगी, तब "गुरुः" ऐसा एकवचन का प्रयोग होगा तथा वक्ता को जब पर्यायों में उद्भूतत्व की विवक्षा रहेगी और द्रव्य में अनुद्भूतत्व की विवक्षा रहेगी तब वक्ता "गुरवः" ऐसा बहुवचन का प्रयोग करेगा। इस तरह विवक्षाभेद से दोनों प्रयोग सुघटित बन जाते हैं । विवक्षा वक्ता की इच्छा को कहते हैं । वक्ता की इच्छा का 'तात्पर्य' शब्द से भी व्यवहार किया जाता है । तात्पर्यभेद से प्रयोग में भेद होना शब्दशास्त्र के आचार्यों ने मान्य किया है । घटादि वस्तु में एकत्व, द्वित्व, बहुत्व वास्तविक ही रहते हैं । तथापि विवक्षाभेद से एकवचन, द्विवचन और बहुवचन के प्रयोग भी शाब्दिकलोक मान्य करते हैं क्योंकि वैसे प्रयोग लोक में प्रसिद्ध हैं । व्याकरणशास्त्र लोकानुसारी माना गया है । व्याकरण सूत्रकारों ने एकत्व विवक्षा रहने पर एकवचन हो और द्वित्व विवक्षा रहने पर द्विवचन का प्रयोग हो, तथा बहुत्व विवक्षा रहने पर बहुवचन का प्रयोग हो इस आशय के सूत्रों को बनाया है, यह व्याकरणशास्त्र की नीति है, इसी को शाब्दन्याय कहते हैं । इसी शाब्दन्याय के अनुसार एकत्व विवक्षा रहने पर एकवचन का प्रयोग होगा, परन्तु यह एकत्व विवक्षा तब ही होगी जब द्रव्य को उद्भूत और पर्याय को अनुद्भूत माना जायगा । तथा बहुत्व विवक्षा तब ही होगी जब द्रव्य को अनुद्भूत और पर्याय को उद्भूत माना जायगा ऐसा मानना आवश्यक भी है, क्योंकि तात्पर्य-ज्ञान को शाब्दबोध के प्रति कारण सभी सिद्धान्त में माना गया है । अन्यथा दो अर्थवाले या अधिक अर्थवाले शब्दों का जहाँ प्रयोग होता है, वहाँ शाब्दबोध नहीं होता है जब तक तात्पर्यज्ञान नहीं होता है, वह हो जायगा । इसलिए तात्पर्यज्ञान को शाब्दबोध के प्रति कारण मानना आवश्यक है । प्रकरण आदि के पर्यालोचन से तात्पर्य का निश्चय होने पर दो अर्थवाले या अधिक अर्थवाले शब्दों का जहाँ प्रयोग होता है, वहाँ शाब्दबोध होता ही है । इसलिए विवक्षाभेद से "गुरुः"–"गुरवः" इन दोनों प्रयोगों के होने में स्याद्वादियों को कोई प्रकार की अनुपपत्ति नहीं है ।

[एक साथ एक वचन–बहुवचन प्रयोग की उपपत्ति]

"यदा तूभयो०" इत्यादि– यहाँ यह शंका हो सकती है कि–"द्रव्य की उद्भूतत्व विवक्षा रहने पर एकवचन का प्रयोग होता है और पर्यायों की उद्भूतत्व विवक्षा रहने

अत एव शबलरूपत्वे कथमेकतरप्रतिपत्तिरिति परास्तम् । सन्निकर्षविप्रकर्षादिवशात् यथाक्षयोपशमं द्रव्यपर्यायप्रधानभावेनार्थन्यायाद्भावेनाप्रधानगुणभूतेऽपि वस्तुनि सत्त्वघटत्वादिप्रतिपत्तेः। तदिदमुक्तम्–"अर्पितानर्पितसिद्धेः" (तत्त्वार्थ ५–३१) इति । अधिकं त्रिसूत्र्यालोके ।

पर बहुवचन का प्रयोग होता है, ऐसा समाधान जो आपने दिया है वह तो ठीक है, क्योंकि ये दोनों प्रकार के प्रयोग कादाचित्क होते हैं। परन्तु जहाँ किसी व्यक्ति को द्रव्य और पर्याय इन दोनों में उद्भूतत्व विवक्षा होगी, वहाँ एकवचन या बहुवचन इन दोनों में से किस का प्रयोग होगा ?" -इस शंका का समाधान "तदा भवतु" इत्यादि पंक्ति से दिया जाता है कि "घट" द्रव्य है और घटीयरूपरसादि घट के पर्याय हैं और द्रव्य पर्यायों का सम्बन्ध जैनदर्शन के अनुसार कथंचित्तादात्म्यरूप माना गया है। इसलिए वस्तु द्रव्य-पर्याय उभयात्मक होती है, ऐसा स्याद्वादियों का सिद्धान्त है। अतः जहाँ द्रव्य और पर्याय इन दोनों में उद्भूतत्व की विवक्षा होती है, वहाँ द्रव्यापेक्षया वस्तु में एकवचन का प्रयोग और पर्यायापेक्षया बहुवचन का प्रयोग एक ही काल में होता ही है। जैसे- "घटस्य रूपादयः" ऐसा प्रयोग एककाल में ही होता है। यहाँ घटरूप द्रव्य में उद्भूतत्व की विवक्षा होने से घटशब्द से एकवचन विभक्ति आई है और उस घटद्रव्य से सम्बद्ध कथञ्चित् तादात्म्यापन्न रूपादि पर्यायवाचक रूपादि शब्द से पर्याय में उद्भूतत्व विवक्षा होने से बहुवचन विभक्ति भी प्रयुक्त हुई है। अत एव एकवचन और बहुवचन दोनों का प्रयोग एक काल में एक वस्तु के लिए जैन सिद्धान्त में युक्तियुक्त ही है।

[विवक्षाभेद से विवक्षितधर्म की नियत प्रतिपत्ति]

"अत एवे"त्यादि=विवक्षाभेद से कहीं एकवचन का प्रयोग, कहीं बहुवचन का प्रयोग कहीं एककाल में ही एकवचन-बहुवचन दोनों का प्रयोग जैसे युक्तियुक्त होते हैं, वैसे विवक्षाभेद से ही अनन्तधर्मात्मक वस्तु होने पर भी कहीं एक वस्तु की, कहीं अनेक वस्तु की प्रतिपत्ति होती है। तब जो किसी ने यह शंका उठाई है कि- "वस्तु यदि शबलरूप मानी जाय अर्थात् अनन्त धर्मात्मक मानी जाय तो घटादि शब्द के प्रयोग से घटादिगत भेदाऽभेद, नित्यत्व-अनित्यत्व, सत्त्व-असत्त्व वगैरह सभी धर्मों की प्रतीति होनी चाहिए, किन्तु घटादि शब्द के प्रयोग होने पर होती नहीं है। इसीलिए वस्तु को शबलरूप अर्थात् अनन्तधर्मात्मक मानना उचित नहीं है"– इस आशंका का समाधान विवक्षाभेद स्वीकार करने से हो जाता है। जिस धर्म की विवक्षा रहेगी, उसी धर्म की प्रतीति घटादि शब्दों के श्रवण होने पर होगी। अविवक्षित धर्मों की प्रतीति नहीं होगी इस तरह एकतर की प्रतिपत्ति होने में कोई बाधा उपस्थित नहीं होती है। इसी वस्तु का प्रतिपादन 'सन्निकर्षविप्रकर्षादिवशात्'इत्यादि ग्रन्थ से स्वय उपाध्यायजी करते हैं।

इस ग्रन्थ का आशय यह है कि वस्तुमात्र अनन्तधर्मात्मक है और उन अनन्तधर्मों का कथञ्चित् तादात्म्यरूप सम्बन्ध उस वस्तुरूप धर्मी में सदा रहता ही है। "कथञ्चित्

'तादात्म्य'' शब्द से 'अविष्वग्भाव' अभिप्रेत है अर्थात् जिस वस्तु में जो अनन्तधर्म रहते हैं वे धर्म उस वस्तु से पृथग् नहीं है। तात्पर्य यह है कि वे धर्म अपने धर्मी से न तो अत्यन्त भिन्न है और न अत्यन्त अभिन्न है तथापि जिस धर्म का प्रतिपादन अभीष्ट होता है तद्विषयक ज्ञानावरणीय कर्म का क्षयोपशम होने से वह धर्म बुद्धि का विषय होता है। इसलिए वह धर्म धर्मी के साथ सन्निकृष्ट माना जाता है। तथा जिस धर्म का प्रतिपादन करने का प्रकृत में कुछ प्रयोजन नहीं है उस धर्म का प्रतिपादन अभीष्ट नहीं होता है। इसलिए तद्धर्मविषयक ज्ञानावरणीय कर्म का क्षयोपशम भी उस काल में नहीं रहता है। इसलिए वह धर्म उस धर्मी से उस काल में असन्निकृष्ट माना जाता है क्योंकि वह धर्म उस काल में बुद्धिगत नहीं रहता है। ऐसे ही प्रकरणवशात् कोई धर्म किसी काल में बुद्धिगत होता है और जिन का प्रकरण आदि नहीं रहता है वे धर्म बुद्धिगत नहीं होते हैं। इसलिए बुद्धि के सम्बन्ध और असम्बन्ध से सन्निकर्ष और असन्निकर्ष की व्यवस्था होती है। जब द्रव्यविषयक ज्ञानावरणीय कर्म का क्षयोपशम रहता है तब द्रव्य में प्रधानता रहती है परन्तु उस समय भी पर्यायों का आर्थन्याय से भाव उस वस्तु में रहता ही है। तथा पर्यायविषयक ज्ञानावरणीय कर्म का जब क्षयोपशम रहता है, उस समय पर्याय में प्रधानता रहती है तथापि आर्थन्याय से द्रव्य की भी सत्ता वहाँ रहती ही है।

[आर्थन्याय का स्पष्टीकरण]

शब्द द्वारा एक पदार्थ का ज्ञान होने पर उस पदार्थ से सम्बन्धित अन्य पदार्थ का जो ज्ञान होता है उसी को आर्थन्याय कहते हैं। जैसे–"राजा आगतः" इस वाक्य से राजा का आगमन शब्द से बोधित होता है और राजसम्बन्धि राजभृत्य, दीवान वगैरह का आगमन भी ज्ञात हो जाता है। क्योंकि राजा भृत्यों के विना अकेले ही कहीं आता जाता नहीं है। वहाँ राजभृत्य का आगमन जो प्रतीत होता है–वह शब्द से नहीं प्रतीत होता है क्योंकि 'राजा आगतः' इस वाक्य में भृत्यबोधक कोई शब्द नहीं है, किन्तु शब्दबोधित राजा के आगमनरूप अर्थ से ही भृत्यागमनरूप अर्थ का भी ज्ञान हो जाता है। इसी का शास्त्र में आर्थन्याय शब्द से शास्त्रकार लोग व्यवहार करते हैं। कहीं कहीं तो आर्थन्याय के स्थान में "अर्थात्" अथवा "अर्थतः" इन शब्दों का भी व्यवहार शास्त्र में और लोक में भी होता है। इसलिए द्रव्य की प्रधानता का ज्ञान जहाँ होता है, वहाँ गौणरूप से पर्याय की भी सत्ता रहती है, तथा पर्याय का प्रधान भाव से जहाँ ज्ञान होता है वहाँ भी आर्थन्याय से द्रव्य की सत्ता भी प्रतीत होती है। इसलिए अनन्तधर्मात्मक वस्तु के धर्मों में अपेक्षाकृत गौण-प्रधान भाव होने पर भी अनन्तधर्मात्मक वस्तु तो स्वयं न प्रधानभूत है, न गुणभूत है। ऐसी वस्तु में शबलरूपता होने पर भी क्षयोपशमानुसार सत्त्व-घटत्वादि एकतर धर्म की प्रतिपत्ति होने में कोई बाधा नहीं है।

[अर्पितानर्पित सूत्र का तात्पर्य]

इस वस्तु को प्रमाणित करने के लिए तत्त्वार्थ सूत्रकार की सम्मति "तदिदमुक्तम्"

द्वौ मूलभेदौ, द्रव्यार्थिकः पर्यायार्थिकश्च । तत्र "द्रव्यमात्रग्राही नयो द्रव्यार्थिकः ।" अयं हि द्रव्यमेव तात्त्विकमभ्युपैति, उत्पादविनाशौ पुनरतात्त्विकौ आविर्भावतिरोभावमात्रत्वात् ।

इत्यादि ग्रन्थ से प्रदर्शित करते हैं । "अर्पितानर्पितसिद्धेः" इस सूत्र से इसी वस्तु का सूत्रकार ने भी समर्थन किया है । सूत्रकार का आशय यह है कि सभी वस्तुरूप धर्मी अनेक धर्मों से युक्त हैं तो भी जब जैसा प्रयोजन होता है, तब तद्धर्मवाचक शब्द के द्वारा प्रयोजन विषयीभूत सम्बन्धित धर्म का बोध किया जाता है । शब्द के द्वारा विवक्षित धर्म को बोधित करना ही सूत्रगत "अर्पित" शब्द का अर्थ है । जिस धर्म का बोध करने में प्रयोजन नहीं रहता है, वह धर्म शब्द के द्वारा बोधित नहीं किया जाता है, यही सूत्रगत "अनर्पित" शब्द का अर्थ है । तथापि अनर्पित धर्म की सिद्धि अर्थात् ज्ञान गौणभाव से होता ही है । अर्पित से अनर्पित धर्म की सिद्धि होती है, यह सूत्रार्थ निकलता है । जिस को रक्तकमल का प्रयोजन होता है, वह "रक्तं कमलं आनय" इस वाक्य का प्रयोग किसी के प्रति करता है । यहाँ पर कमलगत रक्तत्व प्रयोजन से सम्बन्धित है । इसलिए रक्त पद से अर्पित किया गया है, यहाँ रक्तत्व धर्म प्रधानरूप से अर्पित है । उस अर्पित रक्तत्व धर्म से अनर्पित श्वेतत्व नीलत्वादि धर्मों का गौणरूप से बोध होता ही है । क्योंकि कमलरूप धर्मी में इन सभी धर्मों का सद्भाव है । यदि कमल में श्वेतत्व नीलत्वादि धर्मों का सद्भाव न होता, तो इन की व्यावृत्ति के लिए रक्त पद का जो प्रयोग किया गया है वह अनर्थक बन जाता । इसलिए अर्पित धर्म से अनर्पित धर्मों की सिद्धि वस्तुमात्र में माननी चाहिए । ऐसा मानने पर वस्तु की अनेकान्तात्मकता सिद्ध हो जाती है । इसी सिद्धि के आशय से यह सूत्र प्रवृत्त है । उपाध्यायजी ने भी अपने शब्दों से इसी अनन्तधर्मात्मक वस्तु की सिद्धि की है । उसका समर्थन इस सूत्र से उक्तरीति से होता है । अतः ग्रन्थकार के कथित अर्थों को यह सूत्र प्रमाणित करता है, इसलिए इस सूत्र को प्रमाणरूप से प्रदर्शन करना योग्य ही है । उपाध्यायजी यह भी सूचित करते हैं कि जिस को इस से अधिक अर्थ की जिज्ञासा हो, वह 'त्रिसूत्र्यालोक' को देखे । त्रिसूत्र्यालोक में उन्होंने और भी विशेषरूप से अनेकान्त वस्तु की सिद्धि की होगी, परन्तु खेद की बात है कि 'त्रिसूत्र्यालोक' ग्रन्थ आज हम लोगों को उपलब्ध नहीं है ।

[द्रव्यार्थिक नय के अभिप्राय का स्पष्टीकरण]

"द्वौ मूल" इत्यादि– पूर्वोक्तरीति से वस्तु में अनन्तधर्मात्मकत्व सिद्ध होने के बाद, अनेकान्तात्मक वस्तु के द्रव्य और पर्याय इन दोनों अंशों में से किसी एक अंश का प्रधानतया ग्राहक अभिप्रायविशेष ही नय है, यह सिद्ध हो जाता है । उस नय के मूल भेद दो हैं–द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक । ऐसे तो नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ और एवंभूत इस रीति से सात नय शास्त्रकारों ने दिखाये हैं, तथापि उन सातों भेदों के संग्राहक द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक इन दोनों भेदों का 'मूलभेद' पद से ग्रन्थकार ने परिचय दिया है । इन दोनों भेदों में से "द्रव्यार्थिक नय" उस को कहते हैं, जो

"पर्यायमात्रग्राही पर्यायार्थिकः" अयं ह्युत्पाद-विनाशपर्यायमात्राभ्युपगम-प्रवणः, द्रव्यं तु सजातीयक्षणपरम्परातिरिक्तं न मन्यते, तत एव प्रत्यभिज्ञाद्युत्पत्तेः ।

नय द्रव्यमात्र को ग्रहण करता है । यह नय द्रव्य को ही तात्त्विक मानता है, उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यस्वरूप वस्तुमात्र स्याद्वादसिद्धान्त में स्वीकृत है। इन में उत्पाद और विनाश ये दो पर्यायरूप हैं, इन दोनों को द्रव्यार्थिक नय वास्तविक नहीं मानता है और ध्रौव्य को वास्तविक मानता है। ध्रौव्य का ही स्थैर्य अथवा द्रव्य पद से व्यवहार किया जाता है। यह नय द्रव्य को ही केवल वास्तविक रूप से स्वीकार करता है इसीलिए "मात्र" पद का प्रयोग लक्षण में ग्रन्थकार ने किया है। मात्र पद से उत्पाद-विनाश रूप पर्यायों का व्यवच्छेद होता है । इस नय की दृष्टि से घटादि पर्याय मृत द्रव्य में रहते ही हैं । कुम्भकारादि व्यापार से उस का आविर्भाव होता है उसी को इस नय के मत से उत्पाद कहा जाता है । 'अपूर्वभवन' रूप उत्पाद को यह नय नहीं मानता है। इसी तरह मुद्गर-निपात आदि विनाशक व्यापार से घटादि पर्यायों का मृदात्मक द्रव्य में जो तिरोभाव हो जाता है, उसी को यह नय विनाश मानता है । अतः इस नय के मत से उत्पाद-विनाश जो घट शरावादि पर्यायों के होते हैं, वे वास्तविक नहीं हैं किन्तु मृदादि द्रव्य ही वास्तविक है । यह द्रव्यार्थिक नय का अभिप्राय है ।

[पर्यायार्थिक नय के अभिप्राय का स्पष्टीकरण]

"पर्यायमात्र" इत्यादि="नय" के मूल दो भेदों में से दूसरा भेद "पर्यायार्थिक नय" है । जो नय पर्यायमात्र का ग्रहण करावे, उस को पर्यायार्थिक नय कहते हैं । अनेकान्तात्मक वस्तु में एक अंश पर्याय भी है, केवल पर्याय को यह नय स्वीकार करता है, पर्याय पद से उत्पाद, विनाश इन दोनों का ग्रहण होता है । पर्यायार्थिक नय की दृष्टि से पर्याय ही वास्तविक है, वस्तुगत ध्रौव्यांश का स्वीकार यह नय नहीं करता । सजातीय अन्य अन्य पर्याय प्रतिक्षण होते रहते हैं, यह इसका मन्तव्य है। जैसे- घट प्रतिक्षण नया नया उत्पन्न होता रहता है, और प्रतिक्षण उसका विनाश भी होता रहता है, वह घटक्षणपरम्परा सजातीय है, उस में अत्यन्त सादृश्य है, इसलिए प्रतिक्षणभावि इन घटों में परस्पर भेद होने पर भी प्रतीत नहीं होता है। अतः वह क्षणपरम्परा ध्रुव जैसी प्रतीत होती है वही ध्रौव्यांश है अथवा द्रव्य है और वह वास्तविक नहीं है, क्योंकि क्षणपरम्परा से अतिरिक्त पर्यायों में अनुगत एक द्रव्य को यह नय नहीं मानता है । यहाँ यह आशंका हो सकती है कि-"स एवायं घटः-यह वही घट है"=यह प्रत्यभिज्ञा जो स्थिर द्रव्य को सिद्ध करती है वह पर्यायार्थिक नय के मत से कैसे बनेगी ? इसका समाधान "तत एव" इस पद से ग्रन्थकार देते हैं । इस समाधान का आशय यह है कि सजातीय क्षणपरम्परा ही इस प्रत्यभिज्ञा का विषय है, अतिरिक्त द्रव्य नहीं, घटक्षणपरम्परामात्र से "स एवायं घटः" यह प्रत्यभिज्ञा उत्पन्न होती है । 'बन्ध-मोक्ष व्यवस्था कैसे होगी ? यदि स्थिरद्रव्य न माना जाय'-यह एक आशंका पर्यायार्थिक नय के मत में खडी होती है, कारण इस के मत में आत्मा भी स्थिर द्रव्य नहीं है किन्तु आत्मक्षण परम्परा ही भेदप्रतीति न होने के कारण स्थिररूप से "स एवायं चैत्रः"

न चैवमितरांशप्रतिक्षेपित्वाद् दुर्नयत्वम्, तत्प्रतिक्षेपस्य प्राधान्यमात्र एवोपयोगात् एतद्विषयविस्तरस्तु नात्राभिधीयते ग्रन्थान्तरप्रसङ्गात् ।

इत्यादि प्रतीति में भासती है। तब तो क्षणिक आत्मपर्यायों में जिस को बंध होगा वह पर्याय शीघ्रविनाशी होने के कारण कालान्तरभावि मोक्षसमय तक रहेगा ही नहीं; जो मोक्षसमयभावि आत्मपर्याय होगा उस में मोक्षानुकूल साधन का अभाव ही रहेगा। क्योंकि सिद्धान्त यह है कि प्रायः अनेक जन्मार्जित साधनों से मोक्षगति प्राप्त होती है। यह नय किसी भी आत्मक्षण को अनेक जन्मव्यापिकाल तक स्थिर तो मानता ही नहीं है। तब 'यह बद्ध है-यह मुक्त है' यह व्यवस्था कैसे बनेगी ?' -इस आशंका का समाधान सूचित करने के लिए "प्रत्यभिज्ञाद्यपपत्तेः" इस पंक्ति में "आदि" पद का प्रयोग किया है।" "आदि" पद से यह सूचित होता है कि जैसे-सजातीय क्षणपरम्परा को विषय कर के "स एवायं घटः" इत्यादि प्रत्यभिज्ञा बनती है, उसी तरह आत्मक्षण परम्परारूप द्रव्य में बंध और मोक्ष दोनों का स्वीकार करेंगे। इसलिए जिस क्षण परम्परा में बंध कोई काल में रहेगा, उसी आत्मक्षण परम्परा में किसी काल में मोक्ष भी हो सकेगा। अतिरिक्त स्थिर द्रव्य का स्वीकार न करने पर भा बंध-मोक्ष व्यवस्था को यह नय उक्तरीति से ही सिद्ध करता है।

['मात्र' पद के प्रयोग से दुर्नयत्व की आपत्ति—शंका]

"न चैवमि"त्यादि—यहाँ पर यह आशंका उठती है कि—"द्रव्यमात्र का ग्राही नय द्रव्यार्थिक नय है, ऐसा द्रव्यार्थिक नय का लक्षण आपने बताया है। उस लक्षण में 'मात्र' पद का प्रवेश है, इस से "द्रव्येतराऽग्राहित्वे सति द्रव्यग्राहित्वं द्रव्यार्थिक-नयत्वम्" ऐसा लक्षण सिद्ध होता है उसका अर्थ यह हुआ कि जो द्रव्य से इतर पर्याय का ग्रहण न करावे वह "द्रव्यार्थिकनय" है। यहाँ "द्रव्येतराऽग्राहित्व" इतना अंश 'मात्र' पद से ही निकला है। यह नय द्रव्य से इतर जो पर्याय उत्पाद-विनाशरूप है, उसको तात्त्विक मानता नहीं है। तब तो द्रव्येतर अंश का प्रतिक्षेप इस नय से होता है इसलिए यह दुर्नय हो जायेगा क्योंकि नय का लक्षण इस में घटेगा नहीं, क्योंकि नय के लक्षण में तदितरांशाऽप्रतिक्षेपित्व विशेषण दिया गया है। यह तो "घटो अनित्य एव" इत्यादि तार्किकों का जो अभ्युपगम है वैसा ही सिद्ध होता है। 'घट अनित्य ही है' ऐसा मानकर तार्किक लोग घट में अनित्यत्व से इतर नित्यत्व का प्रतिक्षेप करते हैं इसलिए तार्किकों का अभ्युपगम जैसे दुर्नय है, वैसे यह भी दुर्नय बन जायगा, यह आपत्ति 'मात्र' पद के प्रवेश से होती है। ऐसे ही 'पर्यायमात्रग्राही पर्यायार्थिकः' इस लक्षण में भी 'मात्र' पद का प्रवेश होने से 'पर्यायेतराऽग्राहित्वे सति पर्यायग्राहित्वम्'-ऐसा लक्षण पर्यायार्थिक नय का सिद्ध होता है। इस लक्षण में भी पर्यायेतराऽग्राहित्व इतना अंश 'मात्र' पद से प्राप्त होता है, उस लक्षण का यह अर्थ निकलता है कि पर्याय से इतर जो द्रव्यांश उसका जो अग्राही अर्थात् प्रतिक्षेपक हो और पर्यायांश का बोधक हो वह नय पर्यायार्थिक नय है। यह नय-सजातीय क्षण परम्परा से अतिरिक्त स्थिर द्रव्य को नहीं मानता है इसलिए ध्रौव्यांश का प्रतिक्षेप इस नय से होता है, इस हेतु से इस नय में भी नय का लक्षण नहीं जाता है। अतः इसमें भी दुर्नयत्व की आपत्ति आती है।"—

आद्यस्य चत्वारो भेदाः, "नैगमः, सङ्ग्रहो, व्यवहारः, ऋजुसूत्रश्चेति" जिनभद्रगणिक्षमाश्रमणप्रभृतयः । ऋजुसूत्रो यदि द्रव्यं नाभ्युपेयात्तदा 'उज्जुसुअस्स एगे अणुवउत्ते एगं दव्वावस्सयं पुहुत्तं णेच्छइ'त्ति [अनु० द्वार–सू० १४] सूत्रं विरुध्येत ।।*

['प्राधान्य' सूचक होने से, मात्र पद से दुर्नयत्व की आपत्ति नहीं–उत्तर]

इस आशंका का समाधान "तत्प्रतिक्षेपस्ये"त्यादि ग्रन्थ से दिया जाता है कि घट अनित्य ही है, ऐसा तार्किकों का जो मन्तव्य है, उसमें नित्यत्व का गौणरूप से स्वीकार नहीं है, किन्तु प्रतिक्षेप ही है । इसलिए तार्किकों का अभ्युपगम भले ही दुर्नय हो परन्तु स्याद्वादी का अभ्युपगम दुर्नय नहीं है क्योंकि द्रव्यार्थिक नय के लक्षण में 'मात्र' पद से जो पर्यायांश का प्रतिक्षेप आपाततः प्रतीत होता है वह वस्तुतः पर्यायों का प्रतिषेध नहीं है, किन्तु द्रव्यार्थिक नय द्वारा द्रव्य का मुख्यरूप से अभ्युपगम दर्शाने में ही 'मात्र' पद का तात्पर्य है । पर्यायों का प्रधानरूप से वह स्वीकार नहीं करता है । इस से यह सिद्ध नहीं होता है कि पर्याय को मानता ही नहीं है, किन्तु सिद्ध यह होता है कि गौणरूप से पर्याय का भी स्वीकार करता है । इसलिए नय का लक्षण संगत होने में कोई बाधा नहीं होती है । अत एव दुर्नयत्व की आपत्ति भी नहीं है । यही स्थिति पर्यायार्थिक नय की भी है, उस में भी 'मात्र' पद से द्रव्यांश का प्रतिक्षेप नहीं किया जाता है, किन्तु पर्यायांश में प्राधान्य को वह नय मानता है और द्रव्य को भी गौणरूप से मानता ही है । लक्षण में प्रविष्ट 'मात्र' पद का द्रव्यप्रतिक्षेप में तात्पर्य नहीं है, किन्तु पर्यायांश के प्राधान्य में तात्पर्य है । इसलिए नय का लक्षण भी संगत हो जाता है । इस कारण से मात्र पद के प्रवेश होने पर भी द्रव्यार्थिक या पर्यायार्थिक नय में दुर्नयत्व की आपत्ति नहीं आती है ।

"एतद्विषयः"=इस विषय का विचार विस्तृत रूप से ग्रन्थान्तर में किया गया है। इस ग्रन्थ में भी यदि इस विषय का विस्तृत विचार कर दिया जाय तो, यह एक दूसरा ही ग्रन्थ बन जायगा, सो न हो इसलिए यहाँ विस्तृत विचार का समावेश नहीं किया गया है । यह ग्रन्थ तो "नयरहस्य" ग्रन्थ है । इस में नयों के रहस्यार्थों का वर्णन मात्र ही अभिप्रेत है–अति विस्तार नहीं ।

[ऋजुसूत्र के साथ द्रव्यार्थिक के चार भेद–जिनभद्रगणी आदि]

"आद्यस्ये"त्यादि– "द्रव्यार्थिकनय" के नैगम, संग्रह, व्यवहार और ऋजुसूत्र ये चार भेद माने गये हैं–यह मत जिनभद्रगणिक्षमाश्रमण आदि प्राचीन आचार्यों का है । ऋजुसूत्र का द्रव्यार्थिक नय में अन्तर्भाव यदि नहीं किया जाय तो "उज्जुसुअस्स०" इत्यादि सूत्र का विरोध आता है । इस सूत्र का पाठ "अनुयोग द्वार" ग्रन्थ में "उज्जुसुअस्स एगो अणुवउत्तो आगमतो एगं दव्वावस्सयं पुहुत्तं णेच्छइ" ऐसा दिया गया है। ऋजुसूत्र वर्त्तमानकाल भावि वस्तु को ही स्वीकार करता है, अतीत वस्तु को नहीं मानता

---

* ऋजुसूत्रस्य एकोऽनुपयुक्त एक द्रव्यावश्यकं, पृथक्त्वं नेच्छति । [द्रष्टव्य–अनुयोगद्वार सूत्र १४]

"ऋजुसूत्रवर्जास्त्रय एव द्रव्यार्थिकभेदा" इति तु वादिनः सिद्धसेनस्य मतम्, अतीतानागतपरकीयभेदपृथक्त्वपरित्यागादृजुसूत्रेण स्वकार्यसाधकत्वेन स्वकीयवर्त्तमानवस्तुन एवोपगमात् नाऽस्य तुल्यांश–ध्रुवांशलक्षणद्रव्याभ्युपगमः। अत एव नास्याऽसद्घटितभूतभाविपर्यायकारणत्वरूपद्रव्यत्वाभ्युपगमोऽपि। उक्तसूत्रं त्वनुपयोगांशमादाय वर्त्तमानावश्यकपर्याये द्रव्यपदोपचारात्समाधेयम्। पर्यायार्थिकेन मुख्यद्रव्यपदार्थस्यैव प्रतिक्षेपाद्ध्रुवधर्माधारांशद्रव्यमपि नास्य विषयः, शब्दनयेष्वतिप्रसङ्गादित्येतत्परिष्कारः।

है, अनागत वस्तु भी नहीं मानता है। क्योंकि अतीत वस्तु तो विनष्ट हो गई है और अनागत तो उत्पन्न ही नहीं हुई है। वर्त्तमानकालवर्त्ती वस्तु भी जो स्वकीय है, उसी को ऋजुसूत्र मानता है क्योंकि उसी से उसका कार्य सिद्ध होता है। वर्त्तमानकालवर्त्ती परकीय वस्तु को नहीं मानता है, क्योंकि उससे उसका कार्य नहीं सिद्ध होता है। जैसे–परकीय धन को कोई (अपना) धन नहीं समझता है क्योंकि परकीय धन से उस व्यक्ति का कार्य तो नहीं सिद्ध होता है, स्वकीय धन से ही स्वकार्य सिद्ध होता है। इसलिए स्वकीय धन को सभी लोग अपना धन मानते हैं। इसी तरह ऋजुसूत्र वर्त्तमानकालवर्त्ती होने पर भी जो स्वकीय वस्तु है उसी को मानता है। इस हेतु से उपयोग रहित एक देवदत्तादि इसके मत में 'आगमतः एक द्रव्य आवश्यक' है। वस्तु में अतीत अनागत भेद से और परकीय भेद से पृथक्त्व ऋजुसूत्र नहीं मानता है अर्थात्–वस्तु का भेद नहीं मानता है, किन्तु वस्तु को एक ही मानता है, ऐसा अर्थ मलधारिवृत्ति में इस सूत्र का दिया गया है। इसलिए इस सूत्र से द्रव्यावश्यक ऋजुसूत्र को मान्य है, तब यदि ऋजुसूत्र द्रव्य को नहीं मानता है, ऐसा कहें तो उक्तसूत्र का विरोध स्पष्टरूप से हो जाता है। अतः ऋजुसूत्र का द्रव्यार्थिक नय में ही अन्तर्भाव करना चाहिए ऐसा जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण आदि का मत है।

[ऋजुसूत्र द्रव्यार्थिकनय का भेद नहीं है–वादिसिद्धसेनमत]

"ऋजुसूत्रवर्जास्त्रय"–इत्यादि– "वादी दिवाकर सिद्धसेन" द्रव्यार्थिक के तीन ही भेद मानते हैं-नैगम, संग्रह और व्यवहार। ऋजुसूत्र का समावेश द्रव्यार्थिक में वे नहीं करते हैं। तब यह शंका उठती है कि–"ऋजुसूत्र" का द्रव्यार्थिक में समावेश न किया जाय तो, पूर्वोक्त "उज्जुसुअस्स०" इत्यादि सूत्र का विरोध वादि दिवाकर के मत में होगा, क्योंकि उक्त सूत्र– 'एक द्रव्यावश्यक का स्वीकार ऋजुसूत्र करता है'– ऐसा बता रहा है।'–इस आशंका के समाधान के लिए "उपाध्यायजी" वादी दिवाकर के मत का विश्लेषण "अतीतानागत" इत्यादि वाक्य से करते हैं–जिसका तात्पर्य यह है कि अतीत अनागत एवं परकीय भेद स्वरूप पृथक्त्व का ही ऋजुसूत्र त्याग करता है। ऋजुसूत्र के मत में वर्त्तमान क्षणमात्र में रहनेवाली वस्तु का ही स्वीकार है, क्योंकि उसी से स्वकीय कार्य की सिद्धि होती है। अतीत, अनागत उसके मत में है ही नहीं। दूसरे के पास

रही हुई वस्तु भी सद् वस्तु नहीं है, ऐसा ऋजुसूत्र का मन्तव्य है। इसलिए तुल्यांश और ध्रुवांश लक्षण द्रव्य को वह नहीं मानता अर्थात् तिर्यक् सामान्य और ऊर्ध्वता सामान्य को ऋजुसूत्र नहीं मानता है, इसलिए द्रव्यार्थिक में ऋजुसूत्र का समावेश नहीं होता है। यदि ऋजुसूत्र तिर्यक् सामान्य और ऊर्ध्वता सामान्य को मानता होता, तब तो उसका द्रव्यार्थिक में समावेश सम्भव होता, वह तो नहीं मानता है। अतः ऋजुसूत्र का द्रव्यार्थिक में समावेश नहीं हो सकता है। उक्त सूत्र में "पृथक्त्वं नेच्छति" इस अंश का सामान्यरूप से भेदमात्र निषेध में तात्पर्य नहीं हैं, यदि ऐसा तात्पर्य होता तो विरोध आता, क्योंकि पर्यायार्थिक भेद मानता है, ऋजुसूत्र यदि भेद सामान्य को ही नहीं माने तो ऋजुसूत्र में पर्यायार्थिकत्व भी सिद्ध न होने से पूर्वोक्त सूत्र का विरोध उपस्थित हो सके, परन्तु ऋजुसूत्र तो अतीतभेद, अनागतभेद, परकीय भेदरूप जो पृथक्त्व उसीको केवल नहीं मानता है। इसीलिए उक्त सूत्र का विरोध वादीदिवाकर के मत में नहीं होता है।

[अनुपयोग अंश को लेकर द्रव्यपद का औपचारिक कथन]

अत एव इत्यादि-ऋजुसूत्र तुल्यांश-ध्रुवांश लक्षण द्रव्य को नहीं मानता है, इसी हेतु से "भूतपर्यायकारणत्वरूप द्रव्यत्व" तथा भाविपर्याय कारणत्वरूप द्रव्यत्व को भी नहीं मानता है। इसका तात्पर्य यह है कि ऋजुसूत्र वर्त्तमानवस्तु को ही स्वीकारता है। भूत और भविष्यत् वस्तु तो वर्त्तमानकाल में असत् रहती है, इसलिए "भूतपर्याय कारणत्वरूप" और "भविष्यत्पर्यायकारणत्वरूप द्रव्यत्व" असत्घटित हो जाता है, असत्-घटित होने के कारण ऋजुसूत्र के स्वीकार का विषय उस तरह का द्रव्यत्व नहीं होता है। उक्तसूत्र में ऋजुसूत्र का, जो द्रव्यावश्यक स्वीकार की बात कहकर द्रव्यार्थिक में अन्तर्भाव किया है, वह वर्त्तमानावश्यक पर्याय में अनुपयोग रूप अंश को लेकर द्रव्यपद का उपचार कर के किया है। वास्तविक द्रव्यत्व तो ऋजुसूत्र में नहीं है, औपचारिक द्रव्यत्व स्वीकार करने पर भी पर्यायार्थिकत्व की हानि ऋजुसूत्र में नहीं होती है। कारण पर्यायार्थिक मुख्य द्रव्यपदार्थ का ही निषेध करता है, आरोपित द्रव्यत्व होने पर भी पर्यायार्थिक को कोई बाधा नहीं है। 'अनुपयोगांशमादाय....' यह वाक्य जो उपाध्यायजी ने दिया है, उसका तात्पर्य यह है कि ऋजुसूत्र वर्त्तमानवस्तु मात्र का ग्राहक है। इस लिए वर्त्तमानावश्यक पर्याय को ही मानता है। वर्त्तमान आवश्यक पर्याय में जब कर्त्ता का उपयोग [दत्तचित्तता] नहीं हैं तब भावविमुक्त होने से उस आवश्यक पर्याय में द्रव्य-पद का उपचार सूत्र में हुआ है, अनुपयोग अंश को लिये बिना द्रव्य पद का उपचार नहीं हो सकता है। ऋजुसूत्र अध्रुव धर्मों के आधारभूत अंश स्वरूप द्रव्य भी नहीं मानता है। अतः द्रव्य का यह लक्षण भी ऋजुसूत्र में नहीं जाता है, इसलिए भी ऋजुसूत्र में द्रव्यार्थिकत्व होने की सम्भावना नहीं रहती है। यदि अध्रुवधर्माधारांशद्रव्य ऋजुसूत्र का विषय है ऐसा मानकर ऋजुसूत्र को द्रव्यार्थिक बताने का प्रयास किया जाय तो शब्दनयों में भी द्रव्यार्थिकत्व का अतिप्रसंग होगा क्योंकि साम्प्रत, समभिरूढ और एवम्भूत, शब्दनय के ये तीनों भेद ऋजुसूत्र के विषय में ही अर्थात् स्वकीयवर्त्तमान वस्तु

पर्यायार्थिकस्य त्रयो भेदाः—"शब्दः, समभिरूढः, एवम्भूतश्चेति" सम्प्रदायः। "ऋजुसूत्राद्याश्चत्वार" इति तु वादी सिद्धसेनः। तदेवं सप्तोत्तरभेदाः।

शब्दपदेनैव साम्प्रतसमभिरूढैवम्भूतात्मकनयभेदतयोपसङ्ग्रहात्पञ्चेत्यादेशान्तरम्। ते च प्रदेश—प्रस्थक—वसतिदृष्टान्तैर्यथाक्रमं विशुद्धिभाजः। तथाहि—नैगमनयस्तावद्धर्माऽधर्माकाशजीवस्कन्धानां* तद्देशस्य चेति षण्णां प्रदेशमाह।

में ही प्रवृत्त होते हैं जैसे कि वर्तमान वस्तु में सूक्ष्म पर्यायविशुद्धि की अपेक्षा से साम्प्रतनय प्रवृत्त होता है, वर्त्तमानवस्तु में ही सूक्ष्मतर पर्यायविशुद्धि की अपेक्षा से समभिरूढ प्रवृत्त होता है, तथा वर्त्तमानवस्तु में ही सूक्ष्मतम पर्यायविशुद्धि की अपेक्षा से एवम्भूत प्रवृत्त होता है। तब ऋजुसूत्र के विषय में प्रवृत्त होनेवाले इन तीनों शब्दनयों में भी द्रव्यार्थिकत्व अवश्य आ जायगा। इस हेतु से ऋजुसूत्र में द्रव्यार्थिकत्व का अभ्युपगम करना योग्य नहीं है, ऐसा श्री सिद्धसेन दिवाकरजी का आशय है।

"पर्यायार्थिकस्येति"ति-पर्यायार्थिक के तीन भेद हैं-शब्द, समभिरूढ और एवम्भूत। यह सम्प्रदाय का मत है, अर्थात् परम्परा का मत है। यह मत जिनभद्रगणिक्षमाश्रमण-आदि आचार्यों का है। वादी सिद्धसेन तो पर्यायार्थिक के चार भेद मानते हैं-ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ और एवम्भूत। इस तरह द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक इन दोनों नयों के अवान्तर भेदों का संकलन करने पर नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ और एवम्भूत ये सात प्रकार नय के सिद्ध होते हैं।

"शब्दपदेनैवे"ति-किसी आचार्य के मत से नय के पाँच ही भेद हैं-नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र और शब्दनय। इस मत में साम्प्रत, समभिरूढ और एवम्भूत इन नयों के लिये साधारण 'शब्दनय' शब्द के प्रयोग से उसमें उनका अन्तर्भाव मान लिया जाता है, इसलिए नयों की संख्या पाँच ही सिद्ध होती है।

"ते चे०" ति-वे पूर्वोक्त सात प्रकार के नयों में पूर्व पूर्व नयों की अपेक्षा उत्तरोत्तर नय "प्रदेश-प्रस्थक और वसति" इन दृष्टान्तों के द्वारा विशुद्धियुक्त माने गये हैं। अर्थात्-नैगम की अपेक्षा से संग्रह विशुद्ध है, संग्रह की अपेक्षा से व्यवहार विशुद्ध है। व्यवहार की अपेक्षा से ऋजुसूत्र विशुद्ध है, ऋजुसूत्र की अपेक्षा से शब्दनय विशुद्ध है और शब्दनय की अपेक्षा से समभिरूढ विशुद्ध है, समभिरूढ की अपेक्षा से एवम्भूतनय विशुद्ध है, इस तरह क्रमिक विशुद्धि उत्तरोत्तर नयों में है। वस्तु के स्थूल स्वरूप को न पकड कर उसके उत्तरोत्तर सूक्ष्म स्वरूप पर ध्यान खिंचना-यह विशुद्धि शब्द का अभिप्राय है।

---

* स्कन्ध शब्दका पारिभाषिक अर्थ है कोई भी अखंड द्रव्य या उसका कोई एक खंड। उसके एक उपखंड को ही देश कहा जाता है और उसी के चरम अविभाज्य अंश को प्रदेश कहा जाता है। यहाँ स्कन्ध शब्द महाकाय पुद्गलद्रव्य के लिये प्रयुक्त है।

देशप्रदेशौ नातिरिच्यते "दासेन मे०" (खरः क्रीतो, दासो मम खरोऽपि मे ॥)" इत्यादिन्यायाद् देशस्य स्वीयत्वेन तत्प्रदेशस्यापि स्वीयत्वाऽव्यभिचारात् "पञ्चानामेव प्रदेशः" इति सङ्ग्रहः ॥

व्यवहारस्त्वाह—पञ्चानां प्रदेशस्तदा स्याद्यदि साधारणः स्यात्, यथा पञ्चानां गोष्ठिकानां हिरण्यमिति। प्रकृते तु प्रत्येकवृत्तिः प्रदेश इति 'पञ्चविधः प्रदेशः'

[प्रदेश दृष्टान्त से नैगमनय का निरूपण]

"तथाहि०" इति–"प्रदेश" दृष्टान्त से नयों में विशुद्धि का प्रदर्शन "तथाहि" इत्यादि ग्रन्थ से करते हैं। इन नयों में प्रथम "नैगमनय" धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाश, जीव, स्कन्ध और इन पाँचों का देश–इस प्रकार छ वस्तुओं के प्रदेश को मानता है। यहाँ पुद्गल शब्द छोड कर स्कन्ध शब्द के प्रयोग का कारण यह है कि "स्कन्ध" पद से "स्कन्धात्मक" पुद्गल द्रव्य ही विवक्षित है, परमाणु स्वरूप पुद्गल द्रव्य नहीं, क्योंकि परमाणुरूप पुद्गल तो स्वयं प्रदेशरूप है उसका न तो देश है न प्रदेश है। ऐसे ही काल द्रव्य का भी देश अथवा प्रदेश नहीं होता है क्योंकि वह स्वयं विशुद्ध समय-रूप है, इसलिये उसका ग्रहण नहीं किया है यह ध्यान में रखना चाहिए।

[प्रदेश दृष्टान्त से संग्रहनय का निरूपण]

"देशप्रदेशौ०" इति–संग्रहनय का मत यह है कि यदि धर्मादि का अपने देश में स्वीयत्व=स्वसम्बन्धित्व विद्यमान है तो धर्मादि देश के प्रदेश में भी स्वीयत्व अवश्य आ जाता है। जैसे–कोई व्यक्ति का दास अर्थात्–भृत्य यदि 'खर' याने गर्दभ को बिकत लेवे तो वह व्यक्ति अपने दास से गृहीत उस गर्दभ को भी अपना दास ही समझता है, क्योंकि अपने दास में उस व्यक्ति को स्वीयत्व बुद्धि है। इसलिए दास सम्बन्धी गर्दभ में भी स्वीयत्व बुद्धि उसको होती ही है। इस न्याय से धर्मादि देश में जब स्वीयत्व रहता है, तब धर्मादि देश सम्बन्धी प्रदेश में भी स्वीयत्व का रहना अनिवार्य है। अतः धर्म, अधर्म, आकाश, जीव, स्कन्ध इन पाँच का ही प्रदेश संग्रहनय मानता है। धर्मादि के देशों का प्रदेश जैसे–नैगमनय मानता है, वैसे–संग्रहनय नहीं मानता है, यही नैगमनय की अपेक्षा से संग्रहनय की प्रदेश दृष्टान्त से शुद्धियुक्तता है।

[प्रदेश दृष्टान्त से व्यवहारनय का निरूपण]

"व्यवहार०" इत्यादि–संग्रहनय के समान व्यवहारनय–'धर्माधर्मादि पांचों का प्रदेश है'–ऐसा नहीं मानता है। इस का आशय यह है कि जो एक वस्तु अनेक वस्तुओं का सम्बन्धि हो उसी में अनेकवस्तुसम्बन्धिता का व्यवहार मान्य होता है। जैसे एक गोष्ठि में रहनेवाले पाँच व्यक्तिओं का स्वामित्व जिस बहुमूल्यक सुवर्णखण्ड में हो, उस सुवर्ण खण्ड के लिए ऐसा व्यवहार होता है कि 'पांचों व्यक्तिओं का यह सुवर्णखण्ड है' क्योंकि

इति भणितव्यम् । नन्वेवं 'घटपटयो रूपमि'त्यपि न स्यात्, द्वित्वाश्रयवृत्तित्वबोधे 'तयोर्घटरूपमि'त्यस्याप्यापत्तेः, द्विवृत्तित्वबोधे च प्रकृतप्रयोगस्याप्यनापत्तेरिति चेत्? न स्यादेव, एतादृशस्थले समुदितवृत्तित्वबोध एव व्यवहारसामर्थ्यात्, सङ्ग्रहाश्रयणात्तु सामान्यत एव साकांक्षत्वात् स्यादपि ॥

वह सुवर्णखण्ड पांचों व्यक्तियों से सम्बन्धित है। उसी तरह धर्म, अधर्म, आकाश, जीव और स्कन्ध (पुद्गल) इन पांचों से सम्बन्धित कोई एक प्रदेश होता तब वह सर्वसाधारण प्रदेश कहा जाता और तब 'पांचों का यह प्रदेश है' ऐसा व्यवहार हो सकता था, परन्तु पांचों से सम्बन्धित कोई एक साधारण प्रदेश तो है नहीं, किन्तु जो धर्म का प्रदेश है उस से भिन्न ही अधर्म का प्रदेश है, जो अधर्म का प्रदेश है उस से भिन्न ही आकाश का प्रदेश है। उसी तरह जीव का प्रदेश और स्कन्ध (पुद्गल) का प्रदेश भिन्न भिन्न है। इस हेतु से कोई भी प्रदेश साधारण न होने के कारण 'पाँचों का यह प्रदेश है' ऐसा व्यवहार सम्भव नहीं है। तब तो 'यह धर्म का प्रदेश है, यह अधर्म का प्रदेश है, यह आकाश का प्रदेश है, यह जीव का प्रदेश है,' ऐसा ही व्यवहार करना होगा। अतः 'प्रदेश पाँच प्रकार का है' ऐसा ही व्यवहार नय मानता है।

['घटपटयो रूपम्' इस प्रयोग के न होने की आपत्ति की शंका]

"नन्वेमि"त्यादि-यहाँ यह आशंका होती है कि-"घट और पट इन दोनों में रूप है" ऐसा व्यवहार होता है। वह व्यवहार व्यवहारनय के मत में नहीं होगा, कारण, जो रूप घट में है वह पट में नहीं है, और जो रूप पट में है वह घट में नहीं है। इसीलिए किसी एक रूप में घट-पट उभय की सम्बन्धिता नहीं है। यदि दोनों का एक साधारण रूप होता, तब तो उभयसम्बन्धिता होती, तब उक्त व्यवहार भी हो सकता, वह तो है नहीं। इसलिए 'घट-पट इन दोनों में रूप है' ऐसा व्यवहार नहीं होगा। इस आशंका के समाधान में यदि ऐसा कहा जाय कि-"घट-पट इन दोनों में रहा हुआ जो द्वित्व, तदाश्रय निरूपित वृत्तिता ही रूप में इस प्रतीति का विषय है और वह रूप में अबाधित है, क्योंकि द्वित्व का आश्रय घट है, तन्निरूपितवृत्तिता घटीय रूप में है वैसे ही द्वित्व के आश्रय पट के रूप में भी है, तब तो 'घट-पट इन दोनों में रूप है' ऐसा व्यवहार करने में कोई बाध नहीं है।"-तो यह समाधान भी समीचीन नहीं लगता है क्योंकि तब तो 'घट-पट दोनों में घटरूप है' ऐसा भी व्यवहार प्रामाणिक बन जायगा क्योंकि घट-पट गत द्वित्व का आश्रय घट भी है, पट भी है, उस में पटनिरूपितवृत्तिता घट रूप में यद्यपि नहीं है तथापि द्वित्वाश्रय जो घट, तन्निरूपितवृत्तिता तो घट रूप में है, इसलिए घट और पट, इन दोनों में घटरूप है, इस व्यवहार में या प्रतीति में कोई बाधक नहीं है। इस आपत्ति को दूर करने के लिए यदि "घट और पट इन दोनों में रूप है" इस वाक्य का ऐसा अर्थ करेंगे कि-घट-पट उभय निरूपितवृत्तिताश्रय रूप है, तब तो पूर्वोक्त प्रतीति में यद्यपि प्रामाणिकता की आपत्ति नहीं होगी, क्योंकि घटरूप में घट-पट उभय निरूपितवृत्तिता बाधित है। तथापि ऐसा अर्थ करना भी ठीक नहीं है, क्योंकि तब

ऋजुसूत्रस्तु ब्रूते– 'पञ्चविधः प्रदेशः' इत्युक्ते प्रतिस्वं पञ्चविधत्वान्वयात् पञ्चविंशतिविधत्वप्रसङ्गः । न च सामान्यतस्तदन्वयान्न बाध इति वाच्यम्, विशेषविनिर्मोकेण तदसिद्धेः । किं च, किमत्र पञ्चविधत्वम् ? 'पञ्चप्रकारत्वमि'ति चेत् ? कः प्रकारः ? [१]संख्या वा, [२]बुद्धिविशेषविषयत्वं वा, [३]भेदो वा ? नाद्यः, अनन्तेषु प्रदेशेषु पञ्चसंख्यावधारणाऽसिद्धेः । न द्वितीयः पञ्चप्रकारकबुद्धिविषयत्वस्य प्रत्येकमभाविनः पञ्चस्वप्यभावात् । न च 'गेहेषु शतमश्वा' इतिवत्प्रत्येकं प्रत्येकं धर्मप्रकारकबुद्धिविषयत्वं, तत्सामान्यविश्रामेऽनन्वयात्, विशेषविश्रामे च भजनानान्तरत्वात् । न तृतीयः, अतिरिक्तभेदाऽनिरुक्तेः । ततो भाज्यः प्रदेशः 'स्याद्धर्मास्तिकायस्य स्यादधर्मास्तिकायस्ये'त्यादि ॥

'घट और पट इन दोनों में रूप है' यह प्रकृतप्रयोग भी नहीं होगा क्योंकि किसी भी एक रूप में अर्थात् घटीयरूप में अथवा पटीयरूप में उभयनिरूपितवृत्तिता नहीं है । तब 'प्रदेश पाँच प्रकार का है' यह मान्यता व्यवहारनय के अनुसार जो है वह असंगत सी लगती है ।" —

[उक्त प्रयोग न होनेमें इष्टापत्ति—उत्तर]

इस सम्पूर्ण आशंका के समाधान में उपाध्यायजी कहते हैं कि 'घट और पट इन दोनों में रूप है' यह प्रयोग यदि व्यवहारनय के अनुसार नहीं हो सकता है तो यह आपत्ति नहीं किन्तु इष्टापत्ति ही है। आशय यह है कि ऐसे स्थलों में रूपात्मक एक व्यक्ति में घट और पट जैसे समुदित अर्थात् उभयात्मक पदार्थ निरूपितवृत्तित्व का ही बोध उत्पन्न करने में व्यवहार नय समर्थ होता है और एक रूपव्यक्ति में उभयनिरूपित वृत्तिता का सम्भव नहीं है इसलिए ऐसे प्रयोगों का न होना व्यवहारनय को इष्ट ही है । परन्तु इस तरह का प्रयोग होता ही नहीं, यह बात भी नहीं है क्योंकि संग्रहनय के अनुसार रूप शब्द का अर्थ रूपत्वेन रूपसामान्य माना जाता है । रूप सामान्यान्तर्गत किसी एक रूप में घटनिरूपितवृत्तिता है तो किसी एक रूप में पटनिरूपितवृत्तिता भी है । अतः इस रीति से रूपसामान्य में घटपटउभयनिरूपितवृत्तिता भी है । अतः 'घट और पट इन दोनों में रूप रहता है', ऐसा प्रयोग संग्रहनय का आश्रयण कर के हो भी सकता है ।

" ऋजुसूत्रस्त्वि "त्यादि– 'प्रदेश पाँच प्रकार का है' ऐसा प्रयोग व्यवहारनय की मान्यता के अनुसार होता है, परन्तु यह प्रयोग ऋजुसूत्र को मान्य नहीं है । ऋजुसूत्र का आक्षेप यह है कि 'प्रदेश पाँच प्रकार का है' ऐसा कहने पर प्रदेश पचीस प्रकार के बन जाएँगे । क्योंकि धर्मास्तिकायादि प्रत्येक के प्रदेश में पञ्चविधत्व का अन्वय होगा, जैसे कि धर्मास्तिकाय का प्रदेश पाँच प्रकार का है. अधर्मास्तिकाय का प्रदेश भी पाँच प्रकार का है—इत्यादि.... यावत् स्कन्ध का प्रदेश भी पाँच प्रकार का है । इस

रीति से प्रत्येक प्रदेश के पाँच पाँच प्रकार कथित होते हैं, तब प्रदेश के पचीस प्रकार अनायास सिद्ध होने से प्रदेश में पञ्चविंशतिप्रकारत्व का प्रसंग आ जाता है। इस आपत्ति के कारण 'पञ्चविध प्रदेश है' यह कहना ठीक नहीं है। यदि यहाँ ऐसा बचाव किया जाय कि–'प्रदेशत्वरूप से सामान्यतः प्रदेश में पञ्चविधत्व का अन्वय हम करेंगे, तब तो प्रदेशसामान्य में पञ्चविधत्व का ही विधान होगा, और पञ्चविंशतिविधत्व का प्रसंग भी नहीं आयेगा।' – तो यह कहना भी ठीक नहीं है। क्योंकि विशेष से भिन्न सामान्य की सिद्धि ही नहीं है। अर्थात् धर्मास्तिकाय प्रदेश, अधर्मास्तिकाय प्रदेश इत्यादि भिन्न भिन्न प्रदेशरूप विशेष से अतिरिक्त कोई प्रदेशसामान्य नाम की वस्तु ही नहीं है। व्यक्ति से अतिरिक्त जाति का स्वीकार जैसे तार्किकों के सिद्धान्त में है, वैसे स्याद्वाद में नहीं है। इसलिए प्रदेशत्वरूपेण प्रदेशसामान्य में पञ्चविधत्व का अन्वय करने की बात सिद्धान्तविरुद्ध होने से असंगत है और जब विशेष से अतिरिक्त सामान्य असिद्ध है तब 'प्रदेशः पञ्चविधः' इस वाक्य में प्रदेश शब्द से धर्मास्तिकायादि प्रत्येक प्रदेश का ग्रहण होने पर और उस प्रत्येक प्रदेश में पञ्चविधत्व का अन्वय करने से पञ्चविंशतिविधत्व का प्रसंग दुर्निवार होगा।

[पञ्चविधत्व का निर्दोष निर्वचन अशक्य]

"किञ्च" इत्यादि ग्रन्थ से प्रदेश में पञ्चविधत्व क्या है ऐसी शंका उठाकर 'पाँच प्रकार का प्रदेश है' इस पक्ष में ऋजुसूत्र दूसरा भी दोष देता है, वह यह है कि पंच–विधत्व का व्युत्पत्तिविशेष से विशेष निर्वचन करके प्रदेश में उसका अन्वय करना चाहें, तो भी वह दोषमुक्त नहीं हो सकता है। जैसे–पंचविधत्व का पंचप्रकारत्व यह अर्थ किया जाय तो यह भी प्रस्तुत में सम्भव नहीं है क्योंकि इसमें प्रकार शब्द से कैसा अर्थ ग्रहण किया जाय इस शंका का उदय होता है। "प्रकार" शब्द के तीन अर्थ सम्भवित हैं–संख्या, बुद्धिविशेषविषयत्व और भेद। परन्तु प्रस्तुत में इन तीनों अर्थ में दोष उपस्थित होते हैं। जैसे "प्रकार" शब्द का संख्या अर्थ लेना यह प्रथम पक्ष है, इस पक्ष में 'पाँच है प्रकार अर्थात् संख्या जिसमें' ऐसा बहुव्रीहि समास करके पञ्चप्रकारत्व का अर्थ पञ्चसंख्यत्व निकलता है। पंचसंख्यत्व का अन्वय प्रदेश के साथ करें, तो यह संगत नहीं है, क्योंकि प्रदेशों में पञ्चत्वसंख्या का अवधारण नहीं हो सकता है, क्योंकि धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, जीवास्तिकाय, आकाशास्तिकाय और स्कन्ध इनमें से चतुष्टय का प्रदेश असंख्यात हैं (अर्थात्– जिसको हम प्रसिद्ध संख्या से बता नहीं सकते) और स्कन्ध के प्रदेश अनन्त हैं। इसलिए सामान्यरूप से प्रदेश तो अनन्त ही है। तब इस अनन्त प्रदेशों में पञ्चत्व संख्या का अन्वय कैसे हो सकता है? दूसरा पक्ष– "बुद्धिविशेषविषयत्व" है, यह पक्ष भी संगत नहीं है, क्योंकि इस पक्ष में 'प्रकार' पद से बुद्धिविशेषविषयत्वरूप अर्थ का ग्रहण यदि किया जाय तो पञ्चप्रकारत्व शब्द का पञ्चबुद्धिविशेषविषयत्व अर्थ होता है। इसी का भावार्थ उपाध्यायजी ने पञ्चप्रकारक-बुद्धिविषयत्व ऐसा किया है। इस में 'पञ्च' शब्द का पञ्चत्वसंख्या अर्थ है, इसलिए पञ्चत्वप्रकारक बुद्धिविशेष ऐसा अर्थ सिद्ध होगा। इस तरह के पञ्चप्रकारत्व का प्रदेश में अन्वय नहीं हो सकता है क्योंकि इस तरह के पञ्चप्रकारत्व का प्रदेश में अन्वय

करने पर पञ्चत्वप्रकारकबुद्धि का आकार 'पञ्चत्वसंख्यावान् प्रदेश है' ऐसा होगा क्योंकि इस बुद्धि में प्रदेश विशेष्य रूप से भासित होता है और पञ्चत्वसंख्या प्रकार रूप से भासित होती है। अब प्रदेश पाँच प्रकार का है इसका अर्थ यह हुआ कि 'प्रदेश पञ्चत्वसंख्यावान् है' क्योंकि 'वह पंचत्वप्रकारकबुद्धिविषयतावान् है', ऐसा कहने पर 'पञ्चत्वसंख्यावान् प्रदेश है' यही अर्थ निकलता है जो संगत नहीं है, क्योंकि प्रत्येक प्रदेशव्यक्ति में पञ्चत्वसंख्या न होने से पञ्चत्वप्रकारबुद्धिविषयत्व का अभाव सिद्ध होता है। तब पाँचों प्रदेशों में पञ्चत्वप्रकारक बुद्धिविषयत्वरूप पञ्चविधत्व का अन्वय नहीं हो सकता है।

यदि यहाँ बचाव किया जाय कि–"गृहों में सो (१००) अश्व हैं' ऐसा वाक्यप्रयोग होता है। अश्व तो एक घर में सभी नहीं हैं, तथा अनेक गृहों में एक अश्व भी नहीं है किन्तु एक गृह में एक अश्व है, दूसरे गृह में दूसरा अश्व है, इस तरह अन्य अन्य (१००) गृहों में अन्य अन्य (१००) अश्व हैं। इस तरह से शतसंख्यक अश्व का अनेक गृहों के साथ सम्बन्ध रहता है, इस रीति से 'गृहों में १०० अश्व हैं' यह वाक्यप्रयोग जैसे होता है, उसी तरह प्रत्येक प्रदेश में प्रत्येकधर्मप्रकारकबुद्धिविषयता रहने पर पांचों प्रदेशों में पञ्चप्रकारकबुद्धिविषयत्व रहेगा, तब 'पाँच प्रकार का प्रदेश है' ऐसा प्रयोग होने में कोई बाधा नहीं दिखती है।"–तो यह कहना भी ठीक नहीं है क्योंकि 'प्रत्येकं प्रत्येकधर्मप्रकारकबुद्धिविषयत्वं'–यहाँ प्रत्येक पद से प्रदेश सामान्य का ग्रहण किया जाय तब "प्रदेश" पद से अनन्त प्रदेशों की उपस्थिति होगी। उनमें से किसी पाँच प्रदेशों में एक एक करके प्रत्येक धर्मप्रकारकबुद्धिविषयत्व का अन्वय हो जायगा, तो भी शेष अनन्त प्रदेशों में प्रत्येक में भी प्रत्येक धर्मप्रकारकबुद्धिविषयत्व का अन्वय नहीं होगा। यदि प्रदेश पद से प्रदेशसामान्य की विवक्षा न की जाय, किन्तु प्रदेशविशेष में विश्राम माना जाय–अर्थात् जिस जिस प्रदेश में यद्यद्धर्मप्रकारकबुद्धिविषयत्व का सम्भव हो, उस उस प्रदेश में तत्तद्धर्मप्रकारकबुद्धिविषयत्व का अन्वय किया जाय तो, यह सम्भवित है परन्तु ऐसा करने पर नामान्तर से भजना ही सिद्ध होती है जो ऋजुसूत्र को भी मान्य है, अर्थात् व्यवहारनयवादी का ऋजुसूत्रमत में प्रवेश हो जाता है। तात्पर्य यह है कि 'प्रदेशः पञ्चविधः' इस वाक्य में प्रदेश शब्द से प्रत्येक प्रदेश अर्थात् प्रदेश विशेष का ग्रहण करना और 'पंचविधः' शब्द का जो पंचप्रकारत्व अर्थ किया गया है उस का 'प्रत्येकधर्मप्रकारकबुद्धिविषयत्व' ऐसा विशेष अर्थ समझा जाय। यहाँ प्रत्येक धर्म से भी तत्तत्प्रदेशगत असाधारणधर्म, धर्मास्तिकायप्रदेशत्व, अधर्मास्तिकायप्रदेशत्व, आकाशास्तिकायप्रदेशत्व आदि पांचों की उपस्थिति होगी और उस में क्रमशः धर्मास्तिकायप्रदेशत्वप्रकारक बुद्धिविषयत्व, अधर्मास्तिकायप्रदेशत्वप्रकारकबुद्धिविषयत्व आदि का अन्वयबोध फलित हो सकता है किन्तु ऋजुसूत्र मतवादी का कहना है कि यह तो हमारे मत में ही व्यवहारनयवादी का प्रवेश हुआ क्योंकि ऐस व्यवहार को ही "भजना" शब्द से यहाँ उल्लिखित किया गया है। जैनशास्त्र में "भजना" शब्द वस्तु में अपेक्षाविषयक प्रतीति या अपेक्षाकृत वकल्पिक व्यवहार ऐसे अर्थ में रूढ है। भजना किस प्रकार होगी यह अभी ही दिखा देंगे।

शब्दनयस्तु प्रतिजानीते—अयुक्तमुक्तमेतदृजुसूत्रेण, भजनाया विकल्परूपत्वेनैकतरमादाय विनिगन्तुमशक्यत्वात् धर्मास्तिकायप्रदेशस्यापि अधर्मास्तिकायत्वेन भजनीयत्वप्रसङ्गात् । तदेवमभिधेयं—धर्मे धर्म इति वा प्रदेशो धर्मः, अधर्मेऽधर्म इति वा प्रदेशोऽधर्मः, आकाश आकाश इति वा प्रदेश आकाशः, जीवे जीव इति वा प्रदेशो नोजीवः, स्कन्धे स्कन्ध इति वा प्रदेशो नोस्कन्ध इति । अत्र धर्माऽधर्मास्तिकायादेरैक्यात्तत्प्रदेशस्य धर्मास्तिकायादिरूपताऽनतिप्रसक्तेति तथोक्तिः । जीवस्कन्धयोस्तु प्रतिस्वमनन्तत्वात् कथमधिकृतप्रदेशस्य सकलसन्तानात्मकत्वसम्भव इति विवक्षितप्रदेशे सकलसन्तानैकदेशविवक्षितसन्तानात्मकत्वप्रतिपादनाय नोजीवत्व—नोस्कन्धत्वोक्तिरिति ध्येयम् ।

"प्रकार" शब्द का भेद अर्थ तृतीयपक्ष में होने से 'पञ्चप्रकारत्व' शब्द का पंचभेदत्व अर्थ होता है किन्तु यह पक्ष भी युक्त नहीं है क्योंकि तत्तत् प्रदेशों से अतिरिक्त तत्तत् प्रदेशगत भेद का निर्वचन सम्भव होने से 'पंचविधः प्रदेशः' इसका अर्थ 'पंचभेदवान् प्रदेशः' करना युक्त नहीं है । इसलिए प्रदेश को (भाज्य) भजना का विषय मानना ही उचित होगा और यही "ऋजुसूत्र" को अभिमत है । भजना को दिखाने के लिए "स्यात्" शब्द जैनमत में सुप्रसिद्ध है । इसलिए स्यात् शब्द से प्रदेश की भजना इस प्रकार होगी जैसे—"प्रदेशः स्यात् धर्मास्तिकायस्य, प्रदेशः स्यात् अधर्मास्तिकायस्य" इत्यादि वाक्यप्रयोग संस्कृत में होगा । 'स्यात्' यह अव्यय सापेक्ष वैकल्पिक अर्थ को द्योतित करता है, इसलिए प्रदेश में धर्मास्तिकाय सम्बन्धित्व, अधर्मास्तिकाय सम्बन्धित्व वगैरह का ज्ञान होने पर भी वह ज्ञान अवधारणरूप नहीं होगा । इसी तरह से प्रदेश में आकाशास्तिकायसम्बन्धित्व, जीवास्तिकायसम्बन्धित्व, स्कन्धसम्बन्धित्व का भी ज्ञान अनवधारणात्मक ही होगा । यह 'ऋजुसूत्र' का अभीष्ट है ।

[प्रदेश दृष्टान्त से शब्दनय का निरूपण]

"शब्दनय" इत्यादि—'ऋजुसूत्र' ने जो प्रदेश में भाज्यत्व बताया है, वह "शब्दनय" को मान्य नहीं है । अभिप्राय यह है कि ऋजुसूत्र मत का यह कहना कि 'प्रदेश भाज्य है'-युक्त नहीं है चूंकि 'स्यात्' से प्रतिपादित भजना विकल्परूप होने से किसी एक प्रदेश को लेकर यह 'धर्मास्तिकाय का ही प्रदेश है' ऐसा नियमन नहीं कर सकती है । तब तो जिस धर्मास्तिकाय प्रदेश को लेकर यह 'धर्मास्तिकाय का प्रदेश है' इस तरह की भजना की प्रवृत्ति होगी उसी प्रदेश को लेकर 'यह अधर्मास्तिकाय का प्रदेश है' इस तरह की भजना का प्रसंग भी आ जायगा । चूंकि भजना विकल्परूप होने से वस्तु के अधीन नहीं है किन्तु वह विकल्प=इच्छा के अधीन है । अतः जो धर्मास्तिकाय का प्रदेश अधर्मास्तिकाय का प्रदेश नहीं है उस में भी 'यह अधर्मास्तिकाय का प्रदेश होगा' ऐसा विकल्प हो सकता है । इस का कारण यह है कि विकल्प में वस्तु का होना अनिवार्य नहीं है और विकल्परूप ही भजना है । एवं, अधर्मास्तिकाय के प्रदेश में 'यह

धर्मास्तिकाय का प्रदेश है' इस तरह की भजना का प्रसंग भी आ सकता है। इसी रीति से जीवास्तिकाय इत्यादि के प्रदेशों में धर्मास्तिकायसम्बन्धित्व की भजना का प्रसंग आ सकता है। अतः "ऋजुसूत्रसम्मत भजना" युक्त नहीं है।

[शब्दनय का प्रदेश के विषय में अभिलापाकार]

इस प्रकार ऋजुसूत्रमत की अयुक्तता प्रदर्शित करके शब्दनय स्वमत में क्या होना चाहिये यह बता रहा है कि 'तदेवमभिधेयम्०' इत्यादि-'धर्मे धर्म इति वा प्रदेशो धर्मः' यहाँ वा शब्दसूचित दो वाक्य इस प्रकार हैं-'धर्मे प्रदेशो धर्मः' अर्थात् सप्तमी तत्पुरुष समासारम्भक वाक्यप्रयोग और दूसरा 'धर्मः प्रदेशो धर्मः' अर्थात् कर्मधारयसमासारम्भक वाक्यप्रयोग। प्रथमवाक्य का तात्पर्य यह है कि धर्म में अर्थात् धर्मास्तिकाय का जो प्रदेश है वह धर्मास्तिकाय रूप है-अन्य नहीं। दूसरे का भी यही तात्पर्य है कि धर्मास्तिकाय से अभिन्न जो प्रदेश है वही धर्मास्तिकायस्वरूप है-अन्य नहीं। इस प्रकार के वाक्यप्रयोग से वह आपत्ति नहीं होगी जो ऋजुसूत्रमत से भजना के स्वीकार में होती थी चूंकि यहाँ स्पष्ट नियमन ही किया गया है कि धर्मास्तिकाय का जो प्रदेश है वह धर्मास्तिकायात्मक ही है-अधर्मास्तिकायादिस्वरूप नहीं है।

अधर्मास्तिकाय के प्रदेश के बारे में भी यही कहना चाहिये कि 'अधर्मे अधर्म इति वा प्रदेशोऽधर्मः' अर्थात् अधर्मास्तिकाय का जो प्रदेश है वह अधर्मास्तिकायरूप है-धर्मास्तिकायात्मक नहीं है। अथवा अधर्मास्तिकाय से अभिन्न जो प्रदेश है वह अधर्मास्तिकायरूप ही है-धर्मास्तिकायस्वरूप नहीं है। इसी प्रकार 'आकाशे आकाशः इति वा प्रदेश आकाशः' यहाँ भी समझा जा सकता है।

['नोजीवः' शब्दप्रयोग का तात्पर्यविशेष]

'अत्र धर्माधर्मा०'-जीव के बारे में वाक्यप्रयोग की रीति में थोडा सा अन्तर है वह यह कि- 'जीवे जीव इति वा प्रदेशो नोजीवः', यहाँ अन्त में 'नो' शब्दयुक्त जीवशब्द का प्रयोग है। धर्मास्तिकाय आदि में 'नो' शब्दमुक्त प्रयोग था-इस का कारण यह है कि धर्म-अधर्म और आकाश ये तीन द्रव्य, संख्या से एक एक व्यक्तिरूप होने से धर्मास्तिकायादि के प्रदेश को सम्पूर्ण धर्मास्तिकायात्मकता सुघटित है किन्तु जीव संख्या से अनन्त है और किसी एक जीवप्रदेश सकलजीवसन्तान अर्थात् सम्पूर्ण जीवराशि से अभिन्न तो है नहीं किन्तु सकलजीवसन्तान का जो एकदेशभूत एक जीव है-केवल उसी से ही अभिन्न है। इसलिये एकदेश को सूचित करनेवाले 'नो' शब्द के प्रयोग से ही उस का प्रतिपादन करना उचित है। पुद्गल, जिस के लिये यहाँ स्कन्ध शब्द प्रयुक्त हुआ है वह भी संख्या से अनन्त है इसलिये वहाँ भी 'स्कन्धे स्कन्ध इति वा प्रदेशो नोस्कन्धः' इस प्रकार का अभिलाप ही होगा। यहाँ भी 'स्कन्धे प्रदेशः नोस्कन्धः' इस प्रथम वाक्य से स्कन्ध (पुद्गल) का जो प्रदेश है वह सकल स्कन्धराशि अन्तर्भूत एकदेशात्मक जिस स्कन्ध का है उसी स्कन्ध से उस का तादात्म्य है यह अर्थ भासित होता है-दूसरे वाक्य प्रयोग में स्कन्ध से अभिन्न प्रदेश, सकलस्कन्धराशि एकदेशभूत जिस स्कन्ध से अभिन्न है उस एकदेशीय स्कन्धात्मक है यह अर्थ प्रतीत होता है। इस प्रकार

समभिरूढस्त्वाह–शब्देनापि न सूक्ष्ममीक्षांचक्रे 'धर्मे प्रदेश' इत्यादिवाक्यात् 'कुण्डे बदरमि'त्यादेरिव भेदप्रसङ्गात् । क्वचिद् भेदे सप्तमीप्रयोगेऽप्यभेदप्रकारकबोधार्थं कर्मधारयस्यैवावश्याश्रयणीयत्वाद् द्वितीयपक्ष एव युक्त इति ।

के वाक्यप्रयोग से ऋजुसूत्रमत में दिया गया अतिप्रसंग दोष नहीं आता है क्योंकि यहाँ भजना नहीं की जाती किन्तु नियमन किया जाता है ।

इस संदर्भ में उपाध्यायजी ने जो 'सन्तान' शब्द का प्रयोग किया है वह यह सूचित करने के लिए कि न्याय-वैशेषिकादिमत में जैसे आत्मा और आकाशादि को निरवयव अर्थात् प्रदेश–प्रदेशी भावशून्य माना गया है वैसा जैन मत में नहीं है किन्तु परमाणुपुद्गल के बिना पाँचों द्रव्य असंख्य अथवा अनन्तप्रदेश के सन्तानात्मक (समुदायात्मक) हैं । पूर्वापर भाव से अवस्थित पदार्थसंघात को ही सन्तान कहते हैं जैसे बौद्धमत में पूर्वापर भाव से अवस्थित प्रथमक्षण, द्वितीयक्षण, तृतीयक्षण यावत् अन्त्यक्षण आत्मक घटक्षणों के समूह को ही घटसन्तान कहा जाता है । अंतर इतना है कि बौद्धमताभिमत घटसन्तान में कालिक पूर्वापरभाव है जब कि यहाँ जैनमत में जीवसन्तान, आकाशसन्तानादि सन्तानों में उस के घटकप्रदेश दैशिकपूर्वापर भाव से संगठित होकर अवस्थित होते हैं । धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय और आकाशास्तिकाय ये तीन, केवल एक एक सन्तानात्मक ही है अर्थात् सन्तानबाहुल्य (=व्यक्तिबाहुल्य) ये तीनों में नहीं है । जीवसन्तान और स्कन्ध (पुद्गल) सन्तान अनन्त हैं ।

यह भी ध्यान देने योग्य है कि धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय और जीवास्तिकाय के प्रदेश कभी भी अपने प्रदेशी से पृथक् नहीं हो पाते । स्कन्ध के प्रदेश कभी उस से अलग भी हो जाते हैं । फिर भी अवयव और अवयवी का न्याय-वैशेषिक मत में जैसे एकान्त भेद होता है अथवा एवंभूत नय को जैसे देश–प्रदेश कल्पना शून्य ही अखण्डवस्तु अभिप्रेत है वैसा शब्दनय मत में नहीं है, किन्तु देश-प्रदेश कल्पना भी है और उन में कथंचिद् भेदाभेद भी स्वसिद्धान्तसम्मत है ।

[प्रदेश दृष्टान्त से समभिरूढनय का निरूपण]

"समभिरूढे" इत्यादि– "समभिरूढनय" का कहना है कि शब्दनय में भी सूक्ष्मविचार नहीं किया है । कारण, "धर्मे प्रदेशः" ऐसा वाक्यप्रयोग जो शब्दनय मानता है, वह संगत नहीं है क्योंकि "धर्म में" ऐसा सप्तमीप्रयोग अर्थात्–सप्तमी के अर्थ का बोध जिससे हो, ऐसा प्रयोग शब्दनय के मत से होता है । सप्तमी विभक्ति का अर्थ तो आधाराधेय भाव होता है । आधाराधेय भाव वहीं माना जाता है, जहाँ परस्पर भेद हो । जैसे–"कुण्ड में बदर है" इस वाक्यप्रयोग में कुण्ड में आधारता की प्रतीति होती है, और बदर में आधेयता की प्रतीति होती है, तथा कुण्ड और बदर में परस्पर भेद भी प्रतीत होता है । ऐसे ही धर्म और प्रदेश में भेद का प्रसंग आ जायगा, जो इष्ट नहीं है । इसी लिए "शब्दनय" का दर्शन सूक्ष्मतायुक्त नहीं है ।

एवम्भूतस्त्वाह–देशप्रदेशकल्पनारहितमखण्डमेव वस्तु अभिधानीयम् देशप्रदेशयोरसत्त्वात्, भेदे सम्बन्धानुपपत्तेः, अभेदे सहोक्त्यनुपपत्तेः । न च विन्ध्यहिमवदादिभावाऽवच्छेदकतयाऽऽकाशादिदेशसिद्धिः, परेण समं सम्बन्धस्यैवाऽनुपगमात्, तादात्म्य-तदुत्पत्त्यन्यतरानुपपत्तेरिति दिक् ।

[अभेद में सप्तमीप्रयोग के समर्थन की आशंका]

यहाँ यह आशंका हो सकती है कि–"जहाँ सप्तमी का प्रयोग हो, वहाँ भेद रहता ही है, ऐसा नियम नहीं है । कभी कभी आधार और आधेयरूप से अभिमत वस्तु में भी अभेद ही रहता है, और सप्तमी का प्रयोग होता है । जैसे–"यह व्यक्ति ब्राह्मणों में श्रोत्रिय है ।" इस वाक्य में सप्तमी का प्रयोग है, तथा ब्राह्मण और श्रोत्रिय इन दोनों में आधाराधेय भाव भी प्रतीत होता है, परन्तु आधारत्वेन भासमान ब्राह्मण और आधेयत्वेन भासमान श्रोत्रीय में परस्पर भेद भासमान नहीं है क्योंकि ब्राह्मण से अभिन्न श्रोत्रीय का बोध होता है अर्थात् श्रोत्रीय में ब्राह्मणरूपता का बोध होता है । ऐसे ही 'अरण्य में तिलक नाम के अनेक वृक्ष हैं' ऐसा वाक्यप्रयोग तिलक नामक वृक्षों के वन में होता है । यहाँ भी सप्तमी का प्रयोग है । अरण्य में आधारता की प्रतीति और तिलक पद के अर्थ में आधेयता की प्रतीति होती है । परन्तु अरण्य और तिलक में भेद नहीं भासित होता है क्योंकि वह अरण्य तिलकवृक्ष के समूह से भिन्न नहीं है । उसी तरह 'धर्म में प्रदेश है' ऐसा वाक्यप्रयोग होने पर भी धर्म और प्रदेश में अभेद ही विवक्षित रखें तो भेद का प्रसंग नहीं आता है । तब तो 'शब्दनय' की मान्यता में क्या असंगति है ?"–

[सप्तमी के प्रयोग से अनिश्चित बोध की आपत्ति]

इस आशंका का समाधान यह है कि सप्तमी के प्रयोग रहने पर कभी अभेद का भी बोध होता है इतना तो ठीक है, परन्तु ऐसे स्थलों में नियमतः अभेद का ही बोध हो ऐसा तो नहीं है । तब तो 'धर्म में प्रदेश है' ऐसे वाक्यप्रयोग से धर्म और प्रदेश इन दोनों में 'भेद है या अभेद है', यह संशय जरूर होगा । अभेद का बोध निश्चित नहीं होगा । निश्चित अभेद बोध के लिए "कर्मधारय समास" का ही आश्रय करना पडता है । जैसे नीलोत्पल शब्द में कर्मधारय समास होने से नील पदार्थ का अभेद उत्पल पदार्थ में निश्चितरूप से ज्ञात होता है । इस हेतु से 'धर्म में प्रदेश' ऐसा वाक्यप्रयोग यद्यपि शब्दनय को सम्मत है किन्तु समभिरूढ की दृष्टि में वह ठीक नहीं है । अपितु 'धर्मः प्रदेशः' ऐसा द्वितीय वाक्यप्रयोग जो "शब्दनय" ने बताया है, जिस में धर्मशब्द भी प्रदेशशब्द के जैसे प्रथमान्त ही प्रयुक्त हुआ है वही पक्ष युक्तियुक्त है । ऐसी मान्यता "समभिरूढनय" की है ।

[प्रदेश दृष्टान्त में एवम्भूत नय का निरूपण]

"एवम्भूत" इत्यादि–एवम्भूतनय, 'धर्म प्रदेश है' ऐसी मान्यता जो "समभिरूढनय" की है, इस में सम्मत नहीं है । क्योंकि "एवम्भूतनय" के मत से देश–प्रदेश की कल्पना

अप्रामाणिक होने से देश-प्रदेश की कल्पना से रहित अखण्ड वस्तु ही वाक्य से प्रतिपाद्य होती है अर्थात् अखण्डवस्तु का बोध ही वाक्य से होता है, यही मान्यता एवम्भूतनय की है। इसलिए 'धर्म है-अधर्म है' इसी तरह के वाक्य का प्रयोग उसके मत में करना चाहिए। देश और प्रदेश को जो एवम्भूत नहीं मानता है, उस की समर्थक युक्ति यह है कि धर्मादि का देश और प्रदेश यदि माना जाय तो, वह देश और प्रदेश धर्मादि से भिन्न होगा या अभिन्न होगा ऐसा विकल्प उठेगा ही। उस में भेदपक्ष युक्त नहीं है क्योंकि धर्मादि और उनके देश प्रदेशों में यदि परस्पर भेद होगा तो यह धर्मसम्बन्धित देश है-यह धर्मसम्बन्धी प्रदेश है, इस तरह के वाक्यप्रयोगों में जो सम्बन्ध भासित होता है, वह न होना चाहिए क्योंकि भिन्नवस्तुओं का परस्पर सम्बन्ध नहीं होता है। जैसे- घट और पट परस्पर भिन्न होने से घट का सम्बन्ध पट में नहीं होता है, और पट का सम्बन्ध घट में नहीं होता है, वैसे ही धर्मादि को देश-प्रदेश के साथ कोई सम्बन्ध नहीं हो सकता है।

[तादात्म्य और तदुत्पत्ति से अतिरिक्त सम्बन्ध का अभाव]

यहाँ यह आशंका की जाय कि-"घट-पट का परस्पर भेद होने पर भी संयोग आदि अनेक प्रकार के सम्बन्ध परस्पर में हो सकते हैं। वैसे ही धर्मादि का देश-प्रदेश के साथ भी अनेक सम्बन्ध हो सकते हैं। तब 'भेद रहने पर सम्बन्ध नहीं हो सकता है' ऐसा कहना अयुक्त है"-इस आशंका का समाधान 'तादात्म्यतदुत्पत्तेरन्यतरानुपपत्तेः' इस अग्रिम पंक्ति से यहाँ भी सूचित हो जाता है। आशय यह है कि एवम्भूत दो ही प्रकार का सम्बन्ध मानता है, तादात्म्य और तदुत्पत्ति। यहाँ "तादात्म्य" शब्द से अभेद सम्बन्ध विवक्षित है। घट-पट में परस्पर भेद होने से अभेदरूप "तादात्म्य" सम्बन्ध हो नहीं सकता है क्योंकि अभेद का विरोधी भेद वहाँ अवस्थित है। दूसरी ओर घट-पट में जन्यजनकभाव तो है ही नहीं, क्योंकि घट न तो पट का जनक हैं और न जन्य है। उसी तरह पट भी न घट का जन्य है, न जनक है। इसी तरह से धर्मादि और देश-प्रदेशों में भेद रहने पर अभेदरूप तादात्म्य सम्बन्ध नहीं हो सकता है और जन्यजनकभाव सम्बन्ध तो है ही नहीं। दूसरी बात यह है कि धर्मादि और उन के देश-प्रदेशों में परस्पर भेद होने पर भी देश और प्रदेश के साथ धर्मादि का सम्बन्ध यदि माना जाय तो धर्मभिन्नत्व जैसे धर्मास्तिकाय के प्रदेशों में है, वैसे ही अधर्मास्तिकाय के प्रदेशों में भी है, तो अधर्मास्तिकाय का जो प्रदेश है वह धर्म का प्रदेश है और धर्मास्तिकाय का जो प्रदेश है वह अधर्मास्तिकाय का प्रदेश है-इस तरह अन्यदीय प्रदेश में भी अन्यदीय प्रदेशत्व का व्यवहार हो जायगा क्योंकि भेद होने पर भी सम्बन्ध का स्वीकार किया है। इसलिए भेदपक्ष युक्त नहीं है। यदि "धर्मादि के देश-प्रदेश धर्मादि से अभिन्न है" यह द्वितीय पक्ष माना जाय तो यह भी अयुक्त है। कारण, जिस को जिस के साथ अभेद होता है, उन दोनों का सह प्रयोग अर्थात्-एक साथ प्रयोग नहीं होता है, जैसे-घट के साथ घट का अभेद है तो 'घट घट' ऐसा सहप्रयोग नहीं होता। तात्पर्य 'धर्म देश है, धर्म प्रदेश है' ऐसा प्रयोग नहीं हो सकेगा। इसलिए अखण्ड वस्तु का ही कथन युक्त है।

[भेद होने पर भी सम्बन्ध की उत्पत्ति आशंका]

यदि यह शंका उठायी जाय कि–"धर्मादि और उन के देशप्रदेश की सत्ता नहीं है' इस मान्यता में हेतुरूप से आप यह बताते हैं कि धर्मादि और उन के देशप्रदेशों में यदि भेद माना जाय तो धर्मादि का देश और प्रदेश के साथ सम्बन्ध नहीं होगा। परन्तु यह कहना असंगत है क्योंकि भेद होने पर भी सम्बन्ध रहता है, ऐसा देखने में आता है। जैसे–विन्ध्यपर्वत आकाश के अमुक प्रदेशावच्छेदेन रहता है और हिमालय तद्भिन्न आकाशप्रदेशावच्छेदेन रहता है तथा आकाश के यत्प्रदेशावच्छेदेन विन्ध्य रहता है, तद्भिन्नप्रदेशावच्छेदेन विन्ध्य का अभाव रहता है। एवं आकाश के यत्प्रदेशावच्छेदेन हिमालय रहता है, तद्भिन्नप्रदेशावच्छेदेन हिमालय का अभाव रहता है। इस तरह विन्ध्य और हिमालयरूप भाव पदार्थ का अवच्छेदक आकाश प्रदेश माना जाता है। एवं विन्ध्याभाव और हिमालयाभावरूप अभाव पदार्थ का भी अवच्छेदक आकाशप्रदेश माना जाता है। यदि आकाश के प्रदेश आकाश के साथ सम्बन्ध न रखते हो तो आकाश वृत्ति विन्ध्य–हिमालय एवं विन्ध्याभाव और हिमालयाभाव के अवच्छेदक न बन सकेंगे। इस से यह सिद्ध होता है कि भेद रहने पर भी आकाश और उस के देश–प्रदेशों का सम्बन्ध अवश्य है। तब उसी तरह धर्मादि और उन के देश–प्रदेशों का सम्बन्ध सिद्ध हो जायगा। तब तो 'धर्मादि के देशप्रदेश की सिद्धि भी हो जायगी। तब 'देशप्रदेशरहित अखण्डवस्तु का ही कथन करना चाहिए' यह "एवम्भूतनय" की मान्यता ठीक नहीं जचती।"—

[आकाश और विन्ध्यादि में कोइ वास्तव संबन्ध नहीं है–उत्तर]

इस आशंका का समाधान उपाध्यायजी इस तरह से देते हैं कि आकाशादि के साथ विन्ध्यादि का सम्बन्ध ही नहीं माना जाता है, कारण विन्ध्यादि सभी वस्तु अपने में ही अवस्थित हैं। तब जो आकाश के अमुकप्रदेशावच्छेदेन विन्ध्य की वृत्तिता प्रतीत होती है, वह काल्पनिक है, क्योंकि काल्पनिक सम्बन्ध को लेकर ही वैसी प्रतीति होती है। वास्तव सम्बन्ध तो एवम्भूतनय के मत से दो ही हैं–"तादात्म्य और तदुत्पत्ति"। आकाशादि के साथ विन्ध्यादि पदार्थों का तादात्म्य सम्बन्ध तो है नहीं क्योंकि विन्ध्य और आकाश भिन्नरूप से सर्वानुभवसिद्ध है। आकाश और विन्ध्य वगैरह पदार्थों में "तदुत्पत्ति" शब्द से अभिप्रेत कार्यकारण भावरूप सम्बन्ध भी नहीं है क्योंकि विन्ध्य आकाश का न कारण है–न कार्य है। एवं आकाश भी विन्ध्य का न कारण है–न कार्य है। तब तो विन्ध्य–हिमालय और विन्ध्याभाव–हिमालयाभाव में आकाशनिरूपित वृत्तिता ही नहीं है। इसलिए विन्ध्यहिमालयआदिनिष्ठवृत्तितावच्छेदकतया अथवा विन्ध्य-हिमालयादिअवच्छेदकतया आकाशादि के देश की सिद्धि नहीं हो सकती है। यह "एवम्भूतनय" की मान्यता का समर्थन करने की एक रीति है, और भी अनेक युक्तियाँ हो सकती है– इस वस्तु को "दिक्" (=दिशा) पद के प्रयोग से 'उपाध्यायजी' ने सूचित किया है। [प्रदेशदृष्टान्त समाप्त]

प्रस्थको मगधदेशप्रसिद्धो धान्यमानविशेषः, तदर्थं वनगमनदारुच्छेदनतक्षणोत्किरणलेखनप्रस्थकपर्यायाविर्भावेषु यथोत्तरशुद्धा नैगमभेदाः। अतिशुद्धनैगमस्त्वाऽऽकुट्टितनामानं प्रस्थकमाह। व्यवहारेऽप्ययमेव पन्थाः॥

[प्रस्थक के दृष्टान्त में सात नयों का अभिगम]

"प्रस्थको मगध०" इत्यादि-प्रदेश दृष्टान्त के द्वारा नैगमादि नयों में पूर्वपूर्वनय की अपेक्षा से उत्तरोत्तर नय विशुद्धियुक्त हैं, इस वस्तु का विवेचन करके अब 'उपाध्यायजी' "प्रस्थक" दृष्टान्त के द्वारा पूर्व-पूर्वनय की अपेक्षा से उत्तरोत्तर नय में जिस रीति से विशुद्धि आती है उस रीति का विवेचन प्रस्तुत करते हैं-मगधदेश में प्रसिद्ध धान्य मापने के पात्रविशेष को "प्रस्थक" कहते हैं। आयुर्वेद ग्रन्थों में औषधि के माप को "प्रस्थ" शब्द से कहा गया है और औषधि के मापने का साधन भी "प्रस्थ" शब्द से कहा गया है। इसलिए "प्रस्थ" शब्द का अर्थ 'मापने का साधनविशेष' करना उचित हा है और उस से परिच्छिन्न या परिमित अर्थात् मापा हुआ धान्यादि वस्तुविशेष भी प्रस्थ कहा जाता है। फर्क इतना ही है कि "चरक" सुश्रुत वगैरह प्राचीन ग्रन्थों में "प्रस्थ" शब्द का प्रयोग उपलब्ध होता है और अनुयोगद्वारादि प्राचीन ग्रन्थों में "प्रस्थक" शब्द का प्रयोग है। "प्रस्थ" शब्द से स्वार्थ में "क" प्रत्यय लगाने पर "प्रस्थक" शब्द बनता है। इसलिए "प्रस्थ" और "प्रस्थक" इन दोनों शब्दों का अर्थ एक ही होता है। यह "प्रस्थक" काष्ठनिर्मित होता है। पाषाण या धातुओं के द्वारा निर्मित "प्रस्थक" की अपेक्षा काष्ठनिर्मित "प्रस्थक" सुलभ होने के कारण वह कोई समय में अधिक प्रसिद्ध रहा होगा, इसलिए काष्ठनिर्मित "प्रस्थक" को ही दृष्टान्त रूप से यहाँ ग्रहण किया है।

[नैगमनय का प्रस्थक के लिये विविध अभिप्राय]

"प्रस्थक" के लिए काष्ठ लाने के निमित्त कोई पुरुष वन में जाता है, उस दशा में यदि उसे पूछा जाय कि क्या कर रहे हो? तो उसको वह ऐसा ही जवाब देता है कि 'प्रस्थक लाने के लिए जाता हूँ'। यद्यपि वह प्रस्थकयोग्य काष्ठ को लाने के लिए वनगमन कर रहा है तो भी उत्तर तो यही देता है कि "मैं प्रस्थक लाने के लिए जाता हूँ"। यहाँ वनस्थकाष्ठ "प्रस्थक" रूप यद्यपि नहीं है तथापि उस काष्ठ में भाविप्रस्थकभाव का आरोप करके वह पूर्वोक्त उत्तर देता है। इसलिए नैगमनय में काष्ठ में 'प्रस्थक' के अभिप्रायरूप अशुद्धता है। जहाँ आरोप या उपचार का सम्बन्ध रहता है, ऐसे अभिप्राय को विशुद्ध न मानकर अशुद्ध ही मानना युक्त है। "नय" भी 'अभिप्रायविशेष ही है' ऐसा "नय" लक्षण के प्रस्ताव में कहा जा चुका है। वनस्थकाष्ठ का पर्यायविशेष ही "प्रस्थक" हैं। इस में अशुद्धि किस तरह आती है इस को बताकर इस की अपेक्षा विशुद्धियुक्त "नैगम" के भेद "दारुछेदन०" शब्द से प्रदर्शित किया जाता है। "प्रस्थक" के लिए काष्ठ का छेदन करते हुए पुरुष को यदि पूछा जाय कि 'तुम क्या करते हो?' तो वह यही उत्तर देता है कि मैं "प्रस्थक" करता हूँ। यह अभिप्राय भी विशुद्ध तो नहीं है क्योंकि दारुछेदन तो "प्रस्थक" नहीं है किन्तु 'छिद्यमान काष्ठ' में प्रस्थकत्व का

उपचार करके "मैं प्रस्थक करता हूँ" ऐसा उत्तर देता है। तो भी वनगमन क्रिया के उद्देश्यभूत काष्ठ में "प्रस्थक" के प्रयोग की अपेक्षा से छेदनक्रियान्वित काष्ठ में कुछ शुद्धि अवश्य है, क्योंकि अछिद्यमान काष्ठ से छिद्यमानकाष्ठ में प्रस्थक भाव का सामीप्य है। यह "नैगम" का दूसरा भेद है। एवं प्रस्थक के निमित्त वन से लाए हुए काष्ठ की जब तक्षणक्रिया करता है, अर्थात् काष्ठ का "प्रस्थक" के लिए उपयुक्त खंड बनाता है, उस काल में यदि उस व्यक्ति को पूछा जाय कि 'क्या करते हो ?' तो वह भी यही जवाब देता है कि 'मैं प्रस्थक बनाता हूं'। यहाँ काष्ठ की तक्षणक्रिया से अन्वित काष्ठ प्रस्थक नहीं है, किन्तु तक्षणक्रियायुक्तकाष्ठ में "प्रस्थकत्व" का उपचार कर के वह ऐसा जवाब देता है कि 'मैं प्रस्थक करता हूं'। इसलिए यहाँ भी उपचार का मिश्रण होता है, अतः अशुद्धि अवश्य है तो भी पूर्व की अपेक्षा से इस में शुद्धि है क्योंकि प्रस्थकनिर्माण में छिद्यमान काष्ठ की अपेक्षा तक्षणक्रियायुक्त काष्ठ सन्निकृष्ट है यह नैगम का तीसरा भेद है।

प्रस्थक बनाने में उपयुक्त काष्ठखण्ड में ऐसा शुषिरभाव बनाना आवश्यक होता है कि जिससे उस के भीतर धान्यादि का समावेश हो सके, तदर्थ काष्ठखण्ड के मध्यवर्त्ती अवयवों को निकोरना (खुदाई करना) आवश्यक है उसी को उत्किरण कहते हैं। उस उत्किरण को करते हुए पुरुष को (बढई को) यदि पूछा जाय कि 'क्या करते हो ?' तो वह पुरुष भी यही उत्तर देता है कि 'मैं प्रस्थक बनाता हूं'—यहाँ पर भी उत्किरणक्रियान्वितकाष्ठ "प्रस्थक" नहीं है, तथापि "प्रस्थक" शब्द का जो वहाँ प्रयोग होता है, वह उपचार से ही होता है, इसलिए इसमें भी अशुद्धि है, तो भी तक्षणक्रियायुक्तकाष्ठ में जो "प्रस्थक" शब्द का प्रयोग होता है, उस की अपेक्षया इस में विशुद्धता है, क्योंकि "प्रस्थक" तैयार करने में तक्षणक्रियायुक्तकाष्ठ की अपेक्षा से उत्किरणक्रियान्वित काष्ठ सन्निकृष्ट है। यह नैगम का चतुर्थ भेद है।

"उत्किरण" क्रिया द्वारा काष्ठखण्ड जब सावकाश बन जाता है तब उस में रहे हुए उच्चावच्चभाव को निकालकर "समीकरण" करना आवश्यक होता है, उस समीकरणक्रिया को ही "लेखन" कहते हैं। "लेखन" क्रिया के बाद "प्रस्थक" का आकार बन जाता है उस समय लेखनकर्त्ता पुरुष को पूछा जाय कि 'क्या करते हो ?' तो वह भी यही जवाब देता है कि "प्रस्थक बनाता हूं।" लेखन क्रियाकाल में भी वह शुषिरयुक्त काष्ठखण्ड वास्तविक "प्रस्थक" नहीं है, क्योंकि अन्य साधनों से धान्यादि द्रव्यों का माप करके उस काष्ठ खण्ड में रखा जाय और उन परिमित धान्यादि का वहाँ समावेश हो जाय और वह धान्यादि द्रव्य न न्यून हो, न अधिक हो, तब वह शुषिर दारुखण्ड वास्तविक "प्रस्थक" होगा, अभी तो वह दारुखण्ड जो "प्रस्थक" शब्द से कहा जाता है, वह तो उपचार से ही कहा जाता है। इसलिए इस में भी अशुद्धि है, परन्तु "उत्किरण" क्रिया विशिष्ट "काष्ठ" की अपेक्षा से लेखनक्रियान्वितकाष्ठ "प्रस्थक" भाव बनने में सन्निकृष्ट होने के कारण विशुद्धि भी है। यह "नैगम" का पञ्चम भेद फलित होता है।

सङ्ग्रहस्तु विशुद्धत्वात् कारणे कार्योपचारं कार्याऽकरणकाले च प्रस्थकं नाङ्गीकुरुते । न च तदा घटाद्यात्मकत्वप्रसङ्गः, तदर्थक्रियां विना तत्त्वाऽयोगात् ।

इन पूर्वोक्त "प्रस्थक" पर्यायों के अनन्तर जब अन्य साधन (बाट) द्वारा धान्य का मान विशेष करके "लेखन" क्रिया के बाद बने हुए "प्रस्थक" पर्याय में उस धान्य को रखा जाय, और न्यून अधिक न हो, तब वह प्रस्थकपर्याय "प्रस्थक" शब्द से कहा जाता है, वही वास्तविक "प्रस्थक" है क्योंकि लोक उसी में प्रस्थक शब्द का प्रयोग करते हैं यह प्रसिद्ध है। इसलिए उस अर्थ में "प्रस्थक" यह नाम वारंवार प्रयुक्त होता है। किसी नाम का बार बार प्रयोग होना उसी को आकुट्टन (पुनः पुनः आवर्त्तन) कहते हैं और उस नाम को आकुट्टितनाम कहते हैं। ऐसे सर्वसाधारण लोक प्रसिद्ध "प्रस्थक" में जो "प्रस्थक" शब्द का व्यपदेश होता है यह वास्तविक व्यपदेश है। इसमें उपचार का मिश्रण नहीं है। अतिशुद्धनैगमनय इसी को "प्रस्थक" रूप से मानता है। इस भेद में कोई अशुद्धि का सम्पर्क नहीं रहता है। वनगमनादि क्रिया का उद्देश्य काष्ठस्वरूप इत्यादि प्रस्थकपर्यायों में तो तरतम भाव से अशुद्धि का सम्बन्ध रहता है, इसलिए वनगमनादि क्रिया के उद्देश्य काष्ठ पर्यायों में प्रस्थक का व्यपदेश अतिशुद्ध नैगम से नहीं होता है।

[प्रस्थक के दृष्टान्त से व्यवहारनय का निरूपण]

"व्यवहारे०" इति="व्यवहारनय" में भी "प्रस्थक" दृष्टान्त से पूर्वपूर्वनय की अपेक्षा से उत्तरोत्तर नय में शुद्धि का विवेचन उक्तरीति से ही करना चाहिए। "वनगमन" क्रिया उद्देश्यकाष्ठ में "प्रस्थक" का जो व्यवहार होता है उस की अपेक्षा से विशुद्धि छेदनक्रियान्वितकाष्ठ में जो "प्रस्थक" व्यवहार होता है उस में है। एवं छिद्यमानकाष्ठ में "प्रस्थक" व्यवहार की अपेक्षा से तक्षणक्रियायुक्तकाष्ठ में जो "प्रस्थक" व्यवहार होता है उस में विशुद्धि अधिक है। तथा तक्षणक्रियायुक्तकाष्ठगत "प्रस्थक" व्यवहार की अपेक्षा से उत्किरणक्रियाकालीनकाष्ठ में "प्रस्थक" व्यवहार में अधिक विशुद्धि रहती है। तदपेक्षया लेखनक्रियाकालीनकाष्ठ में प्रस्थकव्यवहार विशुद्ध है, उस की अपेक्षा से भी लोक प्रसिद्ध "प्रस्थक" पर्याय में "प्रस्थक" व्यवहार विशुद्ध है। अतिशुद्ध व्यवहारनय "जनसाधारण प्रसिद्ध प्रस्थक" को ही वास्तविक प्रस्थक मानता है क्योंकि उस में उपचार का मिश्रण नहीं है। वनगमनादिक्रिया उद्देश्यादि पर्यायों में जो प्रस्थक व्यवहार होता है उस में उपचार रहता है इसलिए अशुद्धियुक्त है। अत एव "अतिशुद्ध व्यवहारनय" का विषय वनगमनादि क्रियाविशिष्टकाष्ठरूप "प्रस्थक" पर्याय नहीं हैं।

[प्रस्थक के दृष्टान्त से संग्रहनय का निरूपण]

"संग्रहस्तु०" इति–नैगम और व्यवहार की मान्यता से "प्रस्थक" दृष्टान्त में "संग्रहनय" की मान्यता भिन्न ही है। नैगम और व्यवहारनय वनगमन–दारुछेदनादिक्रियाधार काष्ठ जो प्रस्थक के प्रति परम्परा कारण है उस में 'प्रस्थक' रूप कार्य का उपचार करके प्रस्थक व्यपदेश को स्वीकारते हैं। परन्तु "संग्रहनय" कारण में कार्य का उपचार नहीं

'घटादिशब्दार्थक्रिया तत्राप्यस्त्येवे'ति चेत् ? न, असाधारणतदर्थक्रियाकारित्वस्यैव तदात्मकत्वप्रयोजकत्वात् । "तथापि प्रस्थकक्रियाविरहे नायं प्रस्थको, घटाद्यनात्मकत्वाच्च नाऽप्रस्थक इत्यनुभयरूपः स्यात् !" न स्यात्, प्रतियोगिकोटौ स्वस्यापि प्रवेशेन यावद्घटाद्यनात्मकत्वाऽसिद्धेः । 'अर्थक्रियाभावाभावाभ्यां द्रव्यभेदाभ्युपगमे ऋजुसूत्रमतानुप्रवेश' इति चेत् ? न, नैगमोपगतसङ्ग्रहणाय क्वाचित्कतथोपगमेन तदननुवेशात् । इत्थं च व्यक्तिभेदात्तद्व्यक्तिगतं प्रस्थकत्वसामान्यमपि नास्तीति नात्र कश्चिद्दोषो विना व्यवहारबाधमिति दिक् ।

मानता है और 'प्रस्थक' जिस काल धान्यादिमापनरूप अपना कार्य नहीं करता है उस काल में प्रस्थक को प्रस्थक रूप से स्वीकार नहीं करता । वनगमन-दारुछेदन इत्यादि क्रिया के आधार काष्ठ आदि में भी 'प्रस्थक' का व्यपदेश नहीं मानता है क्योंकि यह "नय" विशुद्ध है, इसलिए इस नय की मान्यता के अनुसार जब धान्य आदि के मापन रूप क्रिया "प्रस्थक" से होती है, उसी काल में "प्रस्थक" में "प्रस्थक" व्यपदेश उचित है।

[प्रस्थक में घटादिरूपता की आपत्ति का वारण]

यहाँ यह आशंका हो सकती है कि- "प्रस्थक का स्वरूप बन जाने पर भी धान्य-मापनादि प्रस्थकसाध्यक्रिया के अभाव में यदि प्रस्थक न माना जायगा तो वह प्रस्थक न होकर प्रस्थक भिन्न पदार्थ होगा, वैसा पदार्थ तो घट-पटादि है, इसलिए प्रस्थक में घटादि स्वरूप का प्रसंग होगा"-इस आशंका का समाधान संग्रहनय के मत से यह है कि प्रस्थक में घटादिस्वरूपता का प्रसंग तभी हो सकता है, जब जलाहरणादि रूप घटादि की अर्थक्रिया को प्रस्थक करता हो । परन्तु, प्रस्थक से जलाहरणादि क्रिया तो होती नहीं हैं, इसलिए घटादिस्वरूपता का प्रसंग नहीं आ सकता है। यदि यह कहा जाय कि "प्रस्थक जलाहरणादिरूप अर्थ क्रिया को यद्यपि नहीं करता है, तथापि, जलाहरणादि जैसे घटादिसाध्य अर्थक्रिया है इसी प्रकार घटादिशब्द का प्रयोग होना भी घटादि की अर्थक्रिया है । प्रस्थक में घटादि शब्द का प्रयोग कोई पुरुष अपनी इच्छा के अनुसार कर सकता है। तब तो घटादि की अर्थक्रिया काल में घटादिस्वरूपता का प्रसंग प्रस्थक में आता ही है ।"-तो इस का समाधान यह है कि जिसकी असाधारण क्रिया को जो करता है, उसी में तत्स्वरूपता का व्यपदेश होता है । घटादि की असाधारण अर्थक्रिया जलाहरणादिरूप ही है। घटादिशब्दप्रयोगरूप अर्थ क्रिया घटादि की असाधारण क्रिया नहीं है, क्योंकि घटादि से इतर अर्थ में भी घटादिशब्द का प्रयोग कोई कर लेता है, इसलिए प्रस्थक से घटादि की असाधारण अर्थक्रिया जो जलाहरणादिरूप है वह नहीं होती हैं । इस हेतु से "प्रस्थक" में घटाद्यात्मकत्व का प्रसंग नहीं आता है ।

[प्रस्थक में अनुभयरूपता की आपत्ति का वारण]

यदि यह शंका की जाय कि- "संग्रहनय" के मत से धान्यमापन रूप प्रस्थक की असाधारण अर्थक्रिया जब नहीं है उस काल में प्रस्थक प्रस्थकरूप नहीं है और उस

काल में असाधारण अर्थक्रिया जो जलाहरणादि है उस को भी नहीं करता है, इसलिए घटादि आत्मक न होने के कारण वह अप्रस्थक रूप भी नहीं है। इसलिए उस काल में प्रस्थक अनुभयरूप हो जायगा, अर्थात् वह प्रस्थकस्वभाव से रहित और अप्रस्थकस्वभाव से भी रहित हो जायगा। यहाँ इष्टापत्ति कर लेना भी सम्भव नहीं है क्योंकि तत्स्वभाव और तत् से इतर स्वभाव इन दोनों से विनिर्मुक्त वस्तु ही अप्रसिद्ध है।"–इस आशंका का समाधान यह है कि–"घटादि" की अर्थ क्रिया को न करने के कारण वह घटाद्यात्मक न होगा' इतना तो मान्य है, परन्तु 'घटाद्यनात्मक होने से वह अप्रस्थक भिन्न हो जायगा' यह मान्य नहीं हैं क्योंकि 'अप्रस्थकभिन्न' शब्द का अर्थ यत्-किञ्चित् अप्रस्थकभिन्न ऐसा नहीं है किन्तु 'घटपटादि यावद्अप्रस्थकभिन्न' ऐसा ही सर्वमान्य हैं और यहाँ भेदप्रतियोगी की कुक्षि में असाधारणक्रिया का अकारक प्रस्थक भी समाविष्ट हो जाने से यावद्अप्रस्थक भिन्नता नहीं होगी। इस से यह फलित हुआ कि 'अप्रस्थकभिन्न' शब्द का अर्थ 'अप्रस्थकत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकभेदवत्' ऐसा विवक्षित है। अपनी असाधारणक्रिया के अकरणकाल में प्रस्थक जब अप्रस्थक बन जाता है तब उस में अप्रस्थकत्वावच्छिन्न प्रतियोगिताकभेद नहीं रहेगा, क्योंकि तादात्म्यसम्बन्ध से प्रतियोगी जहाँ रहेगा वहाँ स्वभेद का रहना विरुद्ध है, इसलिए अप्रस्थकभेद के प्रतियोगि अप्रस्थक की कुक्षि में असाधारण क्रिया का असाधक प्रस्थक का भी भेदप्रतियोगिविधया प्रवेश होने से वह प्रस्थक 'अप्रस्थकभिन्न' नहीं हो सकेगा। तब अनुभयरूपता का आपादन सम्भवित नहीं होगा। यदि यह शंका की जाय कि–'घटादि की अर्थक्रिया को न करने के कारण प्रस्थक को अप्रस्थक भी क्यों माना जाय ?'–तो इस शंका का समाधान यह है कि प्रस्थक की जो असाधारण क्रिया धान्यमापन है उस को न करने के कारण जब वह "अप्रस्थक" है, अर्थात् प्रस्थकभिन्नात्मक है, तब उस में यावद्घटाद्यनात्मकत्व ही सिद्ध नहीं हो सकता है। जब यावद्घटाद्यनात्मकत्व उस में सिद्ध न होगा तब अप्रस्थकत्वावच्छिन्न प्रतियोगिताकभेद भी उस में नहीं होगा। तब अप्रस्थक भिन्न न होने के कारण अनुभयरूपता का आपादान कैसे सम्भव होगा ?

यह आशंका हो सकती है कि "संग्रहनय अर्थक्रियाकरणकाल में प्रस्थक को प्रस्थक-द्रव्य रूप से स्वीकार करता है, और धान्यमापनरूप जो प्रस्थक द्रव्य की अर्थक्रिया, उस के अभावकाल में उस को "प्रस्थक" द्रव्य से भिन्न मानता है, तब "संग्रहनय" का जो स्वभाव है 'अभिन्न द्रव्य अर्थात् द्रव्यसामान्य को मानना,' उस का त्याग हो जाता है और भेदरूप विशेष को मानने का स्वभाव जो "ऋजुसूत्रनय" का है वह संग्रह में आ जाता है। तब तो ऋजुसूत्र के मत में संग्रह का अनुप्रवेश हो जायगा, क्योंकि दोनों नय भेदरूप विशेष को मानते हैं, "ऋजुसूत्र" तो खास कर विशेष को ही मानता है। "संग्रह" भी अर्थक्रिया के भाव और अभाव से द्रव्यभेद को मानता है तब दोनों में एकता की आपत्ति अनिवार्य हो जाती है"–इस आशंका का समाधान यह है कि "अतिशुद्ध नैगमनय" के स्वीकृत द्रव्यभेद का संग्रह करने के लिए "संग्रह" भी कहीं कहीं अर्थक्रिया के भाव और अभाव से द्रव्यभेद नहीं मानता है। ऋजुसूत्र तो केवल विशेष को ही मानता है, इसलिए ऋजुसूत्र के मत से सर्वत्र द्रव्यभेद है। दो नय के बीच इतना

ऋजुसूत्रस्तु निष्पन्नस्वरूपोऽर्थक्रियाहेतुः प्रस्थकः, तत्परिच्छिन्नं च धान्यमपि प्रस्थक इत्याह, उभयसमाजादेव मानोपपत्तेरेकतराभावे परिच्छेदाऽसम्भवात् । कथं तर्हि 'प्रस्थकेन धान्यं मीयत' इति, करणरूपानुप्रविष्टस्य क्रियारूपाऽप्रवेशात् ? इति चेत् ? सत्यम्, विवक्षाभेदादुभयरूपानुप्रवेशोपपत्तेरिति दिक् ।

भेद स्पष्ट होने से "ऋजुसूत्र" के मत में संग्रह का प्रवेश सम्भव नहीं है । "अतिशुद्ध-नैगम" "प्रस्थक" में से जिस काल में धान्यमापनरूप अर्थक्रिया होती है उस काल में ही प्रस्थक को प्रस्थक स्वरूप मानता है, जिस का संग्रहनय भी स्वीकार करता है । इसलिए इतने अंश में द्रव्यभेद अर्थात् विशेष को "संग्रहनय" मान्यता देता है। ऋजुसूत्र की तरह सभी जगह इस को विशेष मान्य नहीं है। यहा "संग्रह" और "ऋजुसूत्र" में भेद है।

इस तरह अर्थक्रियाकालीन प्रस्थक व्यक्ति से अर्थक्रिया अकरणकालीन प्रस्थक व्यक्ति का भेद संग्रहनय से जब सिद्ध होता है तब अर्थक्रियाकालीन व्यक्ति में रहा हुआ प्रस्थकत्व सामान्य भी अर्थक्रिया अभावकालीन प्रस्थक व्यक्ति में इस के मत से मान्य नहीं है । ऐसा मानने पर (ऋजुसूत्र के) इस मत में व्यवहार बाध को छोडकर दूसरा कोई भी दोष नहीं आता है । व्यवहार का बाध इसलिए है कि अर्थक्रिया के अभावकालीन प्रस्थक व्यक्ति में भी 'यह प्रस्थक है' ऐसा जो व्यवहार लोक में होता है वह अब नहीं हो सकेगा, कारण, अर्थक्रियाअभावकालीन प्रस्थक को यह नय अप्रस्थक मानता है अर्थात् प्रस्थक से भिन्न मानता है, तब इस के मत में, वैसे प्रस्थक में 'यह प्रस्थक है' इस तरह का व्यवहार नहीं हो सकता है। क्योंकि प्रस्थकत्व व्यवहार के प्रति प्रस्थकभिन्नत्व का ज्ञान प्रतिबन्धक बनता है । उपाध्यायजी ने "दिक्" शब्द का प्रयोग कर के सूचित किया है कि इस रीति से "संग्रहनय" का और भी विवेचन किया जा सकता है ।

[प्रस्थक के दृष्टान्त से ऋजुसूत्रनय का निरूपण]

(ऋजुसूत्रस्तु-इत्यादि) ऋजुसूत्र नय दारुछेदन-तक्षण आदि के द्वारा जिस का स्वरूप निष्पन्न अर्थात्- सिद्ध है और धान्यमापनरूप अर्थक्रिया जिस से होती है, ऐसे मानसाधन द्रव्यविशेष को तो प्रस्थक मानता ही है, किन्तु प्रस्थक से परिछिन्न अर्थात्- नापा हुआ जो धान्य, उस में भी 'प्रस्थक' शब्द का व्यपदेश करता है । अर्थात् मानक्रिया का साधन और मानक्रिया का कर्म इन दोनों में प्रस्थक शब्द का व्यवहार 'ऋजुसूत्र' के मत से मान्य है । इस में ऋजुसूत्र की युक्ति यह है कि परिच्छेद अर्थात् माप तभी हो सकता है, जब मान का साधन काष्ठनिर्मित द्रव्यविशेष और मान का कर्म धान्यादि, इन दोनों का संनिधान हो, अर्थात्-ये दोनों उपस्थित हों । इन दोनों में से किसी भी एक का अभाव होने पर माप हो ही नहीं सकता है। जैसे-केवल मापने का साधन मेयवस्तु धान्यादि न हो तो भी मान क्रिया नहीं हो सकती है । वैसे ही मेय द्रव्य धान्यादि होवे और उस को मापने का साधन न होवे तब भी मानक्रिया नहीं हो

शब्दसमभिरूढैवम्भूतास्तु–प्रस्थकाधिकारज्ञगतात् प्रस्थककर्तृगताद्वा प्रस्थकोपयोगादतिरिक्तं प्रस्थकं न सहन्ते। निश्चयमानात्मकप्रस्थकस्य जडवृत्तित्वाऽयोगात्, बाह्यप्रस्थकस्याप्यनुपलम्भकालेऽसत्त्वेनोपयोगानतिरेकाश्रयणात्, अन्ततो ज्ञानाऽद्वैतनयाऽनुप्रवेशाद्वा। न च ज्ञानाऽज्ञानात्मकत्वोभयनयविषयसमावेशविरोधात्

सकती है। इसलिए मान साधन द्रव्यविशेष और मेय इन दोनों की उपस्थिति मानक्रिया के लिए आवश्यक है। अतः मानसाधन द्रव्यविशेष और उस से परिच्छिन्न धान्य इन दोनों को ही प्रस्थक मानना चाहिए, यह 'ऋजुसूत्र' का अभिप्राय है।

[करणत्व और कर्मत्व एक साथ दुर्घट होने की शंका का उत्तर]

यह आशंका हो सकती है कि– "मानक्रिया में करणरूप प्रस्थक है और मानक्रिया में कर्मरूप धान्य है। अब धान्य को करणरूप जो प्रस्थक, तत्स्वरूप मान लिया जाय तो मानक्रिया की करणकुक्षि में धान्य का भी प्रवेश हो जायगा, तब मानक्रिया के कर्म की कुक्षि में धान्य का प्रवेश नहीं होगा, कारण, एकक्रियानिरूपितकरणत्व और कर्मत्व दोनों एकवस्तु में विरोध होने के कारण रह सकते नहीं। तब तो 'प्रस्थक से धान्य मापा जाता है' ऐसा व्यवहार नहीं हो सकेगा और इस व्यवहार में धान्य में कर्मत्व की प्रतीति होती है वह नहीं होगी। कारण, धान्य को भी प्रस्थकरूप मान लेने से उस में करणत्व रहता है तो कर्मत्व बुद्धि उस में नहीं होनी चाहिए। तब तो यह व्यवहार "ऋजुसूत्र" के मत से बाधित हो जायगा।"–इस आशंका को अर्धस्वीकार करने के अर्थ में "सत्य" पद का प्रयोग उपाध्यायजी ने किया है। इस का समाधान इस ढंग से किया है कि धान्यरूप एकवस्तु में एकक्रिया निरूपित करणत्व और कर्मत्व इन दोनों का विरोध जो आप बताते हैं, वह कुछ उचित ही है, परन्तु यह विरोध विवक्षाभेद होने पर नहीं रहता है। एक हि धान्यादिवस्तु में जब मानक्रियाकरणत्व की विवक्षा रहेगी, तब वह धान्य करणरूप भी कहा जायगा और जब मानक्रियाकर्मत्व की विवक्षा रहेगी तब वह धान्य कर्मरूप भी माना जायगा इस तरह विवक्षा के भेद से एक धान्यादि वस्तु का करणरूप में अनुप्रवेश और क्रियारूप में अनुप्रवेश हो सकता है। कारण, विवक्षाभेद रहने पर कर्मत्व करणत्व का विरोध नहीं रहता है। इसी विवक्षाभेद के अभिप्राय से 'प्रस्थक से धान्य मापा जाता है' इस तरह के व्यवहार में कोई बाधा नहीं आती है। इस रीति से "ऋजुसूत्र" के अभिप्राय का अधिक विवेचन भी किया जा सकता है इस अभिप्राय का सूचक "दिक्" शब्द यहाँ पर भी प्रयुक्त है।

[प्रस्थक के दृष्टान्त में आखरी तीन नयों का अभिप्राय]

('शब्दसमभिरूढ०' इत्यादि) शब्दनय, समभिरूढनय और एवंभूतनय प्रस्थकोपयोग अर्थात्–प्रस्थक के ज्ञान को ही प्रस्थक मानते हैं उस से अतिरिक्त प्रस्थक को नहीं मानते हैं। अर्थक्रिया का हेतु निष्पन्न यानी पूर्णतापन्न प्रस्थक, जो 'ऋजुसूत्र नय' मानता है, वह इन नयों को मान्य नहीं है। जिस प्रस्थक के ज्ञान को ये तीनों नय प्रस्थक मानते

प्रत्येकमनयत्वमाशङ्कनीयम्, तादात्म्येनोभयरूपाऽसमावेशेऽपि विषयत्वतादात्म्याभ्यां तदुभयसमावेशात्। 'विषयत्वमपि कथञ्चित्तादात्म्यमि'ति तु नयान्तराकूतम्, तदाश्रयणेन 'अर्थाभिधानप्रत्ययानां तुल्यार्थत्वम्' उक्तं इति दिक्।

हैं, वह प्रस्थक का ज्ञान या तो प्रस्थकाधिकारज्ञाता व्यक्ति का हो सकता है अथवा प्रस्थककर्त्ता व्यक्ति का हो सकता है–ऐसा इन नयों का अभिप्राय है। प्रस्थक के विषय में इन तीनों का अभिप्राय एक ही है। प्रस्थक के कार्य को जो जानता है वही पुरुष प्रस्थकाधिकारज्ञातापुरुष कहा जाता है। 'प्रस्थक का कार्य अर्थात् प्रयोजन क्या है?' इस प्रश्न के समाधान में ये नय यही मानते हैं कि धान्य का परिमाण प्रस्थक का कार्य अथवा प्रयोजन अथवा अधिकार शब्द से कहा जाता है। 'प्रस्थक से धान्य मापा जाता है' इस प्रकार का ज्ञान ही धान्य परिमाण के निश्चय का स्वरूप है। प्रस्थक निर्माण जो पुरुष करता है वह प्रस्थककर्त्ता कहा जाता है। दोनों प्रकार के पुरुषों में विद्यमान जो प्रस्थकोपयोग अर्थात् प्रस्थकज्ञान वही प्रस्थक है, इन तीनों नयों के मत का यही सारांश है।

"निश्चयमानात्मक" — इस ग्रन्थ से प्रस्थकोपयोग से अतिरिक्त प्रस्थक को न स्वीकार करने में हेतु बताया गया है। 'यह धान्य प्रस्थकपरिमित है' इत्याकारक निश्चयमानरूप प्रस्थकोपयोग चेतन में ही रह सकता है क्योंकि ज्ञानरूप उपयोग चेतन का ही धर्म है। पूर्णताप्राप्त द्रव्यप्रस्थक यदि उक्त उपयोग का आधार माना जाय तो वह उपयोग जडवृत्ति हो जाने का अतिप्रसंग होगा क्योंकि ज्ञानरूप प्रस्थक जड में वृत्ति नहीं हो सकता है, वह चेतन में ही रह सकता है।

("बाह्यप्रस्थकस्ये"ति) शंका–'धान्य जिससे मापा जाता है ऐसे बाह्यवस्तु विशेष का भी प्रस्थकपद से लोक में व्यवहार किया जाता है। वह बाह्यवस्तुविशेषरूप प्रस्थक तो जड ही है और भूतलादि जडपदार्थों में ही वह स्थित रहता है। तब तो प्रस्थक में जडवृत्तित्व भी सम्भव है, इसका निषेध करना संगत नहीं प्रतीत होता है।'

उत्तरः–'मानाधीनामेयसिद्धिः' इस नियम के अनुसार ज्ञानकाल में ही बाह्यप्रस्थक की सत्ता मान्य है। जिस काल में बाह्यप्रस्थक का उपलम्भ अर्थात् ज्ञान नहीं है उस काल में उसकी सत्ता ही असिद्ध है। जब बाह्यप्रस्थक का उपलम्भ रहता है उसी काल में बाह्यप्रस्थक की सत्ता सिद्ध रहती है। इस हेतु से बाह्य प्रस्थक को भी उपयोग से भिन्न ये तीनों नय नहीं मानते हैं, किन्तु उपयोगरूप ही मानते हैं। अतः प्रस्थक में जडवृत्तित्व नहीं हो सकता है।

[तीनों शब्दादिनयों का ज्ञानाद्वैतवाद में प्रवेश]

यद्यपि "जब जिस का उपलम्भ होता है तभी उस की सत्ता होती है" ऐसा नियम मानने पर भी उपलभ्यमान वस्तु की ज्ञानकाल में बाह्यस्वरूप से सत्ता हो सकती है। तब उपयोग से भिन्न बाह्यप्रस्थक सिद्ध हो सकता है और उस में जडवृत्तित्व भी हो सकता है, तब उक्त समाधान असंगत जैसा लगता है; तथापि 'जो जिस के साथ उप-

लब्ध होता है वह तद्रूप होता है' । इस नियम के अनुसार उपयोग के साथ उपलभ्यमान होने से बाह्यप्रस्थक उपयोगरूप ही है ऐसा नियम मानकर उक्त समाधान दिया गया है, इस में कोई असंगति नहीं है । यहाँ एक दूसरी आपत्ति खडी हो सकती है कि 'जिस के साथ जो उपलब्ध हो वह यदि तद्रूप माना जाय तो बाह्यप्रस्थक के जैसे बाह्य घटपटादि भी उपयोगरूप हो जायेंगे । कारण, घटादि भी अपने उपयोग के समय में ही उपलब्ध होते हैं, तो उनकी भी उपयोगरूपता क्यों न होगी ?' परन्तु इस आपत्ति को स्वीकार कर लेने में भी कोई हानि इन नयों को नहीं है, अपितु इष्टापत्ति है, अत एव वे घटादि को ज्ञानरूप मान लेते हैं, कारण, ये तीनों नय आखिर तो ज्ञानाद्वैत नय में अनुप्रविष्ट हैं ।

[ज्ञानात्मक—अज्ञानात्मक उभयरूपता का समावेश अविरुद्ध]

("न च ज्ञानाज्ञानात्मकत्व") शंका:- ग्रन्थकार ने "अनतिरेकाश्रयणात्" इस ग्रन्थांश में आश्रयण पद का प्रयोग किया है और उस के बाद "अन्ततः" पद का भी प्रयोग किया है, इन दोनों पदों के प्रयोग से यह आशय अभिव्यक्त होता है कि बाह्यप्रस्थक प्रस्तुत तीनों नयों को ज्ञानात्मक अभिमत नहीं है, और 'ज्ञानाद्वैत नय" के मत से बाह्यप्रस्थक ज्ञानात्मक सिद्ध होता है । तब बाह्यप्रस्थक नयद्वय का विषयीभूत अर्थ सिद्ध होता है । किन्तु ज्ञानात्मक और अज्ञानात्मक, एतत् उभय विषयकत्व किसी एक नय में विरोध होने के कारण समाविष्ट नहीं है । तब तो बाह्यप्रस्थक जिस नय के मत से ज्ञानात्मक है उस नय में नयत्व नहीं आयेगा और जिस नय के मत से बाह्यप्रस्थक अज्ञानात्मक है उस नय में भी नयत्व के अभाव का प्रसंग होगा, कारण, ज्ञानात्मक और अज्ञानात्मक एतत् उभयविषयकत्व किसी भी नय को मान्य नहीं है ।

समाधान :-ज्ञानात्मक और अज्ञानात्मक एतत् उभयरूप विषय का तादात्म्य सम्बन्ध से अर्थात् अभेद सम्बन्ध से किसी एक नय में समावेश यद्यपि नहीं हो सकता है तथापि विषयता और तादात्म्य इन सम्बन्धों के उभयरूप का समावेश प्रत्येक नय में हो सकता है । तात्पर्य जिस नय को बाह्यप्रस्थक में ज्ञानात्मकता अभिमत है उस नय के मत से ज्ञान और विषय का तादात्म्य सम्बन्ध माना जाता है । तब उस नय की दृष्टि से ज्ञानात्मकता सिद्ध होती है और वह नय ज्ञानात्मक बाह्यप्रस्थक का ग्राही होता है, अज्ञानात्मक बाह्य प्रस्थक का ग्राहक नहीं होता है । इसलिए एकाकार विषयग्राहिता होने के कारण उस में नयत्व होने में कोई आपत्ति नहीं आती है । ऐसा नय "ज्ञानाद्वैत" नय कहा जाता है । तथा-जिस नय की दृष्टि से बाह्यप्रस्थक में अज्ञानात्मकता (जडता) मानी जाती है उस नय की दृष्टि से ज्ञान का विषय के साथ 'स्वनिरूपितविषयता' ही सम्बन्ध है । इस हेतु से बाह्यप्रस्थक में अज्ञानात्मकत्व उस नय की दृष्टि से सिद्ध होता है और वह नय अज्ञानात्मकविषयग्राही होने से नय भी हो सकता है । इस तरह सम्बन्धभेद से उभयरूप विषय का एक नय में समावेश हो सकता है और नयत्व में कोई बाधा भी उपस्थित नहीं होती है ।

('विषयत्वमपि')-यदि शंका की जाय कि-"किसी नयविशेष की मान्यता के अनुसार विषय के साथ जो ज्ञान का विषयत्व सम्बन्ध है, वह तादात्म्यरूप ही है ।

वसतिराधारता सा च यथोत्तरशुद्धानां नैगमभेदानां लोके, तिर्यग्लोके, जम्बूद्वीपे, भरतक्षेत्रे, तदक्षिणार्धे, पाटलिपुत्रे, देवदत्तगृहे, तन्मध्यगृहे चावसेया ॥ अतिशुद्धनैगमस्तु 'वसन् वसती'त्याह ॥

इसलिए बाह्यप्रस्थक में प्रस्थकोपयोग का तादात्म्य ही रहेगा, अर्थात् अभेद ही रहेगा। इस स्थिति में बाह्यप्रस्थक ज्ञानात्मक ही होगा, अज्ञानात्मक तो नहीं होगा। तब उभयरूप का समावेश कैसे होगा ?"–इस शंका का समाधान यह है कि जिस नय की दृष्टि से विषयता तादात्म्यरूप है उस नय की दृष्टि से भी कथञ्चित्तादात्म्यरूप ही विषयता होगी चूँकि एकान्त तादात्म्यरूप विषयता मानने में अपसिद्धान्त का प्रसंग होगा और कथञ्चित्तादात्म्य का होना, कथञ्चित् भेद के समावेश का विरोधी नहीं है। इसलिए ज्ञानात्मकता और अज्ञानात्मकता उभयरूप, बाह्यप्रस्थक में उस नय की दृष्टि से सिद्ध है। इसलिए प्रस्थक में उभयरूपता है, ऐसा नयान्तर का भी अभिप्राय माना जाय तो उभयरूप समावेश होने में कोई बाधा नहीं है।

[अर्थ–अभिधान–ज्ञान की तुल्यार्थता]

("यदाश्रयणे" इति) विषयता को कथञ्चित् तादात्म्यरूप मान करके ही 'अर्थाभिधानप्रत्ययानां तुल्यार्थत्वम्' ऐसा शास्त्रकारों ने कहा है। यहाँ अर्थशब्द से बाह्य घट–पटादि रूप अर्थ विवक्षित हैं, जो शब्दजन्य ज्ञान का विषय होता है। अभिधान पद से अर्थवाचक शब्द विवक्षित है। शब्दजन्यज्ञान का विषय जैसे अर्थ होता है, वैसे शब्द स्वयं भी स्वजन्यज्ञान का विषय होता है। 'शब्दोऽपि शाब्दबोधे भासते' इस तरह की मान्यता शास्त्रकारों की है। इस से सिद्ध होता है कि शब्द भी शाब्दबोध का विषय बनता है। प्रत्यय शब्द से शब्दजन्यबोध विवक्षित है। "तुल्यार्थ" शब्द से 'तुल्यश्चासौ अर्थः' इस व्युत्पत्ति के अनुसार 'एक अर्थ' विवक्षित है। जिस नय के मत से विषयता तादात्म्यरूप है उस नय के अनुसार शब्दजन्यज्ञान और उस का विषय जो घटपटादि रूप बाह्यार्थ और तद्वाचक 'घटपटादि शब्द' ये तीनों अभिन्न हैं। कारण, ज्ञान में ज्ञानतादात्म्य स्वतः सिद्ध है। ज्ञानविषय अर्थ और शब्द इन दोनों में भी ज्ञानविषयता होने से ज्ञानतादात्म्य हो जाता है। इन तीनों में तादात्म्य होने से अभिन्नता आ जाती है, इस आशय से अर्थ शब्द और शब्दजन्यबोध इन तीनों में तुल्यार्थत्व का प्रतिपादन किया गया है। यहाँ 'तुल्यार्थत्व अभिन्नार्थत्वरूप विवक्षित है' यह ध्यान रखना चाहिए। [प्रस्थक दृष्टान्त समाप्त]

[वसति के दृष्टान्त से नैगमभेदों का अभिप्राय]

("वसतिराधारता" इत्यादि) प्रदेश, प्रस्थक और वसति इन तीनों दृष्टान्तों से क्रमशः नैगमादि नयों में अपेक्षाकृत उत्तरोत्तर विशुद्धि होती है ऐसा पूर्व में कहा गया है। उन में प्रदेश और प्रस्थक दृष्टान्त द्वारा जिस तरह अपेक्षाकृतशुद्धि नयों में होती है, वह रीति बता दी गयी है। अब वसति दृष्टान्त से नैगमादि नय में यथोत्तर अपेक्षाकृतशुद्धि जिस प्रक्रिया से ज्ञात होती है, उस प्रक्रिया का अग्रिम ग्रन्थ से वर्णन किया गया है।

"वसति" शब्द का यहाँ आधारता अर्थ विवक्षित है। "देवदत्त वसता है" इस वाक्य को सुनने पर श्रोता को यह जिज्ञासा होती है कि 'देवदत्त कहाँ बसता है ?' इस जिज्ञासा की निवृत्ति के लिए अनेक प्रकार के उत्तरबोधक वाक्य के प्रयोग होते हैं। कोई ऐसा उत्तर देता है कि "देवदत्त लोक में बसता है"। इस वाक्य से देवदत्त के निवास का आधार 'लोक' प्रतीत होता है, यह लोकरूप आधार बहुत विस्तृत है, लोक में देवदत्ताधारता बहुत व्यापक है। इसी आधारता के अभिप्राय से 'लोके वसति' ऐसा उत्तर दिया गया है।

[नैगम के विविध अभिप्रायो में उत्तरोत्तर विशुद्धि]

उपर्युक्त उत्तर से श्रोता को पूर्ण संतोष नहीं होगा, उसे यह आकांक्षा बनी रहेगी कि 'लोक के किस विभाग में देवदत्त रहता है' ? कारण, लोक तो विशाल है। इस आशंका की निवृत्ति के लिए लोकरूप आधार में कुछ संकोच कर के उत्तर दिया जाता है कि 'तिर्यग्लोक में देवदत्त रहता है'। पूरे लोक में जो आधारता है उस की अपेक्षा तिर्यग्लोकवृत्ति आधारता कुछ संकुचित अवश्य है, अतः श्रोता को पूर्व समाधान की अपेक्षा से इस उत्तर में कुछ अधिक सन्तोष होता है। पूर्व समाधान जिस नैगम विशेष के अभिप्राय से दिया गया था, उसकी अपेक्षा से इस नैगम विशेष में विशुद्धि स्पष्टरूप से ज्ञात हो जाती है। कारण, संकुचित आधार में इस नय का अभिप्राय है, जिस नैगम के अनुसार 'तिर्यग्लोके वसति' यह उत्तर दिया गया है।

परन्तु इस उत्तर से भी शंका बनी रहती है कि तिर्यग्लोकान्तर्गत असंख्य द्वीप-समुद्र हैं। उनमें से 'किस द्वीप में वसता है ?' इस शंका की निवृत्ति के लिए 'जम्बूद्वीपे वसति' अर्थात् 'जम्बूद्वीप में देवदत्त रहता है' ऐसा उत्तर दिया जाता है। यह उत्तर "तिर्यग्लोके वसति" इस उत्तर की अपेक्षा संकुचित आधार विषयक है। इसलिए यह नैगमविशेष पूर्व नैगमविशेष की अपेक्षा विशुद्धियुक्त है। परन्तु जम्बुद्वीप में भी बहुत से क्षेत्र हैं, उन क्षेत्रों में से किस क्षेत्र में देवदत्त बसता है, इस तरह की आकांक्षा बनी रहती है। इस आकांक्षा की निवृत्ति "भरतक्षेत्रे वसति" अर्थात् "भरत क्षेत्र में देवदत्त बसता है" इस उत्तर से हो जाती है, क्योंकि जम्बुद्वीपगत आधारता की अपेक्षा से संकुचित आधारता इस उत्तर में प्रतीत होती है। इस हेतु से यह उत्तर जिस नैगम विशेष के अभिप्राय से प्रवृत्त हुआ है उस नैगम विशेष में पूर्व नैगम विशेष की अपेक्षा से विशुद्धि ख्याल में आ जाती है। तथापि भरत क्षेत्र के भी दो भाग हैं, दक्षिणार्ध और उत्तरार्ध भरत, इन दोनों भागों में से किस भाग में देवदत्त बसता है, इस तरह की आकांक्षा दूर नहीं होती है। इसको दूर करने के लिए भरत क्षेत्र के दक्षिणार्ध-भाग में देवदत्त बसता है। इस तरह उत्तर दिया जाता है। यह उत्तर जिस नैगम विशेष के अभिप्राय से दिया जाता है उस नैगमविशेष में पूर्व नैगम-विशेषापेक्षया विशुद्धि स्पष्ट प्रतीत हो जाती है। कारण भरतक्षेत्रगत आधारता की अपेक्षा से दक्षिणार्धगत आधारता संकुचित है। यहाँ भी यह आकांक्षा होती है कि 'दक्षिणार्ध के किस नगर में देवदत्त बसता है ?' क्योंकि, भरत क्षेत्र के दक्षिणार्ध में बहुत से नगर हैं, इसकी

निवृत्ति के लिए 'पाटलिपुत्रे वसति' ऐसा जवाब दिया जाता है। पाटलिपुत्र नगर अभी पटना के नाम से प्रसिद्ध है, यह उत्तर जिस नगम विशेष के अभिप्राय से प्रवृत्त हुआ है, उस नैगमविशेष में पूर्वनैगम विशेषों की अपेक्षा से विशुद्धि का स्पष्ट भान होता है, क्योंकि भरत क्षेत्र के दक्षिणार्धभाग में जो आधारता है, तदपेक्षया पाटलिपुत्रगत आधारता संकुचित है। परन्तु इस उत्तर को सुनने पर भी किसी श्रोता को यह आकांक्षा तो जागृत ही रहती है कि 'पाटलीपुत्र के किस गृह में देवदत्त बसता है?' क्योंकि पाटलिपुत्र में बहुत से घर हैं। इस आकांक्षा की शान्ति के लिए 'देवदत्तगृहे वसति' यह उत्तर प्रवृत्त होता है। यह उत्तर जिस नैगमाभिप्राय से दिया गया है वह नैगमविशेष पूर्व नैगमों की अपेक्षा विशुद्ध है ऐसा जान पडता है, क्योंकि देवदत्तगृहगत आधारता ही इसमें विषय है, जो पाटलिपुत्रगत आधारता की अपेक्षा बहुत न्यून है। तथापि किसी को देवदत्त के घर में पूर्वभाग, पश्चिमभाग, उत्तरभाग, दक्षिणभाग, मध्यभाग उनमें से किस भाग में बसता है? इस तरह की आकांक्षा विद्यमान ही रहती है। इसकी निवृत्ति के लिए "देवदत्तमध्यगृहे देवदत्तः वसति" ऐसा उत्तर दिया जाता है। इसका अर्थ यह है कि देवदत्त के गृह में जो मध्यभाग है उसी में देवदत्त रहता है। इस उत्तर से श्रोता की वह आकांक्षा निवृत्त हो जाती है। यह उत्तर जिस नगम विशेष के अभिप्राय से प्रवृत्त होता है वह नगम पूर्व नैगमों की अपेक्षा से विशुद्ध है क्योंकि इसमें देवदत्तगृह के मध्यभाग में जो आधारता है वही प्रतीत होती है। वह आधारता देवदत्तगृहगत आधारता से अतिन्यून है।

परन्तु उक्त सभी नैगमविशेषों में पूर्व-पूर्व की अपेक्षा से उत्तरोत्तर में विशुद्धि होने पर भी अविशुद्धि रहती ही है क्योंकि इन सभी में उपचार का आश्रय लेना पडता है। अन्य के धर्म का अन्य में आरोप करना ही 'उपचार' पदार्थ है। उसके विना "लोके वसति" इत्यादि उत्तरों की निष्पत्ति ही नहीं हो सकती है। कारण, सम्पूर्ण लोक, तिर्यग्लोक, जम्बूद्वीप इत्यादि में देवदत्त की आधारता सम्भवित नहीं है। 'देवदत्त आधारता' देवदत्तप्रतियोगिकसंयोगानुगितारूप है, अथवा तद्रूपेण परिणत गृहमध्यक्षेत्ररूप है। वह सम्पूर्णलोक में अथवा तिर्यग्लोकादि में सम्भवित नहीं है। इसलिए लोक, तिर्यग्लोक, जम्बुद्वीप, इत्यादि में गृहमध्यभागत्व का आरोप करके ही "लोके वसति" इत्यादि उत्तर प्रवृत्त होते हैं। लोक, तिर्यग्लोक, इत्यादि का गृहमध्यभाग अवयव है और लोक वगैरह अवयवी हैं। अतः अवयवी में अवयव धर्म का आरोप इन उत्तरों में होता है। इसलिए ये उत्तर अविशुद्धियुक्त माने जाते हैं। "अतिशुद्ध नैगम" की दृष्टि से "मध्यगृहे वसति" यह उत्तर भी अविशुद्धियुक्त ही है। कारण वह देवदत्त जिस समय निवास का अनुभव मध्यगृह में करता है उस समय में ही मध्यगृह में देवदत्ताधारता को मानता है, अन्य समय में नहीं मानता है। इसलिए "मध्यगृहे वसति" इस उत्तर की प्रवृत्ति भी उपचार से ही होती है। निवासानुभवकालीन मध्यगृहत्व का मध्यगृह में आरोप ही यहाँ उपचार है। जिस काल में मध्यगृह में निवासानुभव देवदत्त को होता है तत्कालीन मध्यगृहत्व तत्कालीन मध्यगृह का अपना धर्म है, आरोपित धर्म नहीं,

नन्वाधारताऽऽधारस्वरूपा तत्संयोगस्वरूपा वा, उभयथापि गृहकोण इव लोकेऽप्येकक्षेत्रतया तदविशेषात् किं विशुद्धितारतम्यं, न ह्यत्र प्रस्थकन्यायवद्गौणमुख्यविषयकृतो विशेषोऽस्तीति चेत् ?

सत्यम्, देवदत्तसंयोगपर्यायपरिणतगृहकोणक्षेत्रस्याखण्डक्षेत्राद्धर्मभेदावेशेन पृथक्कृतस्य यथाऽग्रं गुरुगुरुतरविषयेऽभेदोपचारेण विशुद्ध्यपकर्षसम्भवात्, अन्यथा 'लोके वसामी'त्यन्वयस्यैवानुपपत्तिः, न हि कृत्स्ने लोके देवदत्तवसतिरस्ति, न च विनोपचारं कृत्स्नलोकरूढाल्लोकपदात्तद्देशोपस्थितिरस्ति । 'हन्तैवं वृक्षे कपिसंयोग इत्यत्राप्युपचारः स्यादि'ति चेत् ? कः किमाह, स्यादेव ।

इसलिए 'वसन् वसति' 'निवास काल में मध्यगृह में देवदत्त बसता है' यह उत्तर उपचार रहित होने से अतिशुद्ध नैगमविशेष को ऐसा ही उत्तर मान्य है ।

(नन्वाधारतेति) यहाँ पर यह आशंका उठती है कि 'आधारता को यदि आधार स्वरूप माने अथवा आधार का जो आधेय के साथ संयोग है, तत्स्वरूप माने, इन दोनों पक्ष में, गृहकोणादिगत आधारता और लोकगत आधारता इन दोनों में कुछ विशेष तो नहीं दीखता है । दोनों आधारताएँ समानरूप से प्रतीत होती हैं, तथा गृहकोणादि ये दोनों आधारत्वरूप समानधर्मतया प्रतीत होते हैं क्योंकि गृहकोणादि और लोक ये दोनों एक ही क्षेत्र हैं, तब 'लोके वसति, गृहकोणे वसति' इत्यादि में विशुद्धितारतम्य किस निमित्त से माना जाय ? यदि कहा जाय कि "प्रस्थक के परम्परया कारण वनगमनादि से अभिमुख बने काष्ठ आदि में कार्यप्रस्थक का उपचार होता है इसलिए वनगमन आदि रूप प्रस्थक गौण है और कार्यप्रस्थक में उपचार नहीं करना पडता है, इसलिए कार्य प्रस्थक मुख्य है । वनगमन में जो प्रस्थक का व्यपदेश होता है उसका विषय प्रस्थक गौण है, और कार्यप्रस्थक में जो प्रस्थक का व्यपदेश होता है उसका विषय मुख्यप्रस्थक है । इस तरह गौण और मुख्य विषय के निमित्त से ही वनगमन आदि में प्रस्थक व्यपदेश और मुख्य प्रस्थक में प्रस्थक व्यपदेश में विशुद्धितारतम्य है । उसी तरह "लोके वसति" "गृहकोणे वसति" में भी गौण मुख्य विषय ही विशुद्धितारतम्य का निमित्त बन सकता है ।" किन्तु ऐसा यहाँ नहीं कह सकते, क्योंकि गृहकोण आदि और लोक ये दोनों एक ही क्षेत्र हैं । यहाँ गौण मुख्य विषय है ही नहीं । कारण एक ही क्षेत्र में गौणत्व और मुख्यत्व इन दोनों विरुद्ध धर्मों का सम्भव नहीं है ।

("सत्यमि"ति) प्रस्तुत ग्रन्थ से पूर्वोक्त शंका का समाधान दिया जाता है । यहाँ 'सत्यम्' पद अर्थस्वीकार अर्थ में प्रयुक्त हुआ है, इस का तात्पर्य यह है कि जिस रीति से आपने विचार किया है उस रीति से विचार करने पर विशुद्धि तारतम्य का निमित्त देखने में नहीं आता है यह बात सच है, किंतु सूक्ष्म दृष्टि से तारतम्य का निमित्त अवश्य बुद्धिगत होता है । जैसे "स्याद्वाद" सिद्धान्त में देवदत्त और गृहकोण का संयोग गुणरूप नहीं है, किंतु गृहकोण के पर्यायरूप है । 'यद्यपि वैशेषिक सिद्धान्त" में संयोग

गुणरूप माना गया है, तथापि "स्याद्वादी" को वह सिद्धान्त मान्य नहीं है। गृहकोण क्षेत्र का परिणाम ही संयोग है। इसलिए गृहकोण के साथ देवदत्त का संयोग गृहकोण क्षेत्र का पर्याय ही है। देवदत्तसंयोगात्मक पर्यायरूप से गृहकोणक्षेत्र ही परिणत हुआ है। वैसा गृहकोणक्षेत्र लोकरूप अखण्डक्षेत्र से भिन्न है क्योंकि अखण्डक्षेत्र अधिक आकाशप्रदेश को व्याप्त करता है और गृहकोणक्षेत्र बहुत अल्पआकाशप्रदेश को व्याप्त करता है। इसलिए दोनों क्षेत्र में विरुद्ध धर्म है। एक में अधिकाकाशप्रदेशव्यापकत्व धर्म है और दूसरे में 'अल्पाकाशप्रदेशव्यापकत्व' धर्म है। धर्म के भेद से धर्मी का भेद माना जाता है इसलिए अखण्डक्षेत्र से गृहकोणक्षेत्र भिन्न सिद्ध होता है। तब गृहकोणप्रदेश की अपेक्षा मध्यगृहप्रदेश गुरुतर होगा, अर्थात् अधिक होगा। मध्यगृहप्रदेश की अपेक्षा से सम्पूर्णगृहप्रदेश गुरुतर होगा। सम्पूर्ण गृहप्रदेश की अपेक्षा से पाटलिपुत्र का प्रदेश गुरुतर यानी अधिक होगा। इस क्रम से लोक का प्रदेश अर्थात् अखण्ड क्षेत्र का प्रदेश सब से गुरुतम होगा। उन गुरु-गुरुतर-गुरुतम प्रदेश विशिष्ट क्षेत्रों में परस्पर भेद होने पर भी लोकक्षेत्र में गृहकोणक्षेत्र के अभेद का आरोप कर के "लोके वसति" यह प्रयोग होता है। तिर्यग्लोकक्षेत्र में भी गृहकोणक्षेत्र का अभेदारोप कर के "तिर्यग्लोके वसति" ऐसा प्रयोग होता है। इसी तरह जम्बूद्वाप भरतक्षेत्र इत्यादि में भी गृहकोण-क्षेत्र का अभेद आरोप करके ही "जम्बूद्वीपे वसति" इत्यादि प्रयोग होता है। "गृहकोणे वसति" इस प्रयोग में अभेद का आरोप नहीं करना पडता, क्योंकि गृहकोण में गृहकोण क्षेत्र का अभेद वास्तविक रूप से रहता ही है। जहाँ जो वस्तु न हो उसमें उसकी बुद्धि का होना ही उपचार पदार्थ है। यह उपचार "गृहकोणे वसति" इस प्रयोग में नहीं है। इसलिए यह प्रयोग अत्यन्त विशुद्धि युक्त है। अतिशुद्ध नैगम के अभिप्राय से यद्यपि यह प्रयोग भी अत्यन्त विशुद्धियुक्त नहीं है क्योंकि अतिशुद्ध नैगम जिस काल में गृहकोण में चैत्र निवास करता हो उसी काल में "गृहकोणे वसति" इस प्रयोग को अत्यन्त विशुद्धियुक्त मानता है, जिस काल में निवास नहीं करता किन्तु अन्य देश में चैत्र स्थित है उस काल में भी "गृहकोणे वसति" ऐसा प्रयोग नहीं करता है। तथापि 'लोके वसति' इस प्रयोग की अपेक्षा 'गृहकोणे वसति' यह प्रयोग अत्यन्त विशुद्धियुक्त है। 'गृहकोणे वसति' इस में जो विशुद्धि है उस की अपेक्षा "मध्यगृहे वसति" इस में अपकृष्ट विशुद्धि है। "मध्यगृहे वसति" इसमें जो विशुद्धि है उसकी अपेक्षा से "गृहे वसति" इस में कुछ कम विशुद्धि है, तदपेक्षया "पाटलिपुत्रे वसति" इस में कुछ कम विशुद्धि है। इस तरह विशुद्धि के तारतम्य का विश्राम "लोके वसति" इस में है क्योंकि इस में सबसे न्यूनतम विशुद्धि रहती है। इस का कारण यह है कि लोकात्मक अखण्डक्षेत्र तिर्यग् लोकादि सखण्डक्षेत्रों की अपेक्षा बहुत विशाल है और उस में अतिसंकुचित गृहकोण क्षेत्र के अभेद का उपचार है। इस तरह सूक्ष्म विचार करने पर विशुद्धि तार-तम्य का हेतुभूत विशेष अवश्य दृष्टि में आ जाता है।

वह विशेष यही है कि गुरु, गुरुतर विषयवाले क्षेत्रों में गृहकोण क्षेत्र के अभेद का उपचार करना पडता है। यदि उपचार नहीं माना जाय तो "लोके वसामि" इस

'कात्स्न्यविनिर्मोकेणान्वयोपपत्तौ किमुपचारेणे'ति चेत् ? देशाऽग्रहे तद्विनिर्मोक एव कथम् ? 'पदशक्त्यनुपग्रहादि'ति चेत् ? न, स्कन्धपरस्य वृक्षपदस्यैकत्वपरिणतिरूपस्कन्धपदार्थेनैवोपग्रहात् । 'भेदविनिर्लुठित एव वृक्षपदार्थ आश्रीयत' इति चेत् ? न अनुभवबाधेन तथाश्रयणाऽयोगादिति दिक् ।

प्रयोग में लोक पदार्थ और निवास पदार्थ का जो आधाराधेयभाव से अन्वय होता है वह नहीं हो सकेगा। कारण, समग्र लोकक्षेत्र में देवदत्त का निवास नहीं है और समग्र लोकक्षेत्र में रूढियुक्त लोक पद से गृहकोणक्षेत्र की उपस्थिति भी उपचार किए विना नहीं हो सकती है क्योंकि पदार्थ की उपस्थिति पदशक्ति से ही होती है। 'लोक' पद शक्ति गृहकोणक्षेत्ररूप पदार्थ में नहीं है। तब गृहकोणक्षेत्ररूप पदार्थ की उपस्थिति विना गृहकोण पदार्थ और निवास पदार्थ का अन्वय किस तरह हो सकता है ? इसलिए लोकपद की रूढि (शक्ति) से उपस्थित अखण्डक्षेत्ररूप लोकपदार्थ में गृहकोणक्षेत्र पदार्थ का अभेदोपचार करके ही "लोके वसति" इत्यादि व्यपदेश हो सकता है।

('हन्तैवम्' इति) यहाँ पर यह शंका उठती है कि "लोके वसति" इत्यादि प्रयोग जैसे उपचार से ही होता है वैसे 'वृक्षे कपिसंयोगः' यहाँ भी उपचार मानना आवश्यक होगा। कारण, सम्पूर्ण वृक्ष में संयोग नहीं है, अर्थात् कपि की आधारता नहीं है। वृक्षावयव शाखा में कपिसंयोग यद्यपि है, परन्तु वृक्षपद की रूढि सम्पूर्ण वृक्ष में ही है। इसलिए वृक्षपद से वृक्षावयव शाखा की उपस्थिति नहीं हो सकती। तब तो वृक्ष पदार्थ का कपिसंयोग पदार्थ के साथ आधाराधेय भाव सम्बन्ध से अन्वय सम्भवित नहीं है। उपचार मानने पर वृक्षपद उपस्थित समग्र वृक्ष में वृक्षावयव शाखा का अभेदारोप होने पर आधाराधेय भाव सम्बन्ध से अन्वय हो सकता है अतः उपचार मानना आवश्यक होगा।'

("कः किमाह") उक्त शंका का समाधान यह है कि उपचार करना पडेगा यह आपत्ति ही हमारे प्रति तभी दे सकते हैं, यदि हम 'वृक्षे कपिसंयोगः' इस स्थल में उपचार नहीं मानने की प्रतिज्ञा करते, परन्तु यह वस्तुस्थिति नहीं है, क्योंकि हम यहाँ भी उपचार को स्वीकार करते हैं। इसलिए उपचार की आपत्ति अनिष्ट नहीं है, किन्तु इष्ट ही है अर्थात् "वृक्षे कपिसंयोगः" यहाँ हमारे मत से उपचार ही होता है।

[समग्रता को त्याग देने से विना उपचार अन्वय होने की शंका का उत्तर]

("कात्स्न्यविनिर्मोकेण" इति-) यदि यह शंका की जाय कि-"वृक्षे कपिसंयोगः" इस स्थल में वृक्ष पद की शक्ति से समग्रवृक्ष की उपस्थिति यद्यपि होती है, उस दशा में कपिसंयोग के साथ वृक्षपदार्थ का आधाराधेयभाव सम्बन्ध से अन्वय सम्भवित नहीं है यह भी सत्य है, तथापि वृक्ष पदोपस्थित वृक्षपदार्थ में विशेषणीभूत कात्स्न्यं अर्थात् समग्रता का विनिर्मोक अर्थात् त्याग कर देंगे तब वृक्षैकदेश शाखा का ही बोध होगा, तब वृक्षैकदेश शाखा का कपिसंयोग के साथ आधाराधेयभाव सम्बन्ध से अन्वय होने में कोई बाधा नहीं है, तब तो उपचार के बिना भी अन्वय सिद्ध हो सकता है,

प्रयोगे "क्व" इत्याद्याकांक्षाबाहुल्याऽबाहुल्यकृतं विशुद्धयविशुद्धिवैचित्र्यम् । अत एव 'वसन् वसती'ति प्रयोगस्य व्युपरताकांक्षत्वात् सर्वविशुद्धनैगमभेदत्वम्—इत्यपि वदन्ति ।

तो फिर यहाँ उपचार मानने की क्या आवश्यकता है ?'–तो यह आशंका भी तत्त्वदृष्टि से विचार करने पर सङ्गत नहीं है । कारण, वृक्ष पदार्थ में जब तक शाखा रूप देश का आरोप न किया जाय अर्थात् उपचार नहीं होगा तब तक वृक्ष पदार्थ में विशेषणीभूत समग्रता का विनिर्मोक भी कैसे हो सकेगा ? इसलिए उपचार मानना आवश्यक है ।

यदि यह कहा जाय कि–'वृक्षपद की शक्ति से कात्स्न्र्य का विनिर्मोक उपचार के बिना भी हो सकता है ।'–तो यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि वृक्षपद की शक्ति से समग्रता का ग्रहण न होने पर वृक्षपद स्कन्धमात्र का बोधक होगा । स्कन्ध यह वृक्ष का जो एकत्व परिणाम, तद्रूप ही है और वही वृक्षपदार्थ है । इस दशा में वह स्कन्ध वृक्ष का एकदेश है अर्थात् अवयव है । अवयव अवयवी के बिना नहीं हो सकता है । समुदायएकदेश का समुदाय के बिना होना सम्भवित नहीं है । इसलिए स्कन्ध रूप पदार्थ से ही देशसमुदायरूप कात्स्न्र्य का उपग्रह हो जायगा । अतः उपचार आवश्यक है । यदि यह कहा जाय कि–"वृक्षपद का अर्थ हम अखण्ड वृक्ष ही मानते हैं, स्कन्ध-शाखादि भेद वृक्ष के अर्थ में प्रविष्ट नहीं मानते हैं । तब स्कन्धरूप एकदेश वृक्षपद का अर्थ न होगा और स्कन्धरूप एकदेश से समुदायरूप कात्स्न्र्य का आक्षेप नहीं होगा । तब तो कात्स्न्र्य का विनिर्मोक स्वतः सिद्ध हो जाता है । इस स्थिति में कपिसंयोग के साथ अन्वय होने में बाधा नहीं दीखती है, उपचार मानना आवश्यक नहीं है ।" –तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि भेदविनिर्मुक्त 'अखण्ड वृक्ष' वृक्षपद का अर्थ है ऐसा मानने में अनुभव का बाध आता है । मूल शाखादि भेदों से युक्त अवयवी वृक्ष का बोध वृक्षपद सुनने के बाद होता है, इस तरह का अनुभव प्रत्येक व्यक्ति को है । ऐसा अनुभव होने पर अनुभवविरुद्ध 'अखण्डवृक्ष वृक्ष पद का अर्थ है' ऐसा नहीं माना जा सकता । अतः "वृक्षे कपिसंयोगः" यहाँ पर भी उपचार माने बिना अन्वय सम्भवित नहीं है । इसलिए उपचार मानना आवश्यक ही है ।

['कहाँ ?' ऐसी आकांक्षा के अल्पबहुत्व से विशुद्धि वैचित्र्य—अन्य मत]

('प्रयोगे "क्व" इत्यादि –) अन्य विद्वानों का विशुद्धितरतमता के बारे में यह मत है कि "लोके वसति" "तिर्यग्लोके वसति" इत्यादि पूर्व कथित प्रयोगों में विशुद्धि का तारतम्य धर्मभेद से विभिन्न तत्तत् क्षेत्रों में गृहकोण क्षेत्र का अभेदारोप कर के बताया गया है । अब दूसरे प्रकार से भी तारतम्य का उपपादन हो सकता है, इस अभिप्राय से प्रकृत ग्रन्थ की प्रवृत्ति हुई है । वह दूसरा प्रकार यह है कि 'कहाँ ?' ऐसी आकांक्षा का बाहुल्य यानी अधिकता जिस प्रयोग में हो उस प्रयोग में अधिक अविशुद्धि होती है । जिसमें उक्त आकांक्षा का अबाहुल्य अर्थात् न्यूनता हो उस प्रयोग में विशुद्धि होती है । यह विशुद्धि अपेक्षाकृत है । जैसे–'लोके वसति' इस

व्यवहारेऽप्ययमेवानुसरणीयः पन्थाः। नन्वत्र कथं 'वसन् वसती'ति भेदः, पाटलिपुत्रादन्यत्र गतस्यापि पाटलिपुत्रवासित्वेनैव व्यवहारादिति चेत् ? सत्यम्, तत्र बहुकालप्रतिबद्धतद्गतगृहकुटुम्बस्वामित्वाद्यर्थं वासित्वपदोपचारेण तथाप्रयोगात्।

प्रयोग को सुनने पर यह आकांक्षा होती है कि लोक तो ऊर्ध्वादि अनेक हैं, उनमें से किस लोक में बसता है ? इस आकांक्षा की निवृत्ति के लिए यदि कहा जाय कि 'तिर्यग्लोके वसति' तो इस प्रयोग को सुनने पर भी श्रोता को यह आकांक्षा अवश्य होती है कि तिर्यग्लोक में तो असंख्य द्वीप हैं, उनमें से किस द्वीप में बसता है ? इस आकांक्षा की निवृत्ति के लिए यदि कह दे कि 'जम्बूद्वीपे वसति' तो भी निराकांक्ष बोध नहीं होता है क्योंकि जम्बूद्वीप में बहुत से क्षेत्र हैं, उनमें से किस क्षेत्र में बसता है ! ऐसी आकांक्षा श्रोता को हो ही जाती है। इसकी निवृत्ति के लिए यदि यह कहा जाय कि 'भरतक्षेत्रे वसति' तो इस वाक्य के सुनने पर भी यह आकांक्षा अवश्य होती है कि भरत क्षेत्र के तो दो भाग हैं-उत्तरार्द्ध और दक्षिणार्द्ध, उनमें से किस भाग में बसता है ? इस आकांक्षा की निवृत्ति के लिए कहें 'भरतदक्षिणार्द्धे वसति' तथापि भरत क्षेत्र के दक्षिणार्द्ध में बहुत से नगर हैं, उनमें से किस नगर में बसता है ? यह आकांक्षा उत्पन्न होती है। इस आकांक्षा की निवृत्ति के लिए 'पाटलिपुत्रनगरे वसति' ऐसा प्रयोग करे तो भी पाटलिपुत्र नगर में तो बहुत से घर हैं, उनमें से किस घर में बसता है ? इस आकांक्षा को दूर करने के लिए यदि कहे कि 'देवदत्तगृहे वसति' तथापि यह आकांक्षा अवश्य जागृत होती है कि देवदत्त के घर में तो अनेक विभाग हैं, उनमें से कौन से विभाग में बसता है ? इसकी निवृत्ति के लिए यदि कहा जाय कि 'मध्यगृहे वसति' तब कोई आकांक्षा नहीं होती है और निराकांक्ष बोध होता है। यहां "तिर्यग्लोके वसति" इस प्रयोग के बाद जब तक निराकांक्ष बोध नहीं होता है तब तक भिन्न-भिन्न आकांक्षाएँ होती रहती हैं। "तिर्यग्लोके वसति" इस प्रयोग के बाद जो आकांक्षाएँ होती हैं, वे 'लोके वसति' इस प्रयोग के बाद होने वाली आकांक्षाओं से अल्प हैं। इसलिए "लोके वसति" इस प्रयोग में आकांक्षाओं की अधिकता है। अतः इस प्रयोग में सब से अधिक अविशुद्धि है। तदपेक्षया "तिर्यग्लोके वसति" इस प्रयोग में अल्प अविशुद्धि है क्योंकि यहाँ आकांक्षा की मात्रा कुछ अल्प है। इसी तरह "जम्बूद्वीपे वसति" इस प्रयोग में "तिर्यग्लोके वसति" इस प्रयोग की अपेक्षा आकांक्षा अल्प है, इसलिए अविशुद्धि अल्प है। इसी रीति से अन्य प्रयोगों में भी जिसकी अपेक्षा से जिस में आकांक्षा का आधिक्य जान पडे उसकी अपेक्षा से उसमें अधिक अविशुद्धि जाननी चाहिए, तथा जिस प्रयोग में जिस प्रयोग की अपेक्षा से आकांक्षा की अल्पता प्रतीत हो उस प्रयोग की अपेक्षा से अल्पाकांक्षावाले प्रयोग में विशुद्धि भी समझनी चाहिए। आकांक्षा की अधिकता और न्यूनता से ही अविशुद्धि और विशुद्धि के तारतम्य का निश्चय होता है। इसी से ही 'वसन् वसति' यह प्रयोग सबसे विशुद्ध नैगमका भेद माना जाता है, क्योंकि "वसन् वसति" इस प्रयोग के बाद कोई भी प्रकार की आकांक्षा नहीं उठती है। इसलिए "वसन् वसति" इस प्रयोग से श्रोता को निराकांक्ष बोध होता है, इस रीति से भी विशुद्धि और अविशुद्धि में वैचित्र्य का उपपादन हो सकता है।

[वसति के दृष्टान्त में व्यवहारनय का अभिप्राय]

("व्यवहारेऽप्ययमेवे"-त्यादि-) "वसति" दृष्टान्त से गुरु गुरुतर विषयवाले नैगम भेदों में जैसे उपचार के कारण अविशुद्धि का तथा अल्प अल्पतर विषय वाले नैगम भेदों में आपेक्षिक विशुद्धि का विचार किया गया है, उसी रीति से गुरु गुरुतर विषय वाले "व्यवहारनय" के भेदों में भी उपचार होने के कारण आपेक्षिक अविशुद्धि का विमर्श करना चाहिए तथा अल्प अल्पतर विषय वाले "व्यवहारनय" के भेदों में पूर्व-पूर्व की अपेक्षा से उत्तरोत्तर भेदों में विशुद्धि का विमर्श करना चाहिए अर्थात् विशुद्धि का अपकर्ष और उत्कर्ष समझने के लिए तथा अविशुद्धि का अपकर्ष और उत्कर्ष समझने के लिए एक ही मार्ग का आश्रय नैगम नय के भेदों में और व्यवहार नय के भेदों में करना चाहिए।

[व्यवहारनय में 'वसन् वसति' इस भेद पर आपत्ति की शंका]

("नन्वधेति"-) यदि यहाँ शंका उठे कि-"अतिशुद्धनैगम नय" का वर्त्तमान कालीन "वसति" के अभिप्राय से "वसन् वसति" यह भेद माना गया है। यह भेद व्यवहार नय में नहीं हो सकता है। कारण, लोक में जैसा व्यवहार होता है, वैसा ही व्यवहार-नय मानता है। लोक में तो यदि वर्त्तमान काल में अन्य स्थान में कोई वसता हो, तो भी पूर्व कालीन वास को लेकर पूर्वकालीन वास का आश्रय जो स्थान, तद्वासित्वेन व्यवहार देखने में आता है। जैसे-पाटलिपुत्र में वास करने वाला देवदत्त पाटलिपुत्र से अन्यत्र कुछ प्रयोजन वश प्रयागादि में गया हो, तो भी प्रयागादि के लोक उसको यह पाटलिपुत्र वासी है ऐसा ही व्यवहार करते हैं उस समय देवदत्त में पाटलिपुत्रवास वर्त्तमान नहीं है। तब "व्यवहार नय" में भी अविशुद्धि और विशुद्धि का ज्ञान करने के लिए नैगमनय से स्वीकृत मार्ग का आश्रयण करना चाहिये'-यह कथन असंगत प्रतीत होता है।"-

[अन्यत्र गत व्यक्ति में पाटलिपुत्रवासित्व व्यवहार औपचारिक-उत्तर]

("सत्यम्"-) तो इस शंका का समाधान यह है कि पाटलिपुत्र में वास न करता हो उस काल में भी 'यह पाटलिपुत्रवासी है' ऐसा व्यवहार जो होता है उसका हम भी स्वीकार करते हैं सर्वथा निषेध नहीं करते हैं, किन्तु प्रयागस्थित देवदत्त में पाटलिपुत्र-वासित्व का व्यवहार जो लोक में होता है वह मुख्य व्यवहार नहीं है किन्तु वह व्यवहार उपचार से होता है। देवदत्त में चिरकाल से संबद्ध जो पाटलिपुत्रगत गृहस्वामित्व और पाटलिपुत्रगत कुटुम्बस्वामित्व है उसका प्रयागवासीत्व में आरोप कर के पाटलिपुत्रवासी पद का प्रयोग किया जाता है। यहाँ "आदि" पद से पाटलिपुत्ररूढव्यवहारत्व, पाटलिपुत्रगत ख्यातिमत्त्व इत्यादि का सूचन किया गया है क्योंकि चिरकाल तक पाटलिपुत्र में बसने से लोग वही व्यवहार करते हैं कि 'यह पाटलिपुत्र का वासी है'। तथा पाटलिपुत्र में अधिक काल बसने से वहाँ उसकी प्रसिद्धि हो गई हो तो प्रयाग में बसते समय में भी लोक चैत्रादि में 'यह पाटलिपुत्र का वासी है' यह व्यवहार करते हैं। ये सभी व्यवहार उपचार से ही होते हैं इसलिए गौण ही हैं, मुख्य तो नहीं हैं।

वस्तुतो 'वसन्नेव वसती'ति व्यवहारेणाऽप्यभ्युपगमात्, अन्यथा 'नाद्य सोऽत्र वसती'ति व्यवहारो न स्यात् । व्यवहारबलवत्त्वाऽबलवत्त्वे त्वभ्यासानभ्यासाधीने इति नात्र निर्बलत्वाऽऽशङ्कापि युक्तेति दिक् ॥

सङ्ग्रहस्तु संस्तारकारूढ एव 'वसती'त्यभ्युपैति, अन्यत्र हि वासार्थ एव तस्य न घटते । न चायं प्राग्वदुपचारमप्याश्रयते । अत एव 'मूले वृक्षः कपिसंयोगी'त्यत्राप्येतन्मते 'मूलाभिन्नो वृक्षः कपिसंयोगी'त्येवार्थ इति दिक् ॥

("वस्तुतो" इत्यादि –) वास्तव में तो सर्वविशुद्ध नैगम विशेष की भाँति व्यवहार-नय में भी चैत्रादि जब पाटलिपुत्रादि क्षेत्र में जिस स्थल में जिस काल में वास करता है, उसी काल में 'यहाँ यह वसता है' ऐसा व्यवहार मान्य है और यही व्यवहार मुख्य है । निवासकाल में ही 'यहाँ यह वसता है' ऐसा व्यवहार यदि व्यवहारनय को मान्य न हो तो 'वह आज यहाँ नहीं बसता है' ऐसा व्यवहार जो होता है वह उपपन्न नहीं होगा। वासकाल में ही 'वसति' यह व्यवहार मान्य कर लेने से जब चैत्र कार्यवशात् कहीं अन्यत्र गया हो तब 'आज वह यहाँ नहीं बसता है' ऐसा व्यवहार होने में कोई बाधक नहीं होता है । यदि कहें कि–'प्रयागादि अन्यस्थानगत चैत्रादि में जो 'यह पाटलिपुत्र का वासी है' ऐसा व्यवहार होता है वही बाधक होगा । इसलिए 'वह आज यहाँ नहीं बसता है' यह व्यवहार न होना ही उचित है'–तो यह ठाक नहीं है क्योंकि बाध्यबाधकभाव वहाँ होता है जहाँ एक दुर्बल और दूसरा प्रबल हो । व्यवहार में जो दुर्बलता और प्रबलता होती है वह व्यवहार की अल्पता और अधिकता प्रयुक्त ही होती है । व्यवहारालपता को ही शास्त्रकार "अनभ्यास" शब्द से संबोधित करते हैं और व्यवहार का जो आधिक्य उसे अभ्यास शब्द से संबोधित करते हैं। यहाँ दोनों व्यवहार प्रचुरतया लोक में पाए जाते हैं । इसलिए कोई भी दुर्बल अथवा प्रबल नहीं है । अतः 'वह आज यहाँ नहीं बसता है' इस व्यवहार में दुर्बलता की आकांक्षा करना युक्त नहीं है ।

[वसति के दृष्टान्त में संग्रहनय का अभिप्राय]

("संग्रहस्तु" इत्यादि) संग्रहनय के मत से संस्तारक पर आरूढ अर्थात् गृहस्थित बिछौने पर देवदत्त जिस काल में बैठा हो उस स्थिति में ही देवदत्त में 'वसति' शब्द का प्रयोग होना स्वीकार्य है । जो संस्तारक पर बैठा नहीं है. ऐसे–देवदत्त में 'वास' शब्दार्थ ही नहीं घटता है । 'वास' शब्द का अर्थ आधारता है । वह आधारता आधेयता से नित्य साकांक्ष होती है । इसलिए गृहवृत्ति आधारता देवदत्तादिवृत्ति आधेयता से निरूपित होती है । देवदत्तादिवृत्ति आधेयता भी आधारता में सदा साकांक्ष रहती है, इसलिए वह भी गृहवृत्ति आधारता से निरूपित होती है । इसी हेतु से गृह और देवदत्त में आधाराधेयभाव सिद्ध होता है । देवदत्तादि में गृहाधेयत्व ही 'वास' शब्द का अर्थ है । वह संस्तारकारूढ देवदत्तादि में ही घटता है, जो संस्तारकारूढ नहीं है, ऐसे पुरुष में गृहाधेयत्व सम्भव नहीं है, यह संग्रह नय का अभिप्राय है । शङ्काः– नैगम

ऋजुसूत्रस्तु—येष्वाकाशप्रदेशेषु देवदत्तोऽवगाढस्तेष्वेव तद्वासमभ्युपैति । संस्तारके तद्वसत्युपगमे तु गृहकोणादावपि तदुपगमप्रसङ्गः । संस्तारकावच्छिन्नव्योमप्रदेशे तु संस्तारक एवावगाढो न तु देवदत्तोऽपीति न तत्रापि तद्वसतिभणितिः । संस्तारक-गृहकोणादौ देवदत्तवसतिव्यवहारस्तु प्रत्यासत्तिदोषाद् भ्रान्तिमूलकः । विवक्षिताकाशप्रदेशेष्वपि च वर्त्तमानसमय एव देवदत्तवसतिर्नातीतानागतयोः, तयोरसत्त्वात्, प्रतिसमयं* चलोपकरणतया तावदाकाशप्रदेशमात्रावगाहनाऽसम्भवाच्चेति दिक् ।

और व्यवहारनय के मत में जैसे-संस्तारकारूढभिन्न पुरुष में गृहाधेयत्वरूप वासार्थ उपचार से सङ्गत माना जाता है, उसी रीति से संग्रहनय में भी संस्तारकारूढभिन्न पुरुष में वासार्थ सङ्गत हो सकता है, तो संग्रहनय उसका स्वीकार क्यों नहीं करता है ? समाधानः-"संग्रहनय" उपचार को मानता ही नहीं है । इसलिए संस्तारकारूढ भिन्न पुरुष में वासार्थ नहीं सङ्गत हो सकता है । यहाँ शङ्काः- सङ्ग्रह यदि उपचार का नहीं आश्रय करता है, तब "मूल में वृक्ष कपिसंयोगवान् है" ऐसा वाक्यप्रयोग जो होता है वह संग्रह के मत में कैसे होगा, क्योंकि समग्रवृक्ष में तो कपिसंयोग नहीं है । समाधानः-संग्रह के मत में 'मूलदेश से अभिन्न जो वृक्ष वह कपिसंयोगवान् है,' यही अर्थ ग्राह्य है । "मूले वृक्षः कपिसंयोगी" इस वाक्य में मूलपदोत्तर सप्तमी विभक्ति का अभेद अर्थ संग्रह मानता है । इसलिए पूर्वोक्त अर्थ ही इस के मत में माना जाता है । मूलपदोत्तर सप्तमी विभक्ति का अवच्छेदकत्व अर्थ मानकर "मूलावच्छिन्न वृक्ष कपिसंयोगवान् है" ऐसा वाक्यार्थ संग्रह को मान्य नहीं है, क्योंकि ऐसा वाक्यार्थ मानने में वृक्षपद का मूलावच्छिन्न वृक्षरूप वृक्षैकदेश में उपचार करना पडता है । संग्रह तो उपचार का आश्रय नहीं करता है । अतः संग्रहनय के मत से 'मूलाभिन्न वृक्ष कपिसंयोगवाला है' यही अर्थ "मूले वृक्षः कपिसंयोगी" इस वाक्य से निकलता है ।

(वर्त्तमान काल में ही देवदत्त का वास स्वीकार्य)

("ऋजुसूत्रस्तु" इत्यादि)-ऋजुसूत्र जिन आकाशप्रदेशों में देवदत्त का संयोग रहता है, उन आकाशप्रदेशों में ही देवदत्त के वास को स्वीकार करता है । संस्तारक में भी देवदत्त का वास नहीं मानता है, कारण, संस्तारक में देवदत्त का वास मानने पर उपचार का आश्रय लेना पडता है, क्योंकि समग्र संस्तारक के साथ देवदत्त संयोग नहीं रहता है । किन्तु संस्तारक के एक देश के साथ ही देवदत्त का संयोग रहता है । जिन आकाशप्रदेशों में देवदत्त का संयोग रहता है, उन आकाशप्रदेशों में देवदत्त का वास मानने में उपचार का आश्रय लेना आवश्यक नहीं है । इसलिए "ऋजुसूत्र" की मान्यता "सङ्ग्रह" की मान्यता की अपेक्षा से सूक्ष्म प्रतीत होती है । "ऋजुसूत्र" का यह भी कहना है कि सङ्ग्रह यदि संस्तारक में देवदत्त के वास का स्वीकार

* उपकरोत्यनेनेत्युपकरणम्=स्वभावः, चलं=अस्थिरमुपकरणं यस्य स चलोपकरणः, तस्य भावः चलोपकरणता तया चलोपकरणतयेत्यर्थः, आत्मप्रदेशानां कम्पनशीलत्वादिति तात्पर्यम् ।

करेगा तो गृहकोण, गृहमध्यप्रदेश आदि में भी देवदत्त के वास का अतिप्रसङ्ग संग्रह के मत में आवेगा, क्योंकि संस्तारक में देवदत्त का वास उपचाराश्रयण के विना सम्भवित नहीं है। इसलिए उपचार का आश्रयण कर के ही संस्तारक में वास मानना होगा, तब तो उपचार का आश्रयण कर के देवदत्त का वास गृहकोण आदि में भी सम्भवित हो सकता है। अतः गृहकोणादि में भी देवदत्त के वास का स्वीकार संग्रह को करना पडेगा।

("संस्तारकावच्छिन्न०) जिन आकाशप्रदेशों का इतर आकाशप्रदेशों से व्यावर्त्तक अर्थात् पृथक् करने वाला संस्तारक है, वे आकाशप्रदेश संस्तारकावच्छिन्न आकाशप्रदेश माने जाते हैं। उनमें भी देवदत्त के वास का व्यवहार ऋजुसूत्र नहीं करता है क्योंकि उन आकाशप्रदेशों के साथ संस्तारक का ही संयोग है, देवदत्त का संयोग नहीं है। यहाँ पर यह ध्यान में रखना चाहिए कि संयोग को जैसे तार्किकलोग गुणरूप मानते हैं वैसा गुणरूप संयोग जैन सिद्धान्त में नहीं माना गया है किन्तु नैरन्तर्यरूप अथवा देशपरिणामरूप संयोग ही माना गया है। संस्तारकारूढ आकाशप्रदेश के साथ संस्तारक का ही नरन्तर्य है। देवदत्त और संस्तारकावच्छिन्न आकाशप्रदेशों का नैरन्तर्य नहीं है क्योंकि इन दोनों के माध्यम में संस्तारक ही व्यवधानरूप है। इसलिए संस्तारकावच्छिन्न आकाशप्रदेशो में देवदत्त के वास का कथन सङ्गत नहीं है।

शंकाः- देवदत्त संस्तारक में वसता है, गृहकोण में वसता है, गृहमध्यभाग में वसता है- इत्यादि व्यवहार लोक में होते हैं, वे ऋजुसूत्र के मत से नहीं होंगे, क्योंकि ऋजुसूत्र संस्तारक-गृहकोणादि में देवदत्त के वास को नहीं मानता है, तब तो ऋजुसूत्र को लोक के साथ विरोध होगा? समाधानः-ऋजुसूत्र के मत अनुसार 'देवदत्त संस्तारक में वसता है' इत्यादि व्यवहार जो लोक में होते हैं वे भ्रान्तिमूलक हैं। संस्तारक और गृहकोणादि में देवदत्त का वास न होने पर भी देवदत्त के वास की बुद्धि का होना ही भ्रान्ति है। जहाँ पर जिस वस्तु का अभाव हो, वहाँ उस वस्तु की बुद्धि को ही भ्रान्ति कही जाती है। यह भ्रान्ति का लक्षण, 'संस्तारकादि में देवदत्त का वास है' इत्याकारक बुद्धि में भी घटता है क्योंकि संस्तारक में देवदत्त के वास का अभाव है, तो भी देवदत्त वास की बुद्धि होती है।

शङ्काः- भ्रान्ति का मूल दोष माना गया है। जिसके नेत्र में दोष होता है उसी को चन्द्र में द्वित्वभ्रम होता है। ऐसे तो चन्द्र एक ही है, यह शास्त्र और लोक में निश्चित है। यहाँ भी संस्तारक आदि में देवदत्त के वास की बुद्धिरूप भ्रान्ति में कुछ दोष होना आवश्यक है नहीं तो दोषरूप कारण के विना भ्रान्तिरूप कार्य ही नहीं हो सकेगा, वह दोष कौन है? समाधानः-यहाँ प्रत्यासत्ति का अर्थ होता है सम्बन्ध, यहाँ सामीप्यघटित परंपरा सम्बन्धरूप है, जिन आकाशप्रदेशों में देवदत्त का वास है, उन प्रदेशों के समीपवर्त्ती आकाशप्रदेशों में संस्तारक है। इसलिए देवदत्तावच्छिन्न आकाशप्रदेश और संस्तारकावच्छिन्न आकाशप्रदेश, ये दोनों एक दूसरे के समीपवर्त्ती है। इसलिए देवदत्तावच्छिन्न आकाशप्रदेश का संस्तारकावच्छिन्न आकाशप्रदेश में सामीप्य सम्बन्ध है और

शब्दसमभिरूढैवम्भूतास्तु स्वात्मन्येव वसतिमङ्गीकुर्वते । न ह्यन्यस्यान्यत्र वसति-सम्भवः, सम्बन्धाभावात्, असम्बद्धयोराधाराधेयभावे चातिप्रसङ्गादिति दिक् ॥

संस्तारकावच्छिन्न आकाशप्रदेश का अवच्छेदक संस्तारक है । इसलिए देवदत्त का संस्तारक के साथ 'स्वावच्छिन्नाकाशप्रदेशसमापवर्त्याकाशप्रदेशावच्छेदकत्व' सम्बन्ध हो जाता है, यही दोषरूप है । देवदत्त के वास का अभाव संस्तारक में रहने पर भी इस सामीप्यघटितपरंपरा सम्बन्ध से देवदत्त के वास की बुद्धि संस्तारक में हो जाती है । यह बुद्धि भ्रान्तिरूप होती है और यही बुद्धि 'संस्तारक में देवदत्त बसता है' इस व्यवहार का बीज होती है । इसी तरह गृहकोण में देवदत्त बसता है, इस व्यवहार का मूल भी भ्रान्ति ही है । वह भ्रान्ति गृहकोण में देवदत्त का वास न होने पर भी देवदत्त के वास की बुद्धिरूप है, उस भ्रान्ति में प्रत्यावृत्तिरूप दोष है । गृहकोण में देवदत्त का प्रत्यावृत्ति भी सामीप्य घटित है, क्योंकि गृहकोणावच्छिन्नाकाशप्रदेश देवदत्तावच्छिन्नाकाशप्रदेश के समीपवर्त्ती है इसलिए 'स्वावच्छिन्न आकाशप्रदेश समीपवर्ती आकाशप्रदेशावच्छेदकत्व-रूप देवदत्त की प्रत्यासत्ति गृहकोण में पहुँचती है । इसी रीति से गृहमध्य में देवदत्त बसता है, इत्यादि व्यवहार भ्रान्तिमूलक होते हैं, भ्रान्ति में मूलभूत दोषरूप प्रत्यासत्ति की कल्पना निकट पूर्व में बताई गई है उस रीति से करनी चाहिए । संस्तारक आदि में देवदत्त के वास का व्यवहार प्रामाणिक नहीं है, यह ऋजुसूत्र की मान्यता उक्त विवेचन से सिद्ध होती है ।

[वर्त्तमान काल में ही देवदत्त का वास स्वीकार्य]

(विवक्षित) जिन आकाशप्रदेशों में देवदत्त का संयोग होने पर देवदत्त का वास ऋजुसूत्र मानता है, उन आकाशप्रदेशों में भी वर्त्तमान काल में ही देवदत्त का वास उसको मान्य है । अतीत और और अनागत काल में देवदत्त का वास उन विवक्षित आकाश-प्रदेशों में भी वह नहीं मानता है । कारण, अतीत और अनागतकाल की सत्ता भी उसको मान्य नहीं है । इतना ही नहीं अतीत अनागत काल में वर्तमान देवदत्त की सत्ता भी उसको मान्य नहीं है, उसको तो वर्त्तमानकाल में ही देवदत्त का सत्ता अभीष्ट है । दूसरा कारण यह भी है कि आत्मा के प्रदेश संसारी अवस्था में सदा कम्पनशील ही रहते हैं– इसी को जैन परिभाषा में चलोपकरणता कहते हैं । इस चलोपकरणता के कारण प्रति-समय देवदत्तादि सर्व संसारी जीवों का अवगाहनक्षेत्र बदलता रहता है । अतः पूर्वक्षण में देवदत्त (का आत्मा) जिन आकाशप्रदेशों में अवगाढ था, दूसरे क्षण में उस देवदत्त (के आत्मा) की स्थिति सूक्ष्म आंदोलन (कम्पन) के कारण बदल जाने से उसका अवगाहन क्षेत्र भी बदल जाता है । अतः ऋजुसूत्र के मत से दूसरे क्षण में पूर्वावगाढाकाशप्रदेश मात्र परिमित अवगाहना का सम्भव ही नहीं है ।

[तीन शब्दादिनय का वसतिदृष्टान्त में अभिप्राय]

(शब्दसमभि० इत्यादि) शब्द, समभिरूढ और एवम्भूत, देवदत्त का जिन आकाश-प्रदेशों में अवगाहन रहता है, उन आकाशप्रदेशों में भी देवदत्त का वास नहीं मानते

एवमेभिः श्रुतोपदर्शितनिदर्शनैरेतेषां यथाक्रमं विशुद्धत्वमवसेयम् ॥
अथैतेषां लक्षणानि वक्ष्यामः ॥ "निगमेषु भवोऽध्यवसायविशेषो नैगमः" । तद्भवत्वं च लोकप्रसिद्धार्थोपगन्तृत्वम्, लोकप्रसिद्धिश्च सामान्यविशेषाद्युभयोपगमेन निर्वहति ।

हैं, किन्तु देवदत्त का वास देवदत्त की अपनी आत्मा में ही मानते हैं क्योंकि देवदत्त का तादात्म्यसम्बन्ध देवदत्त-आत्मा में रहता है। तादात्म्य से अतिरिक्त संयोग आदि संबन्ध को ये नय नहीं स्वीकार करते हैं। तादात्म्य संबन्ध तो देवदत्त का देवदत्त के साथ ही सम्भवित है, आकाशप्रदेश वा गृहकोणादि के साथ देवदत्त का तादात्म्य संबन्ध नहीं हो सकता है, इसलिए देवदत्त का वास अन्यत्र न मानने में इन नयों का अभिप्राय है। ये नय कहते हैं कि अन्य का वास अन्यत्र हो ही नहीं सकता है, क्योंकि अन्य के साथ अन्य का तादात्म्य संबन्ध नहीं रहता है, तादात्म्य से इतर संबन्ध इनके मत में है ही नहीं। असम्बद्ध वस्तुद्वय का आधाराधेयभाव नहीं होता है। इसलिए आकाशप्रदेश गृहकोणादि में देवदत्त का वास मानना सङ्गत नहीं है। यदि संबन्ध के बिना भी विवक्षित आकाशप्रदेश या गृहकोणादि में देवदत्त का वास माना जाय तो विवक्षित आकाशप्रदेश से भिन्न आकाशप्रदेश में भी देवदत्त के वास का अतिप्रसङ्ग खडा होगा। तथा गृहकोण से भिन्न गृहभाग में भी देवदत्त के वास का प्रसङ्ग हो जायगा, क्योंकि सम्बन्ध का अभाव सर्वत्र समान होने से कोई नियामक नहीं है कि जिसके बल से विवक्षित आकाशप्रदेशों में ही देवदत्त का वास माना जाय और तद्भिन्न प्रदेशो में न माना जाय। ऐसे ही गृहकोण में ही देवदत्त का वास माना जाय और अन्य गृहभाग में न माना जाय इसका भी कोई नियामक नहीं है। आशय यह है कि सम्बन्ध ही आधाराधेयभाव का नियामक होता है, वह सम्बन्ध तादात्म्य से अतिरिक्त तो है ही नहीं, तादात्म्य सम्बन्ध तो देवदत्त के साथ देवदत्त का ही है, अन्य के साथ नहीं है। इस हेतु से देवदत्त के साथ ही आधाराधेयभाव मानना युक्त है, अन्य के साथ देवदत्त का आधाराधेयभाव मानना युक्तिसङ्गत नहीं है।

(एवमेभिरिति) नैगमादिनयों में क्रमिक विशुद्धता प्रदर्शित करने के लिए प्रदेश, प्रस्थक और वसति इन तीन दृष्टान्तों का उपक्रम पूर्व में किया गया है और इन तीनों दृष्टान्तों का अवलंबन करके इन तीन प्रकारों से क्रमिक विशुद्धि को ग्रन्थकार ने जो बताया है उसका उपसंहार प्रकृत ग्रन्थ से करते हैं।

नैगम, व्यवहार, संग्रह, ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ, एवंभूत, इन सात नयों की पूर्व-पूर्व की अपेक्षा से उत्तरोत्तर नय में क्रमिक विशुद्धि का ज्ञान इन तीनों दृष्टान्तों के अवलंबन से पूर्व में प्रदर्शित रीति के अनुसार करना चाहिए-इसी रीति से क्रमिक विशुद्धि का ज्ञान नैगमादि नयों में हो सकता है, अन्यथा नहीं हो सकता है। कारण, यह क्रमिक विशुद्धता बहुत सूक्ष्म है और जटिल भी है। अतः नयों की विशुद्धता के जिज्ञासु लोगों को अन्य रीति का अवलंबन न कर के इन तीन दृष्टान्तों का अनुसरण करना ही विशुद्धिज्ञान के लिए अधिक उपकारी हो सकता है।

[नैगमनय का लक्षण—लोकप्रसिद्ध अर्थ ग्राहक अध्यवसाय]

(अथैतेषामिति) प्रकृत ग्रन्थ में अथ शब्द आनन्तर्यरूप अर्थ का बोधक है। "अनन्तर" शब्द से भावार्थक तद्धित प्रत्यय लगाने पर "आनन्तर्य" शब्द बनता है। "अनन्तर" शब्द में प्रविष्ट अन्तर शब्द का व्यवधान अर्थ होता है। इसलिए "अर्थ" शब्द से व्यवधान रहित उत्तर काल का बोध होता है। लक्षण ग्रन्थ के आरंभ के पूर्व में प्रदेश, प्रस्थक, वसति दृष्टान्तों के द्वारा नैगम आदि सप्तविध नयों में विशुद्धि के तारतम्य का निरूपण ग्रन्थकार ने किया है। उसके बाद नगमादि सप्तविध नयों के लक्षणों का निरूपण करने की प्रतिज्ञा कर के ग्रन्थकार लक्षण निरूपण में प्रवृत्त होते हैं। इसलिए नयगत विशुद्धि तारतम्य निरूपण और नय विशेषों का लक्षण निरूपण इन दोनों में अव्यवहित पूर्वापरभाव है। यही "आनन्तर्य" पदार्थ है, इसी को अथ शब्द से सूचित किया गया है।

(निगमेषु इति) "निश्चयेन गम्यन्ते प्रयुज्यन्ते शब्दा यत्र" इस विग्रह के अनुसार जहाँ शब्दों का निश्चित रूप से तत्तत् अर्थों में प्रयोग होता है वे "निगम" कहे जाते हैं। शब्दों का प्रयोग लोक में होता है, इसलिए "निगम" पद का अर्थ लोक या जनपद यहाँ विवक्षित है। मनुष्यों का आवास जिस में रहता है, वह देश जनपद कहा जाता है, वहाँ शब्दों का तत्तदर्थों में प्रयोग होता है। इसलिए निगम शब्द का जनपद भी अर्थ होता है और 'इस शब्द का यह अर्थ है' तथा 'यह शब्द इस अर्थ का बोधक है' ऐसा शब्दार्थ का परिज्ञान भी लोक में या जनपद में होता है। अतः "निगम पद से लोक या जनपदरूप अर्थ यहाँ विवक्षित है। उन "निगमों" में होनेवाला जो अभिप्रायविशेष उसको "नैगमनय" कहते हैं। यहाँ "निगमों में होनेवाला" इसका अर्थ यही है कि लोकप्रसिद्ध अर्थ का स्वीकार नैगमनय करता है और लोक में प्रसिद्ध वस्तुमात्र में सामान्यात्मकत्व और विशेषात्मकत्व है, अर्थात् घटपटादि पदार्थ का निरूपण "नैगमनय" की दृष्टि से जब किया जाता है तब सकल घट व्यक्ति में आश्रित सामान्य घट का अवलंबन करना आवश्यक होता है क्योंकि सामान्य घट ही "घटः" इस तरह के प्रयोग में और "घटः" इस तरह की बुद्धि में हेतु है। तथा यह सुवर्ण घट है, यह रजत घट है, यह मृत्तिका घट है, इस तरह विशेष का भी निरूपण नैगम की दृष्टि से होता है, इसलिए सामान्य–विशेष ये दोनों अर्थ लोकप्रसिद्ध माने जाते हैं। अतः लोकप्रसिद्ध अर्थ को जो स्वीकार करे वह अभिप्रायविशेष ही "नैगमनय" हैं, ऐसा नैगम का लक्षण सिद्ध होता है। इसी लक्षण को शब्दान्तर में कहें, तो सामान्य और विशेष इन दोनों को स्वीकार करने वाला अध्यवसाय विशेष नैगमनय है ऐसा लक्षण सिद्ध होता है। ग्रन्थकार ने मूल ग्रन्थ में सामान्य विशेष पद के बाद और उभयपद के पूर्व में आदि पद का उपादान किया है। उस आदि पद से भेदाभेद, नित्यानित्य इत्यादि विरोधी द्वन्द्वों का सूचन किया है। इसलिए वस्तु मात्र में भेदाभेद इन दोनों का स्वीकार जिस में हो ऐसे अभिप्राय विशेष भी नैगम का लक्षण हो सकता है तथा वस्तु मात्र में नित्यानित्योभयात्मकत्व का स्वीकर्ता अभिप्राय विशेष भी नैगम का लक्षण हो सकता है।

अथ स्वतन्त्रसामान्यविशेषोभयाभ्युपगमे कणादवद् दुर्नयत्वम्, शबलतदभ्युपगमे च प्रमाणत्वमेव, यथास्थानं प्रत्येकं गौणमुख्यभावेन तदुपगमे च सङ्ग्रहव्यवहारान्यतरप्रवेश इति चेत् ?, न तृतीयपक्षाश्रयणे दोषाभावात्, उपधेयसाङ्कर्येऽप्युपाध्योरसाङ्कर्यात् ॥

[नैगम में दुर्नयत्व, प्रमाणत्व एवं संग्रहव्यवहारान्यतरप्रवेश की आपत्ति]

(अथ स्वतन्त्र....इति) यह शंका हो सकती है कि–'सामान्य–विशेष उभय को स्वीकार करने वाले अध्यवसायविशेष को नैगमनय का लक्षण माना जाय तो यहाँ सामान्य विशेष इन दोनों को स्वतन्त्ररूप से मानने में कणाद दर्शन में जैसे दुर्नयत्व है, उसी तरह नैगमनय में भी दुर्नयत्व की आपत्ति आयेगी। कारण, कणाद दर्शन में सामान्य और विशेष को परस्पर भिन्न माना गया है तथा आश्रय रूप धर्मी से अत्यन्त भिन्न माना गया है। इसीलिए सामान्य और विशेष न तो धर्मीपरतन्त्र है और न परस्पर परतन्त्र है, किन्तु स्वतन्त्र हैं। इसी रीति से नैगम भी यदि धर्मी से भिन्न और परस्पर भिन्न सामान्य विशेष उभय का अभ्युपगम करे तो दुर्नयत्व का प्रसङ्ग नैगम में होगा, जो जैनसिद्धान्त में इष्ट नहीं है। इस आपत्ति का वारण करने के लिए यदि सामान्य विशेष को शबलरूप से माने तो, नैगम नय में नयत्व न रहकर प्रमाणत्व आ जायगा। कारण, धर्मी से कथञ्चित् अभिन्न सामान्यविशेषोभयस्वरूपवस्तुग्राहकज्ञान प्रमाण हो जाता है क्योंकि कथञ्चित् अभिन्न सामान्यविशेषोभयात्मकवस्तुज्ञानत्व ही प्रमाण का लक्षण है। वस्तु सामान्यात्मक और विशेषात्मक भी हो सकती है यदि सामान्य और विशेष में वस्तुरूप धर्मी के साथ कथञ्चिद् अभेद माना जाय। ऐसा मानने पर वस्तु स्वरूप में सामान्य और विशेष इन दोनों का मिश्रण होता है क्योंकि वस्तुरूप धर्मी सामान्यात्मक भी है और विशेषात्मक भी है। अतः सामान्यविशेषोभय, वस्तु स्वरूप में मिश्रित होने से शबल पद से व्यवहृत होता है। इस तरह के सामान्यविशेषोभय को नैगमनय यदि माने तो, नैगमनय और प्रमाण में भेद का प्रयोजक कुछ नहीं पाया जाता है, अतः नैगमनय में प्रमाणत्व प्रसङ्ग खडा होता है। इस आपत्ति को दूर करने के लिए यदि कहा जाय कि 'नैगमनय सामान्यविशेषोभय का स्वीकार तो करता है, किन्तु कणाददर्शन के जैसे स्वतन्त्ररूप से नहीं, तथा प्रमाण के जैसे शबल रूप से नहीं किन्तु गौणमुख्यरूप से स्वीकार करता है। जहाँ सामान्य को मुख्य रूप से मानता है वहाँ विशेष को गौणरूप से मानता है और जहाँ विशेष को मुख्य रूप से मानता है वहाँ सामान्य को गौणरूप से मानता है। कणाद दर्शन तो सामान्यविशेषोभय को कहीं भी गौणमुख्यभाव से नहीं मानता है, किन्तु स्वतन्त्ररूप से मानता है। इसलिए कणाद दर्शन के जैसे दुर्नयत्व का प्रसङ्ग यहाँ नहीं आता है और प्रमाण के जैसे शबलरूप से सिद्ध होना भी दूर हो जाता है।' तो यह कहना भी दोष रहित नहीं है। यहाँ सामान्य का प्रधानरूप से और विशेष का गौण रूप से स्वीकार हो, ऐसे अध्यावसाय को संग्रह कहा जाता है, तो संग्रह जैसा ही नैगम का अभ्युपगम होने पर वैसे स्थल में नैगम

का संग्रहनय में प्रवेश हो जायगा अर्थात् नैगम और संग्रह ये दो एक हो जायेंगे। इसलिए नैगम में संग्रहनयत्व का प्रसंग आ जायगा। तथा जहाँ विशेष को प्रधानरूप से और सामान्य को गौणरूप से नगम स्वीकार करेगा, वहाँ नैगम और व्यवहारनय में अभेद हो जाने से नैगम में व्यवहारनयत्व का प्रसंग आ जायगा, क्योंकि व्यवहार नय भी विशेष को मुख्यरूप से और सामान्य को गौणरूप से स्वीकार करता है। तब तो लोक प्रसिद्ध सामान्य-विशेषादि उभयरूपार्थ स्वीकर्तृत्वरूप नैगम का लक्षण बताया गया है, वह संगत नहीं लगता है'-

[गौण मुख्यभावके स्वीकार में आपत्ति नहीं है]

इस आशंका की निवृत्ति के लिए उपाध्यायजी बताते हैं कि तृतीयपक्ष का आश्रय करने में कोई दोष नहीं है। तब यह शंका उठती है कि तृतीयपक्ष का आश्रय करने में ही तो संग्रह और व्यवहार इन दोनो में से अन्यतर में नैगम का प्रवेशरूप दोष दिया है, फिर कोई दोष नहीं होता है, ऐसा कहना कैसे संगत होगा ? इसका उत्तर यह है कि उपधेय का अर्थात् नैगम और संग्रह इन दोनों उपधेयों का साङ्कर्य होने पर भी उपाधियों का, अर्थात् नैगमत्व और संग्रहत्व इन दोनों का साङ्कर्य नहीं होता है तथा नैगम और व्यवहार इन दोनों उपधेयों का साङ्कर्य होने पर भी नैगमत्व और व्यवहारत्व इन दोनों उपाधियों का साङ्कर्य नहीं होता है, इसलिए तृतीय पक्षोक्त दोष को अवसर यहाँ नहीं आता है। भावार्थ यह है कि उपाधिपद से व्यावर्त्तक धर्म यहाँ विवक्षित है। नैगम में नैगमत्व धर्म उपाधि है, वही धर्म व्यवहारादि नयों से नैगमनय का व्यावर्त्तन करता है। ऐसे ही संग्रह में संग्रहत्व व्यावर्त्तक धर्म है। व्यवहार नय में व्यवहारनयत्व व्यावर्त्तक धर्म है। इसलिए संग्रहत्व और व्यवहारत्व भी उपाधिशब्द से कहे जाते हैं। उपाधिरूप इन धर्मों से व्यावर्त्तनीय नगम, संग्रह और व्यवहारनय ये सब उपधेय कहे जाते हैं। साङ्कर्य शब्द से यहाँ सामानाधिकरण्य विवक्षित है। समानाधिकरण्य से एकार्थत्व अथवा अभिन्नार्थत्व का संकेत मिलता है। कारण, 'भिन्न प्रवृत्तिवाले शब्दों का एकार्थत्व' यही सामानाधिकरण्य का लक्षण शास्त्रकारों ने माना है। सामान्य का मुख्यरूप से और विशेष का गौणरूप से जहाँ स्वीकार हो, ऐसा अभिप्रायविशेषरूप संग्रहनय संग्रहनयत्वरूप उपाधि का उपधेय है और वैसा अभिप्रायविशेषरूप नैगमनय नैगमनयत्वरूप उपाधि का उपधेय है क्योंकि ये दोनों संग्रहत्व और नैगमत्व धर्मों से क्रमशः व्यावर्त्तित होते हैं। इन दोनों उपधेयों में साङ्कर्य अर्थात् एकार्थत्व यद्यपि आ जाता है, क्योंकि नैगम पद का प्रवृत्तिनिमित्त नैगमत्व है और संग्रहपद का प्रवृत्तिनिमित्त संग्रहत्व है। नैगमत्व और संग्रहत्व ये दोनों प्रवृत्तिनिमित्त परस्पर भिन्न हैं। इन दोनों भिन्न प्रवृत्तिनिमित्तरूप से बोध्यमान अर्थ एक ही है, जिस अर्थ को संग्रह पद बोधित करता है उस अर्थ को नैगम भी बोधित करता है। इसलिए उपधेयगत सांकर्य है, तथापि संग्रहत्व और नैगमत्व इन दोनों उपाधियों में एकार्थत्वरूप सांकर्य नहीं है। तथा प्रधान रूप से विशेष का और गौणरूप से सामान्य का अभ्युपगम हो, ऐसा अभिप्राय विशेष व्यवहार पद का बोध्य है और वहा व्यवहारगत व्यवहारत्वरूप उपाधिका व्यावर्त्य

आह–अतिरिक्तसामान्यविशेषानभ्युपगमे कथमनुवृत्तिव्यावृत्तिबुद्धिः ? न ह ते अहेतुके, न वैकहेतूद्भवे, न वा निर्विषये एव दोषजे इति ।–मैवम्, वस्तुन एव मृदादितुल्यपरिणामेनानुवृत्तिबुद्धेः, ऊर्ध्वताद्यतुल्यपरिणामेन च व्यावृत्तिबुद्धेरुपपत्तेरतिरिक्तकल्पने मानाभावात् । तदुक्तं–"वस्तुन एव समानः, परिणामोऽयं स एव सामान्यम् । असमानस्तु विशेषो, वस्त्वेकमनेकरूपं तु ॥१॥" [ ] इति ।

होने से उपधेय भी है । एतादृश अभिप्रायविशेष नैगमपद का भी बोध्य है और नैगमत्वरूप उपाधि का भी उपधेय है । व्यवहारपद का प्रवृत्तिनिमित्त व्यवहारत्व और नैगम पद का प्रवृत्ति निमित्त नैगमत्व ये दोनों परस्पर भिन्न व्यवहारत्व और नैगमत्व रूप से बोध्यमान प्रकृत अभिप्रायविशेषरूप उपधेय एक ही अर्थ है । इसलिए एकार्थत्वरूप सांकर्य उपधेयों में यद्यपि है तथापि व्यवहारत्व और नैगमत्व इन दोनों उपाधियों में एकार्थत्वरूप सांकर्य नहीं है । यहाँ यह ध्यान रखना चाहिए कि व्यवहारत्व जहाँ रहता है वहाँ भी नैगमत्व रहता है और जहाँ व्यवहारत्व नहीं रहता है ऐसे संग्रहत्वेन अभिमत अभिप्रायविशेष में भी नैगमत्व रहता है । इसलिए व्यवहारत्व की अपेक्षा से नैगमत्व व्यापक है, व्यवहारत्व नैगमत्व की अपेक्षा से व्याप्य है । जिन दो धर्मों में व्याप्य–व्यापकभाव रहता है वहाँ सांकर्य नहीं होता है । जैसे पृथ्वीत्व–द्रव्यत्व का सांकर्य किसी मतवादी को मान्य नहीं है । एवं यादृश अभिप्रायविशेष संग्रहत्वेन मान्य है, तादृश अभिप्राय विशेष में भी नैगमत्व रहता है । तथा संग्रहत्व का अभाव व्यवहारत्वेन मान्य जिस अभिप्राय विशेष में रहता है, वहाँ पर भी नैगमत्व रहता है । इसलिए संग्रहत्व की अपेक्षा से नैगमत्वरूप उपाधि व्यापक है और नैगमत्व की अपेक्षा से संग्रहत्व व्याप्य है । इसलिए संग्रहत्व और नैगमत्व इन दोनों उपाधियों का सांकर्य नहीं है । इन दोनों उपाधियों का उपधेय अभिप्रायविशेष में एकार्थत्वरूप सांकर्य होने पर भी क्षति नहीं है क्योंकि व्यावर्त्तक धर्मों के द्वारा बोध्यमान अभिप्रायविशेष एकरूप होने पर भी विभिन्न बोध होने से विभिन्न ही प्रतीत होते हैं । जहाँ उपधेय में विभिन्नता प्रतीत होने का निमित्त नहीं रहता है, वहाँ पर ही उपधेयगत सांकर्य दोष माना जाता है । यहाँ तो उपधेयगत विभिन्नता प्रतीति का कारण विभिन्न उपाधिद्वय ही बन जाते हैं । इसलिए तृतीयपक्ष का आश्रय करने में किसी दोष का अवसर नहीं आता है ।

[अनुवृत्ति–व्यावृत्ति बुद्धि से अतिरिक्त सामान्य–विशेष की आशंका]

(आह–अतिरिक्त०) यहाँ कोई शंका करें कि–'वस्तु से अत्यन्त भिन्न, वस्तुगत सामान्य और विशेष को जैसे कणादमतानुयायी लोक मानते हैं, वैसा सामान्य और विशेष यदि माना जाय तो नैगमनय में भी दुर्नयत्व का प्रसंग होगा ।–ऐसा जो आप पूर्व में कह आए हैं, वह संगत नहीं है क्योंकि धर्मी से अतिरिक्त सामान्य यदि न माना जाय तो "घटोऽयं–घटोऽयं" इस तरह की अनुवृत्तबुद्धि नहीं होगी क्योंकि अनुवृत्तबुद्धि होने में सामान्य ही निमित्त है । तथा धर्मी से अतिरिक्त विशेष न माना जाय तो

'मुद्गारम्भक परमाणु यवारम्भक परमाणु से भिन्न है और यवारम्भक परमाणु मुद्गारम्भक परमाणु से भिन्न है।' इस तरह की व्यावृत्तिबुद्धि नहीं होगी, क्योंकि व्यावृत्तिबुद्धि का निमित्त कारणविशेष ही है और वह आपको मान्य नहीं है। अतः अनुवृत्ति बुद्धि अतिरिक्त सामान्य माने बिना नहीं हो सकती है और व्यावृत्तिबुद्धि अतिरिक्त विशेष माने बिना नहीं हो सकती है। इसलिए अतिरिक्त सामान्य और अतिरिक्त विशेष मानना स्याद्वादी को भी आवश्यक है। यदि यह कहें कि–'अनुवृत्तिबुद्धि और व्यावृत्तिबुद्धि में निमित्ततया समान्य और विशेष क्यों माना जाय? वह बुद्धि निमित्त के बिना भी हो सकती है'–तो यह कहना ठीक नहीं है। कारण, जिस में कोई हेतु नहीं होता है वह पदार्थ सदा सत् होता है। जैसे–आकाश में कोई हेतु नहीं, इसलिए आकाश सर्वदा सत् है। इसी तरह अनुवृत्तिबुद्धि और व्यावृत्तिबुद्धि में यदि कोई हेतु न माना जायगा तो वह बुद्धि भी सदा सत् हो जायगी। इस से इन बुद्धियों में अनुभवसिद्ध जो कादाचित्कत्व रहता है उस के अभाव का प्रसंग आ जायगा। अथवा, जिस का हेतु नहीं होता है, वह सदा असत् माना जाता है, जैसे–गगन पुष्प का कोई हेतु नहीं है, इस से गगनपुष्प सदा असत् ही रहता है। इसी तरह अनुवृत्तिबुद्धि और व्यावृत्तिबुद्धि में कोई निमित्त न होगा, तो वह बुद्धि भी गगनपुष्प की तरह सदा असत्रूप ही बन जायगी, वह तो स्याद्वादि को भी इष्ट नहीं है, क्योंकि उस बुद्धि में कादाचित्कत्व का अनुभव स्याद्वादी को भी होता है। वह कादाचित्कत्व तो भाव पदार्थों में हेतु की अपेक्षा से ही सम्भवित है। इसलिए 'अनुवृत्तिबुद्धि और व्यावृत्तिबुद्धि हेतु के बिना ही होती है' ऐसा कहना युक्त नहीं होगा।

यदि यहाँ ऐसा कहें कि–'अनुवृत्तिबुद्धि निमित्त के बिना हो होती है, ऐसा आशय हमारा नहीं है। हेतु से जरूर होती है, परन्तु उसके अनेक हेतु नहीं होते हैं जिससे सामान्य और विशेष की अपेक्षा उसमें हो। किन्तु एक ही हेतु उस में होता है। घटादि वस्तु में जो अनुवृत्तिबुद्धि और व्यावृत्ति बुद्धि होती है उसमें घटादि वस्तुरूप एक ही हेतु है। अत एव अतिरिक्त सामान्य और विशेष मानना आवश्यक नहीं है।'–

तो यह संभव नहीं है क्योंकि यदि घटादिवस्तुरूप एक ही हेतु से घटादि में अनुवृत्तिबुद्धि और व्यावृत्तिबुद्धि होती है, ऐसा माना जाय तो अनुवृत्तिबुद्धि की अपेक्षा से व्यावृत्तिबुद्धि विजातीय है, इस तरह का जो अनुभव होता है उसका बाध होगा। क्योंकि कारणसामग्री में विजातीयता होने पर ही कार्य में विजातीयता होती है और सामग्री में विजातीयता तभी होती है यदि सामग्री की कुक्षि में किसी अन्य कारण का प्रवेश होता है। कारण के समूह का ही सामग्री शब्द से व्यवहार किया जाता है। जिन कार्यों का कारण एक होगा उन कार्यों में विजातीयता नहीं होती क्योंकि उनमें सामग्रीवैजात्य नहीं रहता है। इसलिए यदि अनुवृत्ति बुद्धि और व्यावृत्तिबुद्धि इन दोनों में कारण एक ही होगा, तो वजात्य सिद्ध नहीं होगा, वैजात्य का अनुभव तो होता है, अतः ये दोनों बुद्धियाँ एक कारण से होती हैं, ऐसा मानना युक्तिसंगत नहीं है।

यदि कहें–अनुवृत्तिबुद्धि और व्यावृत्तिबुद्धि की अन्यथा अनुपपत्ति से ही आप अतिरिक्त सामान्य–विशेष की सिद्धि करना चाहते हैं। सो तो तभी संभव हो सकता है जब कि ये बुद्धियाँ प्रमारूढ होवें क्योंकि प्रमात्मक ज्ञान ही स्वविषय का साधक बनता है। ये बुद्धियाँ तो दोषजन्य होने के कारण भ्रमरूप हैं। भ्रम का विषय बाधित होता है। इस हेतु से भ्रम निर्विषयक ज्ञान माना जाता है। अतः ये ज्ञान भी निर्विषय है। इनके भ्रमरूप होने से इन ज्ञानों का विषय भी बाधित हैं, अतः अनुवृत्तिबुद्धि और व्यावृत्तिबुद्धि से सामान्य और विशेष की सिद्धि की आशा रखना व्यर्थ है।–

तो यह ठीक नहीं, क्योंकि अनुवृत्तिबुद्धि और व्यावृत्तिबुद्धि को भ्रमरूप यदि माने तो, भ्रम का कारण दोष यहाँ क्या है? इस का भी विचार करना होगा। खूब विचार करने पर भी कोई दोष लक्षित नहीं होता है। इसलिए इस ज्ञान को भ्रमरूप मानना संगत नहीं जान पडता। दूसरी बात यह है कि जिस ज्ञान से अनुवृत्तिबुद्धि का बाध आप को विवक्षित है, वह बाधक ज्ञान क्या है और कैसा है? यह भी आप को बताना होगा, सो तो आप बता सकते नहीं है। विचार करने पर भी कोई बाध ज्ञान जो यहाँ हो, लक्षित भी नहीं होता है। अतः इस ज्ञान का विषय बाधित कैसे कह सकते हैं? अत एव 'यह बुद्धि निर्विषय है' ऐसा कहना भी सम्भव नहीं है। तब तो प्रमारूप अनुवत्ति बुद्धि और व्यावृत्तिबुद्धि सामान्य और विशेषरूप अपने-अपने विषयों को अवश्य सिद्ध करेंगी, अतः धर्मी से अतिरिक्त सामान्य और विशेष आवश्य मानना चाहिए, इस तरह कणादमतानुयायी अपने मत का समर्थन करते हैं।–

[तुल्य–अतुल्य परिणाम ही सामान्य–विशेष है–समाधान]

(नैवम्–इति) कणादमतानुयायियों की उक्त आशंका का समाधान स्याद्वादी इस प्रकार करते हैं कि घटादि वस्तुमात्र का अनुवृत्तिस्वभाव है जो तुल्यपरिमाणरूप है और अतुल्यपरिणामरूप व्यावृत्तिस्वभाव भी उसका है, कारण, स्याद्वादी को वस्तुमात्र सामान्य-विशेषात्मक मान्य है। मृदादि तुल्यपरिमाण से अनुवृत्तिबुद्धि हो जायगी और ऊर्ध्वतादि अतुल्यपरिमाण से व्यावृत्तिबुद्धि हो जायगी। तब अनुवृत्तिबुद्धि और व्यावृत्तिबुद्धि के अनुरोध से अतिरिक्त सामान्य और विशेष की कल्पना करने में कोई प्रमाण दिखता नहीं है। अतः कणादमतानुयायियों की धर्मी से सर्वथा भिन्न सामान्य–विशेष की कल्पना निर्युक्तिक है। धर्मी से सर्वदा अतिरिक्त सामान्य और विशेष नहीं है, किन्तु मृदादि वस्तु का समान परिणाम ही सामान्य है और असमान परिणाम ही विशेष है क्योंकि प्रत्येक वस्तु अनेक रूप है अर्थात् सामान्यविशेषात्मक है– इस तरह का प्राचीनाचार्य वचन भी इस बात को दृढ करता है। इसलिए उपाध्यायजी ने 'तदुक्तम्' ऐसा कहकर मूल ग्रन्थ में प्राचीनाचार्य का वचन उल्लिखित किया है।

वस्तुन एव समानः परिणामोऽयं स एव सामान्यम्।
असमानस्तु विशेषो, वस्त्वेकमनेकरूपं तु ॥१॥ इति।

अतिरिक्तं तु सामान्यं व्यक्तिष्वेकदेशेन समवेयात्, कात्स्न्र्येन वा ? आद्ये सावयवत्वप्रसङ्गः अन्त्ये च प्रतिव्यक्ति नानात्वापत्तिः। न च व्यक्तिवृत्तित्वं सामान्यस्योपगम्यत एव, देशकात्स्न्र्ययोस्त्वनुपगमादनुक्तोपालम्भ इति वाच्यम्, उक्तान्यतरप्रकारव्यतिरेकेणान्यत्र वृत्त्यदर्शनात्, अत्रान्यतरप्रकाराश्रयणेऽन्यतरदोषापत्तेर्वज्रलेपत्वादिति सम्मतिटीकाकृतामभिप्रायः।

[अतिरिक्त सामान्यवादी को अखिल–एकदेश वृत्तित्व का प्रश्न]

(अतिरिक्त०) सम्मतिटीकाकारने धर्मी से सामान्यरूपधर्म का सर्वथा भेद जो वैशेषिकों ने माना है उस का खण्डन किया है। जिन युक्तियों द्वारा अतिरिक्त सामान्य का खण्डन "सम्मतिटीका" में किया गया है, उन युक्तियों का संक्षिप्त प्रदर्शन प्रस्तुत संदर्भ में उपाध्यायजी ने किया है :– अतिरिक्तसामान्य व्यक्तियों में समवाय सम्बन्ध से रहता है, इस तरह की मान्यता वैशेषिकों की है। उन से पूछा जाता है कि व्यक्तियों में वह सामान्य एक देश से रहता है अर्थात् तत्तद् अंशों से रहता है अथवा कात्स्न्र्य=सकलस्वस्वरूप से रहता है। यदि तत्तद् अंशों से तत्तद् व्यक्तियों में सामान्य का रहना माना जाय तो, सामान्य में सावयवत्व का प्रसंग होगा, कारण, अनेक व्यक्तियों में अंशतः सामान्य की वृत्ति सामान्य को सावयव माने बिना हो नहीं सकती। तत्तद् व्यक्तियों में रहने के लिए सामान्य का अनेक अवयव होना आवश्यक हो जाता है। सामान्य में सावयवत्व का स्वीकार वैशेषिक कर नहीं सकते क्योंकि इन के सिद्धान्त में सामान्य नित्य–निरवयव–एक माना गया है। द्वितीयपक्ष का भी स्वीकार वैशेषिक के लिए इष्ट नहीं हो सकता, कारण, व्यक्तियों में सामान्य यदि अखिल रूप से रहेगा तो प्रतिव्यक्ति में भिन्न–भिन्न सामान्य मानना पडेगा, तो सामान्य में अनेकत्व की आपत्ति आ जायगी। यह भी वैशेषिक के सिद्धान्त से विरुद्ध ही होगा क्योंकि अनेक व्यक्तियों में रहनेवाले सामान्य को वे लोग एक मानते हैं। अनेक व्यक्तियों में समवेत तथा नित्य जो एक धर्म वही 'सामान्य' पद का अर्थ है ऐसी सामान्य पदार्थ की व्याख्या उन लोगों की है। सकल गो व्यक्तियों में समवेत, नित्य और एक, ऐसा जो गोत्व धर्म उसी को सामान्य वे लोग कहते हैं। इस व्याख्या के अनुसार घटत्व, पटत्व, गुणत्व, द्रव्यत्व इत्यादि धर्मों में 'ये सामान्य हैं' ऐसा व्यवहार वैशेषिकों का होता है। प्रत्येक गो व्यक्तियों में भिन्न–भिन्न गोत्वरूप सामान्य है ऐसा व्यवहार उन लोगों का नहीं होता है। इसलिए सामान्य में अनेकत्व मानने पर व्यवहार बाध भी उन का लागू होगा। अतः अखिलत्व पक्ष भी वे नहीं मान सकते हैं।

[अनुक्त उपालम्भ की आशंका–वैशेषिक]

शंका–वैशेषिकों का कहना है कि आकाशादि व्यापक वस्तु सकल मूर्त्त व्यक्तियों में वृत्ति माना जाता है, वहाँ देश और अखिलत्व का प्रश्न ऊठता ही नहीं है कि आकाश मूर्त्त व्यक्तियों में एक देश से रहता है, या सामस्त्येन रहता है ? उसी तरह सामान्य में

प्रतिव्यक्ति पर्याप्तत्वे प्रतिव्यक्ति परिसमाप्त्यापत्तिः, अन्यथा तु द्वित्वादि-तुल्यतापत्तिरिति न्यायालोके समर्थितमस्माभिः ॥

भी देशतः वृत्ति सामान्य है या सामस्त्येन वृत्ति है ? ऐसा प्रश्न ऊठाना और उस को मानकर दोष देना उचित नहीं है क्योंकि यह अनुत्कोपलम्भ कहा जाता है । कोई यदि गलत बोले या माने, उस पर उसके कथन या मान्यता को युक्ति से निराकरण करना तो ठीक हैं, यदि कोई गलत न बोले और न उसकी मान्यता गलत हो उस का युक्ति से निराकरण करना यह अनुत्कोपालम्भ कहा जाता है । वैशेषिकों को देशरूप से अथवा अखिलत्व रूप से सामान्य का रहना स्वीकृत ही नहीं है । इसलिए ऐसे विकल्प करके उस का निराकरण अनुत्कोपालम्भरूप होने से युक्त नहीं है ?

[तृतीय विकल्प का असम्भव—जैन]

समाधानः—रज्जु आदि पदार्थों का अंशरूप से ही अनेक स्थान में रहना देखा जाता है । नीलादिरूप का घटादि द्रव्यों में रहना सामस्त्येन देखा जाता है । इसलिए पदार्थों की वृत्ति दो ही प्रकार की देखने में आता है, इस से अन्य प्रकार की वृत्ति देखने में नहीं आती । तब तो सामान्य यदि व्यक्तियों में रहेगा, तो अन्य प्रकार से सामान्य का व्यक्तियों में रहना सम्भवित नहीं है अतः देश से सामान्य का रहना मानने पर सावयवत्व प्रसंगरूप दोष और अखिलत्वेन सामान्य का रहना मानने पर सामान्य में प्रतिव्यक्ति अनेकत्वापत्ति दोष वज्रलेप जैसा हो जायगा। जिस का निराकरण न हो सके ऐसे दोष का होना ही वज्रलेप कहा जाता है । अतः धर्मी से अतिरिक्त सामान्य और विशेष मानना कणादमतानुयायियों का नितान्त गलत मत है, यह सम्मतिटीकाकार का अभिप्राय है ।

[अतिरिक्त सामान्य पक्षमें नये ढंग से दोषापादन]

(प्रतिव्यक्ति)—सामान्य के खण्डन में अन्य भी युक्तियाँ हैं । उपाध्यायजी उस का प्रदर्शन करते हैं—वैशेषिक लोग अतिरिक्त सामान्य को यदि प्रत्येक व्यक्ति में पर्याप्ति सम्बन्ध से रहना माने, तो सामान्य की प्रत्येक व्यक्ति में परिसमाप्ति होगी अर्थात् प्रत्येक व्यक्ति में भिन्न-भिन्न सामान्य सिद्ध होगा । तब सामान्य में अनेकत्व का प्रसंग होगा, जो कणादमतानुयायियों के लिए अनिष्ट होगा । कारण, सकल गो आदि व्यक्तियों में गोत्वादि सामान्य एक ही होता है ऐसा उन का सिद्धान्त है । यदि प्रत्येक व्यक्ति में पर्याप्ति सम्बन्ध से सामान्य की स्थिति न मानकर सकल गाय आदि व्यक्तियों में ही गोत्वादि सामान्य की स्थिति को माने तो द्वित्व, त्रित्वादि संख्या और सामान्य में तुल्यता का आपत्ति अर्थात् द्वित्वादि संख्या जैसे पर्याप्ति सम्बन्ध से उभय आदि व्यक्तियों में रहती है, प्रत्येक व्यक्ति में नहीं रहती है, उसी तरह सामान्य सकल व्यक्तियों में रहेगा और प्रत्येक व्यक्ति में नहीं रहेगा । तब "अयं गौः गोत्ववान्" ऐसी गोत्व सामान्य की एक गोव्यक्तिवृत्तित्व विषयक प्रतीति जो होती है वह न होगी । इस से अनुभवविरोधरूप दोष का प्रसंग होगा । अतः "उभयतःपाशा रज्जुः" इस न्याय से अतिरिक्त सामान्य का

"समानपरिणामरूपसामान्याभ्युपगमेऽपि प्रतिविशेषं तदन्यत्वाद्विशेषादविशेषः"
इति चेत् ? न, स्वभावभेदेन तद्विशेषात् ।
अत एव—सामानत्वं समान्यगर्भम्, तच्च तदग्रहे दुर्ग्रहमिति परास्तम् ।

स्वीकार वैशेषिकों का युक्तिविहीन है, इस तरह का समर्थन "न्यायालोक" में "उपाध्यायजी" ने किया है, अतः विशेष जिज्ञासुओं को "न्यायालोक" का परिशीलन करना चाहिए ।

[समान परिणामरूप सामान्य पक्ष में दोष की शंका और समाधान]

(समानपरिणाम)=यहाँ वैशेषिकों की यह शंका है कि-'अतिरिक्त सामान्य को प्रत्येक व्यक्ति में अखिलत्वेन वृत्ति मानने पर या प्रत्येक व्यक्ति में पर्याप्तिसम्बन्ध से वृत्ति मानने पर अनेकत्वापत्तिरूप दोष का प्रसङ्ग होता है, वह दोष तो, समानपरिणामरूप सामान्य को मानने पर भी होता है, अवयवसन्निवेशविशेषरूप समानपरिणाम भी व्यक्ति भेद से भिन्न-भिन्न ही होते हैं । अतः समानपरिणामरूप सामान्य में भी अनेकत्वापत्ति का प्रसंग होगा ही । यदि समानपरिणामरूप सामान्य में अनेकत्व इष्ट मानकर "जैन" स्वीकार कर लें', तो विशेष की अपेक्षा से सामान्य में कुछ भेद नहीं रह जायगा, क्योंकि जैसे-विशेष प्रतिव्यक्ति भिन्न-भिन्न माने जाते हैं, वैसे सामान्य को भी प्रतिव्यक्ति भिन्न-भिन्न स्वीकार कर लिया गया । तब तो, विशेष से जैसे अनुवृत्तिबुद्धि नहीं होती है वैसे ही सामान्य से भी अनुवृत्ति बुद्धि नहीं होगी क्योंकि अनुवृत्तिबुद्धि का प्रयोजक जैनसिद्धान्त में कोई नहीं रहेगा ।

समाधानः-"जैन सिद्धान्त" में समानपरिणामरूप व्यक्ति का ही अनुगत प्रतीतिजनन स्वभाव मान्य है और असमानपरिणामरूप व्यक्ति का ही व्यावृत्तिबुद्धि जनन स्वभाव मान्य है । इसलिए उभयस्वभावात्मकवृत्ति ही अनुगतप्रतीतिजनकतास्वभाव से अनुवृत्तिबुद्धि को उत्पन्न करती है और व्यावृत्तिबुद्धिजनकतास्वभाव से व्यावृत्तिबुद्धि को उत्पन्न करती है । अतः स्वभावभेद से विशेषापेक्षया सामान्य में भेद सिद्ध हो जाता है । इसलिए विशेष की अपेक्षा से सामान्य में कोई विशेषता न रहने का प्रसंग रूप दोष नहीं आता है ।

[सामान्य की व्याख्या में सामान्य की अपेक्षा-आशंका]

(अत एव) यदि यह आशंका ऊठायी जाय कि समानपरिणामरूप सामान्य को स्वीकार करने पर परिणाम में समानत्व विशेषणरूप से भासता है । वह समानत्व सादृश्यवाचक है इसलिए जिन दो पदार्थों में परस्पर सादृश्य रहता है, उन दोनों पदार्थों में किसी समान धर्म को लेकर के ही सादृश्य का ज्ञान होता है। जैसे-"चन्द्रसमानं मुखम्" इस स्थल में चन्द्र का सादृश्य मुख में प्रतीत होता है । यहाँ चन्द्र और मुख में साधारण धर्म आह्लादकत्व है, इसी धर्म को लेकर चन्द्र का सादृश्य मुख में भासता है । चन्द्र के दर्शन से जो आह्लाद=सुखविशेष का अनुभव लोगों को होता है वैसा ही आह्लाद

जिस मुखविशेष के दर्शन से होता है, उसी मुख विशेष को लोक चन्द्र समान कहते हैं। इसी रीति से मृत्तिका के वे ही परिणाम समान माने जाते हैं जिन परिणामों में कोई समान धर्म रहता हो। परिणामों में भी समानता सादृश्यरूप ही है। वह सादृश्य प्रकृत में जिस समान धर्म से माना जाता है वह समान धर्म या तो एक सामान्यत्व अथवा एकजातीयत्व ही होगा। इन दोनों पक्ष में समानत्व के गर्भ में सामान्य का प्रवेश होता है, क्योंकि सामान्य और एक जातीय ये दोनों शब्द एक ही अर्थ के वाचक हैं। तब तो समानपरिणाम रूप सामान्य के ज्ञान में उस में विशेषणीभूत सामान्य का ज्ञान अपेक्षित होगा, क्योंकि विशिष्टबुद्धि में विशेषण का ज्ञान कारण माना जाता है। इसलिए समान परिणामरूप सामान्य ज्ञान में विशेषणीभूत सामान्य का ज्ञान कारण होगा। यदि विशेषणीभूत सामान्य का ज्ञान न रहेगा, तो समानपरिणामरूप सामान्य का भी ज्ञान नहीं हो सकेगा क्योंकि कारण के अभाव में कार्य का न होना तो सर्ववादी को मान्य है। विशेषणीभूत सामान्य का ज्ञान यहाँ कारण है, उस के अभाव में समानपरिणामरूप सामान्य का ज्ञान जो विशिष्ट बुद्धि रूप है और विशेषणज्ञान का कार्य भी है, सो कैसे होगा ? अतः समानपरिणामरूप सामान्य में दुर्ग्रहत्व का प्रसंग आता है।

यदि यहाँ बचाव किया जाय कि-'समान परिणामरूप सामान्य में दुर्ग्रहत्व का प्रसंग तो तभी आ सकता है, यदि विशेषणीभूत सामान्य का ज्ञान किसी भी तरह न हो सके। मृत्तिका के समान परिणामों में एक सामान्यवत्त्व अथवा एकजातीयत्वरूप समान धर्म का ज्ञान तो प्रत्यक्षादि प्रमाणों से सरलतया सम्भव है। तब तो विशेषण ज्ञान प्रत्यक्षादि द्वारा हो जायगा और समान परिणामरूप सामान्य भी सुग्रह ही बनेगा, उस में दुर्ग्रहत्व का प्रसंग देना योग्य नहीं है।'-तो यह बचाव ठीक नहीं है, क्योंकि एक सामान्यवत्त्व और एकजातीयत्व इन दोनों साधारण धर्मों का पर्यवसान सामान्य स्वरूप में ही होता है। इसलिए सामान्य के ज्ञान में सामान्य ज्ञान की अपेक्षा होने से आत्माश्रय दोष उपस्थित होता है। एवं समानपरिणामरूप सामान्य के ज्ञान में विशेषणीभूत समानत्वरूप सादृश्यज्ञान की अपेक्षा होती है और समानत्वरूप सादृश्यज्ञान में समानत्व के गर्भ में प्रविष्ट सामान्यज्ञान की अपेक्षा होती है क्योंकि समानत्वगर्भप्रविष्ट सामान्य को भी आप अतिरिक्त न मानकर समानपरिणामरूप ही मानेंगे, इस रीति से परस्पराश्रय दोष का प्रसंग आता है। इस हेतु से विशेषणीभूत सामान्य ही दुर्ग्रह हो जाता है, जो विशिष्ट ज्ञान के प्रति कारण माना जाता है। तब समानपरिणामरूप सामान्य में दुर्ग्रहत्व अनिवार्य है।

[सामान्य की दुर्ग्रहता का निराकरण-समाधान]

वैशेषिकों के इस आक्षेप का निराकरण "अत एव" पद से उपाध्यायजी सूचित करते हैं-इस का यह आशय है कि हम व्यक्ति में जो समानपरिणामरूप सामान्य है वह अनुगत प्रतीति जनकतारूप ही है। अनुगतबुद्धि जनकता स्वभाव समानपरिणाम में सामान्य का प्रवेश विशेषणतया नहीं होता है। अतः समानपरिणामरूप सामान्य ज्ञान में सामान्य ज्ञान की अपेक्षा नहीं रहती है। इसलिए आत्माश्रय और परस्पराश्रय दोष का भी प्रसंग नहीं

तथाप्यनुवृत्तिधीजननस्वभावपरिणामत्वेन नानुवृत्तिधीजनकता, आत्माश्रयादिति चेत् ? न, वस्तुनस्तत्स्वभावस्य मृत्परिणामत्वादिना जनकत्वेऽदोषात्, जनकताया अपि परिणामरूपत्वेन नानात्वस्य दोषाऽनवहत्वात्संग्रहादेशादेकत्वसम्भवेन कार्यानुमानानुच्छेदादिति दिक् ।

आता है और समानपरिणामरूप सामान्य में दुर्ग्रहत्व का भी प्रसंग नहीं आता है। समानपरिणामरूप सामान्य यदि सामान्य घटित होता तो इन प्रसंगों का सम्भव होता। हमने तो अनुवृत्ति बुद्धि जनन स्वभाव ही सामान्य स्वीकार किया है। इसलिए किसी दोष का सम्भव नहीं है।

[अनुवृत्तिबुद्धि की कारणता में आत्माश्रय दोष की शंका]

(तथाप्यनुवृत्ति)–उक्त समाधान से सन्तुष्ट न होकर यदि यह शंका की जाय कि समानपरिणाम को अनुगतप्रतीतिजनकतास्वभाव मानने पर विशेष और सामान्य में परस्परभेद यद्यपि सिद्ध हो जाता है, तो भी अनुवृत्तिबुद्धि के प्रति सामान्य को अनुवृत्तिबुद्धि जनकतास्वभावरूप से ही कारण मानना होगा। इस का तो यह अर्थ हुआ, अनुवृत्तिबुद्धि जनकता में अनुवृत्तिबुद्धिजनकता ही कारण है। किन्तु यह तो सम्भव नहीं है। स्व के प्रति स्वयं ही कारण हो ऐसा तो किसी वादी को मान्य नहीं है क्योंकि स्व के प्रति स्व को कारण मानने में आत्माश्रय दोष का प्रसंग होता है। स्व की उत्पत्ति और ज्ञप्ति में स्व की अपेक्षा होना ही आत्माश्रय दोष कहा जाता है। यहाँ अनुवृत्तिबुद्धि जनकता के प्रति अनुवृत्तिबुद्धि जनकता की अपेक्षा होने से आत्माश्रय दोष स्पष्ट है। इसलिए अनुवृत्तिबुद्धि के प्रति अनुवृत्तिबुद्धिजनकतास्वभाव कारण है, ऐसा कार्यकारणभाव न हो सकेगा तो अनुवृत्तिबुद्धि "स्याद्वाद" के मत में कैसे होगी ?

[मृत्परिणामत्वादि रूप से कारणता निर्दोष-उत्तर]

सामाधानः–अनुवृत्तिबुद्धिजनकतास्वभाव वस्तु को अनुवृत्तिबुद्धि के प्रति हम मृत्परिणामत्वादिरूप से कारण मानेंगे। ऐसा मानने में आत्माश्रय दोष का प्रसंग नहीं होगा, क्योंकि मृत्परिणाम के शरीर में जनकता का प्रवेश नहीं है। भावार्थ यह है कि घट, शराव, उदञ्चन, इत्यादि जितने मिट्टी के परिणाम है, उन सभी में 'यह मिट्टी का है' इस तरह का अनुवृत्तिबुद्धि के प्रति मृत्परिणामत्वेन कारणता स्याद्वाद सिद्धान्त में मान्य है और मृत्परिणामविशेष घट में "यह घट है, यह घट है" इस तरह की अनुवृत्तिबुद्धि के प्रति मृत्परिणामविशेषत्वेन कारणता मान्य है। इसी तरह यह शराव है....यह शराव है इस तरह की अनुवृत्तिबुद्धि के प्रति मृत्परिणामविशेषत्वेन कारणता मान्य है। इसीलिए आत्माश्रय दोष का अवसर नहीं आता है। मूल में जो "आदि" पद है उस का तत्तत्मृत्परिणाम विशेषत्वेन तत्तत् अनुगतबुद्धि के प्रति कारणता का संग्रह करना, यही तात्पर्य है।

'अविषय एवायं सामान्याकार' इत्यपि न युक्तम्, बीजाभावात् । 'अनादिवासनादोषो बीजमि'ति, चेत् ? न, वासनाया बोधरूपत्वे समनन्तरज्ञानेऽपि तत्प्रसङ्गात् । विशिष्टबोधरूपत्वे च किं वैशिष्ट्यमिति वाच्यम् । 'अनादिहेतुपरम्पराजन्यत्वमि'ति चेत् ? न, तत्रापि तन्मात्राऽविशेषात्, समुद्रोर्मिकल्पनाया अपि चित्रहेतुस्वभावाङ्गीकारं विना वक्तुमशक्यत्वादिति विवेचितमन्यत्र ॥

शंकाः–तत्तत् अनुवृत्तिबुद्धिरूप कार्य के भेद से अनुवृत्तिबुद्धि कारणता भी ततत्परिणामविशेषस्वरूप होगी । इसलिए घटादिवस्तु में भिन्न भिन्न कारणता सिद्ध होगा, तब तो, अनुवृत्तिबुद्धिजनकतारूप सामान्य भी भिन्न भिन्न होगा । अतः विशेष की अपेक्षा से सामान्य में विशेषता न होने का प्रसंग पुनः आ जायगा और अनुवृत्तिबुद्धि रूप कार्य से समानपरिणामरूप सामान्य का अनुमान जो किया जाता है, उस का उच्छेद प्रसंग भी होगा ?

समाधानः–जैन मत में वस्तुमात्र अनेक धर्मात्मक स्वीकृत है । अतः अनुवृत्तिबुद्धिजनकतास्वभाव सामान्य भी एकत्व और अनेकत्व इन दोनों धर्म से युक्त है । तब यदि अनुवृत्तिबुद्धिजनकता में भेद आता है, वह दोषकारक नहीं है क्योंकि भेद होने पर भी अनुवृत्तिबुद्धिजनकता में संग्रहनय के आदेश से एकत्व भी प्राप्त है । इसलिए विशेष पदार्थ से विशेषता न रहने का प्रसंग नहीं आता है और कार्यलिङ्गक कारणानुमान का उच्छेद प्रसंग भी नहीं आता है ।

[सामान्यविषयक बुद्धि निर्विषयक होने की बौद्ध शंका]

(अविषय०) अतिरिक्त सामान्यवादी "कणाद" मत का निराकरण करने के बाद अब ज्ञानमात्र को परमार्थ माननेवाले बौद्धमत का निराकरण प्रस्तुत ग्रन्थ से किया जाता है । उस की शंका यह है कि समानाकार बोध अर्थात् अनुवृत्तिबुद्धि विषय के विना भी हो सकती है, तब समानपरिणामरूप सामान्य को मानने की क्या आवश्यकता है ? "घटोऽयं...घटोऽय'" इत्यादि अनुवृत्तिबुद्धि निर्विषयक ही मान लेना उचित है ।

समाधानः–अनुगत विषय माने बिना अनुगताकार बुद्धि हो ही नहीं सकती, क्योंकि बुद्धि में तत्तदाकारता का नियामक तत्तद्विषय ही होता है । अनुवृत्तिबुद्धि का विषय अनुगत सामान्य यदि न माना जाय, तो निमित्त के अभाव से वह बुद्धि नहीं होगी । सामान्य से अतिरिक्त कोई भी निमित्त दृष्टिगोचर नहीं है । इसलिए समानपरिणामस्वरूप सामान्य को मानना आवश्यक है ।

शंका :–बौद्ध का कथन है कि आप की दृष्टि में सामान्य से अतिरिक्त अनुगतबुद्धि का निमित्त नहीं आता हो, इस से निमित्त का अभाव सिद्ध नहीं होता है, क्योंकि अनादिवासनारूपदोष ही निर्विषयक अनुवृत्तिबुद्धि का बीज है, यह हम लोगों की दृष्टि का गोचर है । अतः अनादिवासनारूपदोष से ही वह बुद्धि होती है, इस के लिए सामान्य को मानने की जरूरत नहीं है ?

समाधान :–आप के मत में ज्ञान से अतिरिक्त कोई भी वस्तु सत् नहीं है । इसलिए वासना को ज्ञानातिरिक्त तो आप मान सकते नहीं है, वैसा मानने में आप का सिद्धान्त विज्ञानाद्वैतवाद नहीं रह सकेगा । इसलिए अनादिवासनारूप दोष को ज्ञानरूप ही आप मान सकते है । तब यह प्रश्न ऊठता है कि वह अनादिवासनारूप बोधमात्र स्वरूप है या विशिष्टबोध स्वरूप है ? यदि वासना को बोधमात्र स्वरूप माने तो, समनन्तर प्रत्यय में भी वासना का प्रसंग आयेगा और समनन्तर प्रत्यय से ही उत्तर ज्ञान की उत्पत्ति आप को मान्य है । अव्यवहित पूर्व ज्ञानक्षण ही आप के मत में स्वीकृत है । तब तो अनादिवासनारूप दोष से युक्त समनन्तर प्रत्यय से समुत्पन्न ज्ञान मात्र में अनुगताकारत्व का प्रसंग आयेगा । यदि विशिष्ट बोधस्वरूप अनादिवासना दोष माने, तो आप को बोधगत वैशिष्ट्य क्या है–यह कहना पडेगा । हमारे सम्मत विषय को ही बोधगत वैशिष्ट्य आप भी मानते हो, तब तो, समानपरिणामरूप सामान्य आप को भी मानना आवश्यक होगा क्योंकि विषयरूप वैशिष्ट्य का आपने भी स्वीकार किया है ।

बौद्ध :–अनादि हेतु परम्परा जन्यत्व को बोधगत वैशिष्ट्य हम मानते हैं, विषयरूप वैशिष्ट्य को नहीं मानते हैं । इसलिए समानपरिणामरूप सामान्य मानना आवश्यक नहीं है ।

जैन :–अनादिहेतु परम्परा जन्यत्वरूप वैशिष्ट्य से युक्त बोधरूप वासना को स्वीकार करें, तो समनन्तर प्रत्यय में अनादि वासनारूप दोष का प्रसंग पूर्ववत् होगा क्योंकि ज्ञानमात्र में अनादिहेतु परम्परा जन्यत्व समानरूप से आप के मत में रहता है और ज्ञानमात्र समनन्तर प्रत्यय जन्य आप मानते हैं, तो ज्ञानमात्र में समानाकारता का प्रसंग पूर्ववत् अवस्थित होगा ।

बौद्ध :–समुद्र के तरङ्ग समुद्र से भिन्न नहीं माने जाते हैं, तो भी समुद्र के तरंगों में समुद्राकार बुद्धि होती है, उसी तरह समान परिणामरूप सामान्य न मानने पर भी समानाकारबुद्धि=अनुवृत्तिबुद्धि हो सकती है । तब समानपरिणामरूप सामान्य मानना निरर्थक है ।

जैन :–समुद्र में ऊर्मी की कल्पना का विषय जो समुद्र है, उस समुद्र को चित्रस्वभाव=एकानेक स्वभाव जरूर मानना पडेगा । एक स्वभावरूप विषय को लेकर यह समुद्र है ऐसी बुद्धि होती है और अनेक स्वभाव को विषय मानकर ये तरंग है, ऐसी बुद्धि होती है । अतः समुद्र में ऊर्मीबुद्धि भी विषय के बिना नहीं होती है । इसी तरह समानपरिणामरूप सामान्य माने बिना समानाकारबुद्धि=अनुवृत्तिबुद्धि नहीं हो सकती है । इसलिए समानपरिणामरूप सामान्य अवश्य मानना चाहिए । इस की विशेष विवेचना अन्य ग्रन्थों में "उपाध्यायजी" ने की है । विशेष जिज्ञासु लोगों को उन ग्रन्थों का अवलोकन करना चाहिए । यहाँ तक के ग्रन्थ से कणादमतानुयायियों के सम्मत धर्मी से सर्वथा भिन्न सामान्य का निराकरण किया गया है और जैन सम्मत समानपरिणामस्वभाव सामान्य का समर्थन तथा सामान्य को वास्तव में नहीं माननेवाले बौद्धों के मत का निरास किया गया है ।

विशेषातिरेकेऽपि न प्रमाणमस्ति, विशेषाणामिव नित्यद्रव्याणामपि स्वत एव व्यावृत्तत्वात्, अन्यथा नित्यगुणेष्वपि तत्कल्पनप्रसङ्गात्। 'आश्रयविशेषेणाश्रितव्यावृतेर्नायं दोष' इति चेत् ? आश्रितविशेषेणाश्रयव्यावृत्तिरित्येव किमिति नाद्रियते ?

(विशेषातिरेके) कणादमत के अनुयायी विद्वानों के सम्मत सामान्य का निराकरण करने के बाद प्रकृत ग्रन्थ से कणाद सम्मत धर्मी से अतिरिक्त विशेष का निराकरण करना है तो पहले उनका सिद्धान्त देखिये—

[स्वतन्त्र विशेष पदार्थ की सिद्धि में कणादमत-पूर्वपक्ष]

अतिरिक्त विशेष पदार्थ मानने में वे लोग युक्ति देते हैं कि जातिमान् पदार्थों का भेद जाति से सिद्ध होता है। जैसे=द्रव्यपदार्थ गुणकर्मादि पदार्थों से भिन्न है इस भेद का साधक द्रव्यत्व जाति द्रव्यपदार्थ में है। ऐसे गुण में गुणत्व जाति से गुणेतर भेद की सिद्धि होती है। घटपटादि पदार्थों में भी घटत्व-पटत्वादि जातियों से ही परस्पर भेद की सिद्धि होती है, इसी तरह एक जातिमान् अवयवी पदार्थों का परस्पर भेद अवयवों के भेद से सिद्ध होता है। जैसे-घटत्वरूप एक जातिमान सभी घट हैं, उन घटों में परस्पर भेद की सिद्धि जातिभेद से नहीं हो सकती, क्योंकि सभी घटों में घटत्व जाति एक ही है। इसलिए जहाँ जाति भेदसाधक नहीं बन सकती, वहाँ अवयवभेद से ही अवयवियों का परस्परभेद सिद्ध होता है। अवयव के भेद से द्व्यणुक पर्यन्त अवयवियों का भेद सिद्ध होता है, परन्तु जहाँ जाति भी समान ही है और अवयव नहीं है, ऐसे पदार्थ पार्थिव परमाणु है क्योंकि सभी पार्थिव परमाणुओं में पृथ्वीत्व जाति एक ही रहती है और परमाणु कणादमत में निरवयव माने जाते हैं। पार्थिव परमाणु भी अनेक तरह के होते हैं। जिन पार्थिव परमाणुओं से मुद्ग बनता है वे मुद्गारम्भक परमाणु कहे जाते हैं और जिन परमाणुओं से यव उत्पन्न होता है, वे परमाणु यवारम्भक परमाणु कहे जाते हैं। इसीतरह माषारम्भकपरमाणु, गोधूमारम्भक परमाणु भी हैं। इन परमाणुओं में परस्पर भेद माना जाता है। यदि इन परमाणुओं में परस्पर भेद न माना जाय तो मुद्गारम्भक परमाणुओं से यव की उत्पत्ति और यवारम्भक परमाणुओं से मुद्ग की उत्पत्ति का प्रसङ्ग आता है। इस प्रसंग का वारण करने के लिए इन परमाणुओं में परस्पर भेद मानना आवश्यक होता है। किंतु प्रश्न यह ऊठता है कि इन परमाणुओं के परस्पर भेद का साधक बने तो कौन बने ? जातिभेद से इन का भेद सिद्ध होना असम्भव है क्योंकि इन सभी परमाणुओं में एक ही पृथ्वीत्व जाति है। अवयव भी अवयवियों के ही भेदक होते हैं, निरवयव परमाणुओं के भेदक बन सकते नहीं। इसलिए कणादमत में 'विशेष'नाम का अतिरिक्त पदार्थ माना जाता है। वे विशेष पदार्थ नित्य द्रव्य में रहते हैं, नित्य द्रव्य अनन्त हैं। अतः तत्तद् नित्य द्रव्यवृत्ति विशेष भी अनन्त माने जाते हैं और परस्पर भिन्न माने जाते हैं। वही विशेष मुद्गारम्भक परमाणु और यवारम्भक परमाणु के भेद का साधक बनते हैं।

भेद सिद्ध करने के लिए अनुमान का प्रयोग इस ढंग से करते हैं कि–मुद्गारम्भक-परमाणु यवारम्भक परमाणु से भिन्न हैं क्योंकि इन में मुद्गारम्भकपरमाणुवृत्ति विशेष रहते हैं। इसीरीति के अनुमान से यवारम्भक परमाणु में भी मुद्गारम्भक परमाणुओं का भेद सिद्ध होता है। अब यहाँ प्रश्न ऊठता है कि ये विशेष परस्पर भिन्न हैं या अभिन्न हैं ? अभेद पक्ष का आश्रयण करना सम्भव नहीं है। यदि मुद्गारम्भक परमाणुवृत्तिविशेष और यवारम्भकपरमाणुवृत्तिविशेष अभिन्न होंगे, तो स्वाश्रयभूत परमाणुओं में भेद साधक नहीं बन सकेंगे। यदि भेद पक्ष का अवलम्बन किया जाय तो यह प्रश्न ऊठता है कि इन विशेषों का भेदक कौन ? विशेषों में परस्पर भेद सिद्धि के लिए यदि विशेषान्तर माना जाय तो अनवस्था दोष का प्रसङ्ग आता है। अतः, 'विशेष स्वयं ही स्वभेद के साधक बनते हैं' इसतरह की मान्यता कणादमत में है। इसीलिए वे लोग विशेष का "स्वतोव्यावर्त्तक" शब्द से व्यवहार करते हैं। स्वलिङ्गक स्वेतरभेदानुमितिजनकत्व यही स्वतोव्यावर्त्तकत्व पदार्थ है, ऐसी व्याख्या उन के मत में प्रचलित है। जैसे–मुद्गारम्भक परमाणुवृत्ति विशेष स्वेतर भिन्न हैं क्योंकि वे मुद्गारम्भकपरमाणुवृत्तिविशेषात्मक हैं–यह उन लोगों का अनुमान प्रयोग है। इस प्रयोग में मुद्गारम्भकपरमाणुवृत्तिविशेष पक्ष माना गया है और स्वेतरभेद साध्यरूप से विवक्षित है, मुद्गारम्भकपरमाणुवृत्तिविशेष ही तादात्म्यसम्बन्ध से हेतु माना गया है। अतः विशेषों का भी परस्पर भेद सिद्ध हो जाता है, तब कोई अनुपपत्ति नहीं रहती है।

[स्वतन्त्र विशेष पदार्थ का निराकरण-उत्तरपक्ष]

परन्तु "उपाध्यायजी" कणाद की मान्यता का निराकरण करने के लिए कहते हैं कि इसतरह के धर्मों से अत्यन्त भिन्न विशेषपदार्थ को मानने में कुछ प्रमाण नहीं है। स्वतोव्यावृत्त विशेषपदार्थ को मानकर तदाश्रयभूत परमाणु आदि नित्य द्रव्यों की परस्पर व्यावृत्ति करना ही कणादमतावलम्बियों का मुख्य उद्देश्य है। विशेषों को स्वतोव्यावृत्त जैसे वे लोग मानते हैं उसी तरह नित्य द्रव्यों को भी यदि स्वतो व्यावृत्त मान लिया जाय तो अतिरिक्त विशेष पदार्थ माने बिना भी परमाणु आदि नित्य द्रव्यों का परस्पर भेद सिद्ध हो सकता है। मुद्गारम्भक परमाणु स्वेतरभिन्न है, क्योंकि मुद्गारम्भक परमाण्वात्मक हैं, इस तरह का अनुमान हो सकता है। इन्हीं अनुमानों से नित्यद्रव्यों में परस्परभेद सिद्ध किया जा सकता है, अतः अतिरिक्त विशेष पदार्थ का स्वीकार करना अप्रमाणिक है। यदि नित्यद्रव्यों में स्वतोव्यावृत्तत्व सम्भवित होने पर भी उस को न मानकर नित्यद्रव्यों की परस्पर व्यावृत्ति के लिए अतिरिक्त पदार्थविशेष को मानने का दुराग्रह कणादमतानुयायि लोग रखते हैं, तो नित्य द्रव्यों की तरह नित्यगुणों में भी अतिरिक्त विशेष पदार्थ की कल्पना का प्रसंग उन को आता है। इसलिए अतिरिक्त विशेष पदार्थ का स्वीकार करने का दुराग्रह वैशेषिकों को छोड देना चाहिए।

शङ्काः–परमाणु आदि नित्यद्रव्यों में परस्पर भेद साधक पूर्वोक्त रीति से कोई नहीं मिलता है, इसलिए नित्यद्रव्यों में परस्पर भेद साधक विशेष पदार्थ मानना आवश्यक

"सदविशिष्टमेव सर्वं, भेदप्रतियोगित्वानुयोगित्वादेः स्वरूपसम्बन्धात्मकत्वेनाप्यन्ततो जगदैक्यपर्यवसानात्, भेदस्याऽविद्योपकल्पितत्वात्, तथैव श्रुतिस्वरसाद्" इत्यद्वैतवादिश्रीहर्षमतमपि न रमणीयम्, भेदस्याऽवास्तवत्वे तदभावरूपाऽभेदस्यापि तथात्वात्, तादात्म्यस्यापि जगतः पौनरुक्त्याद्यापत्त्या सर्वथा वक्तुमशक्यत्वाच्चेत्यन्यत्र विस्तरः ।

होता है । नित्यगुणों में यह बात नहीं है, क्योंकि आश्रय के भेद से ही परमाणु आदि में आश्रित नित्यगुणों का भेद सिद्ध हो सकता है, क्योंकि नित्यगुण जो एक द्रव्य में समवाय सम्बन्ध से रहते हैं, वे ही नित्यगुण समवाय सम्बन्ध से अन्य नित्यद्रव्य में नहीं रहते हैं । अतः इस परमाणु में समवेत रूपादि नित्यगुण अन्य परमाणु में समवेत नित्यगुण से भिन्न हैं, क्योंकि ये इसी परमाणु में आश्रित हैं । जो नित्यगुण जिस नित्य द्रव्य व्यक्ति में आश्रित हैं, वे नित्यगुण तदन्य नित्यद्रव्य समवेत गुणों से भिन्न हैं । जैसे-मुद्गारम्भक परमाणुवृत्ति नित्यगुण यवारम्भक परमाणुवृत्ति नित्यगुणों से भिन्न हैं । अथवा आकाशवृत्ति परिमाण नित्यगुण आत्मा, काल, दिक्वृत्ति परिमाण नित्यगुण से भिन्न हैं ! अतः नित्यगुण में विशेष कल्पना का प्रयोजन कुछ भी नहीं है । इसलिए नित्यगुणों में भी नित्यद्रव्यों के जैसे विशेष कल्पना का प्रसङ्ग देना निर्युक्तिक है ।

समाधानः- जैसे नित्यद्रव्यों में अतिरिक्त विशेष को मानकर परस्पर भेद सिद्ध कर के परस्पर भिन्न आश्रय के भेद से तदाश्रित नित्यगुणों में भेद की सिद्धि कणादमतानुयायि करते हैं, तो इन को यह समझाना है कि नित्यगुणों में ही विशेषपदार्थ को मानकर, उन विशेषों के भेद से नित्यगुण का भेद सिद्ध कर के तदनंतर नित्यद्रव्याश्रित नित्यगुणों के भेद से तदाश्रय नित्यद्रव्यों की भी व्यावृत्ति हो सकती है । अतः परमाणु नित्य द्रव्य से भिन्न हैं क्योंकि इस में एतत्परमाणुवृत्ति नित्यगुण रहते हैं । अथवा आकाशरूप नित्यद्रव्य आत्मादि नित्यद्रव्य से भिन्न है क्योंकि आकाशवृत्तिपरिमाणरूप नित्यगुणवाला है, इसतरह के अनुमानों का अवतार नित्यगुणों में विशेषस्वीकार पक्ष में भी हो सकता है । तब नित्यद्रव्यों में ही विशेष को स्वीकार करना चाहिए, यह पक्ष प्रमाण से रहित है, अतः अतिरिक्त विशेषपदार्थ मानने में कोई प्रमाण नहीं है ।

[सत्त्व का लक्षण त्रिकालाऽबाध्यत्व-वेदान्ती श्रीहर्ष]

(सदविशिष्ट) ब्रह्माद्वैतवादि श्रीहर्ष ब्रह्म को सत्रूप मानते हैं, ब्रह्म में तार्किकाभिमत सत्ताजातिरूप सत्त्व इस को सम्मत नहीं है, क्योंकि जाति नाम का पदार्थ ही उन के मत में नहीं है । जाति का लक्षण तार्किक लोग करते हैं कि "जो वस्तु स्वयं नित्य हो और अनेक व्यक्तियों में समवाय सम्बन्ध से रहती हो वही जाति है ।" परन्तु यह लक्षण अद्वैतवादी वेदान्ती नहीं मानते हैं क्योंकि उन के मत से ब्रह्म को छोडकर और कोई भी वस्तु नित्य स्वीकृत नहीं है और समवाय भी उन के मत में स्वीकृत नहीं है इसलिए नित्यत्व और समवाय से घटित जाति का लक्षण उन के मत में असम्भवित

है । "अर्थक्रियाकारित्वं सत्त्वम्" यह बौद्ध सम्मत सत् का लक्षण है यह भी अद्वैतवेदान्ती को मान्य नहीं है । उन के मत में ब्रह्म निर्गुण, निष्क्रिय, निर्धर्मक, निर्विशेष स्वीकृत है । शुद्ध ब्रह्म पुष्करपलाश जैसा निर्लेप है अतः अर्थक्रिया उस में सम्भवित नहीं है इसलिए बौद्धसम्मत सत्त्व भी उन के मत से सङ्गत नहीं है, वे लोग "त्रिकालाबाध्यत्वरूप सत्त्व" मानते हैं । जिस वस्तु का भूत, भविष्यत् और वर्त्तमान इन तीनों कालों में से किसी काल में किसी भी प्रमाण से बाध नहीं होता है वही वस्तु सत् है । ऐसी वस्तु केवल ब्रह्म ही है । ब्रह्मसाक्षात्कार होने के बाद घट-पटादिरूप प्रपञ्च का बाध हो जाता है, अतः घटपटादि पदार्थ प्रत्यक्षादि प्रमाण से प्रतीयमान होने पर भी सत् नहीं है ऐसी उन की मान्यता है ।

दूसरी भी युक्ति वे लोग देते हैं कि "जो सर्वत्र अनुवर्त्तमान होता है वह सत् है- जो व्यावर्त्तमान होता है वह प्रतीयमान होने पर भी सत् नहीं है । 'घटःसन्, पटःसन्' इत्यादि सभी प्रतीतियों में सत् अनुवर्त्तमान है, इसलिए सत्पदवाच्य ब्रह्म ही सत्य है । 'घटःसन्' इस प्रतीति में यद्यपि घट भी अनुवर्त्तमान है, तथापि "पटःसन्" इस प्रतीति में घट की व्यावृत्ति हो जाती है क्योंकि पटःसन् इस प्रतीति में घट का आभास नहीं होता । तथा, "पटःसन्" इस प्रतीति में पट अनुवर्त्तमान है तो भी "घटःसन्' इस प्रतीति में पट की व्यावृत्ति हो जाती है, कारण, घटःसन् इस प्रतीति में पट का आभास नहीं होता है । अतः घट पट आदि समस्त प्रपञ्च असत् है । असत् होने पर भी ये सब अविद्यावशात् ब्रह्म में कल्पित हैं इसलिए 'घटःसन्' इत्यादि प्रतीतियों में भासित होते हैं । "घटःसन्" इत्यादि प्रतीतियों में सत् और घटादि का समानाधिकरण भासित होता है । विभिन्न रूप से 'घट' और 'सत्' पद एक ही अर्थ के बोधक होते हैं, इसीलिए घटपटादि पदार्थ सत् से अविशिष्ट हैं, अर्थात् अभिन्न हैं । "भिन्नप्रवृत्ति-निमित्तानां शब्दानां एकार्थबोधकत्वं सामानाधिकरण्यम्" यह सामानाधिकरण्य का लक्षण है । भिन्न-भिन्न प्रवृत्तिनिमित्त होने पर भी जो शब्द एक ही अर्थ को बताते हों उन शब्दों में सामानाधिकरण्य रहता है और उन समानाधिकरण शब्दों से बोधित अर्थ अभिन्न होता है । "घटःसन्, पटःसन्" इत्यादि प्रयोगों में सत् शब्द और घटादिशब्द प्रयुक्त होते हैं, इसलिए इन समानाधिकरण शब्दों से बोधित 'सत्'रूप अर्थ और घट पटादिरूप अर्थ अभिन्न हैं, इसीलिए घटपटादिरूप अर्थ सत् रूप अर्थ से अविशिष्ट हैं । "सर्वं खल्विदं ब्रह्म, आत्मैवेदं सर्वम्" इत्यादि श्रुति वाक्यों से भी पूर्वकथित अर्थ का समर्थन मिलता है । इन वाक्यों का यह अर्थ माना जाता है कि प्रत्यक्षादि प्रमाणों से दृश्यमान ये सभी घटपटादि प्रपञ्च ब्रह्मरूप ही है, अर्थात् ब्रह्म से अभिन्न हैं । आत्म-शब्द भी इन के मत में ब्रह्मरूप अर्थ का ही वाचक है । अतः इन वाक्यों से भी सभी वस्तु सत् से अविशिष्ट है ऐसा सिद्ध होता है ।

भेदवादी तार्किकों की आशङ्का है कि जैसे आपने घटपटादि पदार्थों को ब्रह्म से अभिन्न सिद्ध किया है, वैसे ही घटपटादि पदार्थों में परस्पर भेद भी तो सिद्ध होता है । भेद को न स्वीकार करनेवाले आप के मत में घटपटादि पद और घटपटादि अर्थ इन में जो वैचित्र्य का व्यवहार होता है, वह कैसे होगा ? तथा घटपटादि पदार्थों का

ब्रह्म से अभिन्नता होने के कारण यदि अभेद माना जाय तो "पटः घटाद् भिन्नः" यह प्रतीति नहीं होगी किन्तु घट के लिए भी 'पटः' यही बुद्धि होगी और पट के लिए भी घटः यही बुद्धि होगी, इसलिए घट-पटादि पदार्थों का भेद मानना चाहिए और घट-पट का यदि अभेद हो तो "घटः पटः" ऐसा सामानाधिकरण्य भी घट पट में भासेगा, अतः भेद मानना आवश्यक है।

इस आशंका के उत्तर में वेदान्ती का कथन है कि-"घटः पटाद् भिन्नः" इस प्रतीति में भेदप्रतियोगिता जो पट में भासित होती है वह पटस्वरूप है या पट का कोई धर्म है ? एवम्, भेदीय अनुयोगिता जो घट में भासित होती है वह घटस्वरूप है या घट का कोई धर्म है ? इस में प्रथम पक्ष तो भेद साधक नहीं हो सकता, कारण, वह पटभेद घटस्वरूप ही सिद्ध होता है, इस से पटनिष्ठप्रतियोगिता घटनिरूपितप्रतियोगिता बनती है और प्रतियोगिता भी पटस्वरूप है, तो पटस्वरूप घटनिरूपित प्रतियोगिता अपने स्वरूप में घट को भी रख लेती है। इसलिए घट-पट का अभेद ही सिद्ध हो जाता है। यदि वह प्रतियोगिता धर्मरूप है तो पटरूप धर्मी के साथ धर्मरूप प्रतियोगिता का कुछ सम्बन्ध मानना पडेगा। कोई भी सम्बन्ध यदि न हो तो भी धर्म-धर्मीभाव मानेंगे तो, हिमाचल और विन्ध्याचल में भी धर्म-धर्मीभाव का प्रसङ्ग हो जायगा, अतः सम्बन्ध मानना आवश्यक है। वह सम्बन्ध भी असम्बद्ध होकर के पट में रहेगा, तो असम्बद्धत्व अन्य के साथ भी समान ही है, इसलिए पूर्वोक्त हिमाचल और विन्ध्याचल में भी धर्म-धर्मी-भाव का प्रसङ्ग आ पडेगा। अतः उस सम्बन्ध को पट में रखने के लिए सम्बन्धान्तर की अपेक्षा रहेगी, वह सम्बन्धान्तर भी किसी अन्य सम्बन्ध से ही रहेगा, अतः अनवस्था का प्रसङ्ग होगा। इसी रीति से भेदानुयोगिता को घट में रखने के लिए किसी सम्बन्ध की अपेक्षा अवश्य होगी, वह सम्बन्ध भी सम्बन्धान्तर से ही रहेगा, उस को भी सम्ब-न्धान्तर की अपेक्षा होगी। तब तो अनवस्था का प्रसंग आए बिना नहीं रहेगा। फलतः प्रतियोगिता और अनुयोगिता दोनों के लिए पहले से ही अथवा अन्त में जाकर स्वरूप सम्बन्ध ही मानना होगा तब तो धर्मी का स्वरूप सम्बन्ध धर्मरूप होगा और धर्म का स्वरूप सम्बन्ध धर्मीरूप होगा तब धर्मी और धर्म में अभेद सिद्ध हो जायगा, अतः घट-निरूपित प्रतियोगिता जो पटनिष्ठ है, वह घट को अपने स्वरूप में रखती हुई, पट से अभिन्न बनती है, तो घट भी पट से अभिन्न बन जायगा एवम्, पट निष्ठ प्रतियोगिता निरूपक भेदीय अनुयोगिता जो अपने स्वरूप में पट को रखती हुई, घटस्वरूप सिद्ध होती है तो पट भी घट से अभिन्न हो जायगा। इसरीति से समग्र जगत् का ऐक्य में ही पर्यवसान हो जायगा। यह जो प्रश्न किया था कि भेद को न मानने पर तत्तत् पद और तत्तत् पदार्थों में वचित्र्य व्यवहार कैसे होगा और "घटःपटाद् भिन्नः" यह व्यवहार कैसे होगा ? वह प्रश्न भी संगत नहीं है। कारण, पारमार्थिक अभेद को मानते हुए भी वेदान्ती अपारमार्थिक भेद का खण्डन नहीं करते हैं, किन्तु अविद्या से कल्पित अपार-मार्थिक भेद का स्वीकार करते हैं। उस अपारमार्थिकभेद का अवलम्बन करके ही तत्तत् पद और तत्तत् पदार्थों में वैचित्र्य व्यवहार होगा और "घटःपटाद् भिन्नः" यह भेदव्यव-हार भी होगा। यदि तार्किकों को शङ्का हो कि-'इसतरह के अभेद मानने में क्या प्रमाण

है ? केवल युक्ति से अभेद सिद्ध करने में विश्वास नहीं रखा जा सकता, कारण, आप से अधिक युक्तिपटु कोई पण्डित देशान्तर वा कालान्तर में सिद्ध हो सकता है जो अपने प्रतिभा के बल से भेद का समर्थन कर सके-इस आशङ्का को दूर करने के लिए श्रीहर्ष का कहना है कि जिन तर्कों के द्वारा मैंने सकल जगत को सत् से अभिन्न सिद्ध किया है, वे तर्क श्रुति के अभिप्रायानुसारी ही हैं। "एकमेवाऽद्वितीयं'-नेह नानाऽस्ति किंचन' 'सर्वं खलु इदं ब्रह्म" इत्यादि श्रुति वाक्यों से जगत में सदविशिष्टता का ही प्रतिपादन होता है। इसलिए अभेदसाधक तर्क जो दिए गए हैं, वे श्रुतिप्रमाण के अनुकूल होने के कारण अविश्वसनीय नहीं है अतः सभी वस्तु सत् से अभिन्न हैं, यह मत सङ्गत है।

[भेद अवास्तव होने पर अभेद भी असिद्ध—जैन मत]

(भेदस्यावास्तवत्वे) प्रकृत ग्रन्थ से ग्रन्थकार यह बताते हैं कि पूर्ववर्णित अद्वैतवादि श्रीहर्ष का मत भी विचार करने पर मनोरम नहीं लगता, कारण, जगत में जो वैचित्र्य का अनुभव होता है और "घटःपटाद् भिन्नः" इत्यादि भेद प्रतीति होती है उस का उपपादन करने के लिए भेद को वे अविद्याकल्पित मानते हैं। किंतु भेद को अविद्या कल्पित होने के कारण अवास्तव माना जाय, तो भेदाभावरूप अभेद भी अवास्तव ही होगा, क्योंकि जिस अभाव का प्रतियोगि अवास्तव होता है वह अभाव भी अवास्तव ही होता है। इस स्थिति में अभेद को वास्तव मानना सम्भवित नहीं हो सकता। कारण, अभेद भेदाभाव स्वरूप ही सिद्ध होता है। यदि वे कहें कि-"सदविशिष्टं सर्वं" इस मान्यता में अविशिष्ट पद का अर्थ हम 'अभेद' नहीं करते हैं किन्तु अविशिष्ट पद से तादात्म्यरूप अर्थ विवक्षित है, ऐसा मानते हैं। तब तो तादात्म्य में अवास्तवत्व नहीं आता, क्योंकि तादात्म्य कल्पितप्रतियोगिक अभावरूप नहीं है।' तब उन को पूछना चाहिए कि जगत में सत् का सर्वथा तादात्म्य आप को विवक्षित है, या कथञ्चित् तादात्म्य विवक्षित है ? इस में प्रथम पक्ष तो सङ्गत नहीं हो सकता क्योंकि सत् का सर्वथा तादात्म्य घटपटादि प्रपञ्च में यदि विवक्षित हो तो जो अर्थ घट पद से विवक्षित होगा, वह अर्थ तो पटादि पदों का भी होगा क्योंकि सभी सदात्मक हैं। तब पुनरुक्ति दोष का प्रसङ्ग होगा। उपरांत, घट पद से ही सकल अर्थ का कथन हो जायगा तो पटादि पदों में निरर्थकत्व का भी प्रसङ्ग आ जायगा, क्योंकि पटादि पदों के उच्चारण का कोई प्रयोजन नहीं रहेगा, अतः सर्वथा सत्तादात्म्य को मानना शक्य नहीं है। यदि द्वितीय पक्ष विवक्षित करते हैं तो-वह भी ठीक नहीं, क्योंकि कथञ्चित् तादात्म्य मानने पर भेद में वास्तवत्व माना जाय तो भी कोई विरोध नहीं रहता। किंतु तब सभी वस्तु में ब्रह्माभिन्नत्व की सिद्धि नहीं होगी। अतः आप के सिद्धान्त की हानि होगी, क्योंकि "एकमेवाद्वितीयम्" इस श्रुति के अनुसार ब्रह्माद्वैत ही आप का सिद्धान्त है। एवम् "सदविशिष्टं सर्वम्" इस कथन से यदि सत् का कथञ्चित् तादात्म्य सर्व वस्तु में आप को विवक्षित हो, तो जैन सिद्धान्त में प्रवेश का प्रसंग आयगा क्योंकि जैन सिद्धान्त में भी "सदविशिष्टं सर्वम्" यह कथंचित् मान्य है। जैन मत में "उत्पाद-व्यय-ध्रौव्ययुक्तं सत्" यह सत् का स्वरूप है और ऐसा सत्त्व सभी वस्तु में है इसलिए सभी

"णेगेहिं माणेहिं मिणइ त्ती य णेगमस्स य निरुत्ती ।। त्ति" (अनुयोगद्वार–१३६) सूत्रम् । नैकमानमेयविषयोऽध्यवसायो नैगम इत्येतदर्थः । "निगमेषु येऽभिहिताः शब्दास्तेषामर्थः शब्दार्थपरिज्ञानं च देशसमग्रग्राही नैगम" इति तत्त्वार्थभाष्यम् । (१–३५) अत्र पूर्वदलं मदुक्तलक्षणकथनाभिप्रायम्, उत्तरदलं च विषयविभागविधानिरूपणाभिप्रायमात्रम् । देशग्राहित्वं=विशेषप्रधानत्वं, समग्रग्राहित्वं च सामान्यप्रधानत्वं पारिभाषिकम् । अन्यथा सामान्यविशेषयोर्द्वयोरपि वस्त्वेकदेशत्वात् किं (कथं) द्वैरूप्यं स्यात्? एवमस्य प्रमाणत्वं स्यात्? न स्यात् प्रत्येकं भेदशस्तदुभयविषयत्वेऽपि सम्भूयोभयविषयत्वाऽयोगात् ।

वस्तु सदविशिष्ट है, अतः द्वितीयपक्ष में जैन की मान्यता से कुछ अधिक कथन आप नहीं करते हैं । इसलिए आप का मत विद्वानों को नहीं जचता है । उपाध्यायजी यहाँ यह सूचित करते हैं कि श्रीहर्ष के मत का निराकरण दूसरे ग्रन्थों में सविस्तर किया गया है, इस हेतु से यहाँ संक्षेप से ही किया है । विशेष जिज्ञासावाले को शास्त्रवार्त्तादि ग्रन्थान्तर का अवलोकन करना चाहिए ।

यहाँ यह आशङ्का हो सकती है कि वैशेषिक तो सामान्य–विशेष को वस्तु से एकान्त भिन्न मानते हैं, इसलिए उन की मान्यता जैनों की मान्यता से विरुद्ध है क्योंकि जैन सिद्धान्त में वस्तु मात्र सामान्यविशेषात्मक भी मान्य है, अतः सामान्यविशेषात्मकता वस्तु में निरूपण करने के प्रसंग में वैशेषिक मत का निराकरण तो संगत है किन्तु श्रीहर्ष के मत में वस्तु से एकान्त भिन्न सामान्यविशेष मान्य नहीं है, तो सामान्यविशेषात्मक वस्तु निरूपण के प्रसंग में श्रीहर्ष के मत का प्रतिपादन और निरास न करने में कोई संगति नहीं बैठती । इस का समाधान यह है कि सभी वस्तु को "सदविशिष्ट" माननेवाले के मत में यद्यपि अतिरिक्त सामान्यविशेष का अभ्युपगम नहीं है, तथापि जैन सम्मत सामान्यविशेषात्मक वस्तु का भी अभ्युपगम नहीं है । इसलिए जैन की मान्यता से विपरीत मान्यता श्रीहर्ष के मत में भी है, अतः उस का निरसन किए बिना स्वसिद्धान्त का सम्पूर्ण प्रतिपादन नहीं हो सकता, इसलिए उस का भी निरसन करना आवश्यक ही है । जैन से विपरीत मान्यता रखनेवाले वैशेषिक के मत का निरसन करने के बाद श्रीहर्ष के मत का स्मरण हो जाता है, क्योंकि श्रीहर्ष भी जैन की अपेक्षया वस्तुस्वरूप में विरुद्ध मान्यता रखते हैं, अतः उन की उपेक्षा भी नहीं की जा सकती है । अत एव उसके निरसन में प्रसंगसंगति होने से उस का निरसन असंगत नहीं है । कारण, "स्मृतिविषयत्वे सति उपेक्षानर्हत्वम्" यह प्रसंगसंगति का लक्षण श्रीहर्षमत के खंडन में घटित है ।

[नैगमनय की सूत्रानुसार निरुक्ति]

(णेगेहिं) सामान्यविशेषात्मक वस्तु निरूपण के बाद ग्रन्थकार ने उक्त नैगम लक्षण को प्रमाणित करने के लिए "अनुयोगद्वार" के (१३६ वे) सूत्र का उद्धरण किया है । ["नैकैः

मानैः मिमीते यः, नैगमस्य निरुक्तिः"] व्याख्याकार "हेमचन्द्राचार्य"ने "न एकं=नैकं" ऐसा विग्रह कर के 'नैकैः' शब्द का "प्रभूतैः" ऐसा अर्थ कहा है। "नैकैः मानैः" इन दोनों पदों से "महासत्तासामान्यविशेषादिज्ञानैः" ऐसा अर्थ निकाला है। "मिमीते" शब्द से "वस्तूनि परिच्छिनत्ति" इस अर्थ का ग्रहण किया है, जिस से यह अर्थ निकलता है कि उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मकमहासत्ताज्ञान, अनुवृत्तिबुद्धि जननस्वभाव परिणामात्मक सामान्य-ज्ञान, तथा व्यावृत्तिबुद्धिजननस्वभाव परिणामात्मक विशेषज्ञानों के द्वारा वस्तुओं का परिच्छेद जो करता है, वही नैगम नय है, नैगम शब्द की यही निरुक्ति अर्थात् व्युत्पत्ति है। इस सूत्र के सारांश को लेकर ग्रन्थकार ने "नैकमानमेयविषयोऽध्यवसायो नैगमः" ऐसा अर्थ बताया है। इस में "नैक" शब्द का प्रभूत या अनेक अर्थ है, यहाँ "नैक"शब्द मान का विशेषण है। इस मान शब्द से यही अर्थ विवक्षित है, जिस को आचार्य हेमचन्द्र ने इस सूत्र की व्याख्या में प्रदर्शित किया है, अतः मान शब्द का महासत्ता ज्ञान, सामान्यज्ञान और विशेषज्ञान अर्थ यहाँ करना चाहिए। इन ज्ञानों से मेय=परिच्छेद्य विषय=अर्थ जिस के हैं वह अभिप्राय विशेष ही नैगम है। तत्त्वार्थ-सूत्र [१-३५] के भाष्य में "निगमेषु येऽभिहिताः शब्दाः, तेषामर्थः, शब्दार्थपरिज्ञानं च नैगमः" ऐसा लक्षण कहा गया है। भाष्य में जो निगम शब्द है उस का अर्थ 'लोक' है। इस से लोक में जो शब्द जिस अर्थ में प्रयुक्त होते हों वे शब्द, उन शब्दों के अर्थ और उन शब्दार्थ का परिज्ञान "नैगम" है। ग्रन्थकार यह बताते है कि इस भाष्य में जो पूर्व दल है अर्थात् 'शब्दार्थपरिज्ञानं च' यहाँ तक के भाष्यग्रन्थ का तात्पर्य उसी लक्षण में है, जो हम ने पहले बताया है। "लोकप्रसिद्धार्थोपगन्तृत्वम्" ऐसा नैगम का लक्षण ग्रन्थकार पूर्व में बता चुके हैं। तत्त्वार्थभाष्योक्त लक्षण से वह लक्षण मिलता जुलता है। तत्त्वार्थभाष्य में देशसमग्रग्राहि यह ग्रन्थ उत्तर दल है। इस का अभिप्राय लक्षण कथन में नहीं, किन्तु नैगमनय के विषयों का विभाग करने में है। यह उचित भी है, क्योंकि पूर्वदल से लक्षण का कथन हो चुका है, तब तो विषय का विभाजन ही अवशिष्ट रहता है जो उत्तर दल से किया गया है। नैगम के विषय, विशेष और सामान्य ये दो होते हैं। जो नैगम प्रधानतया विशेषग्राहि होता है, वह देशग्राहिनैगम कहा जाता है और जो प्रधानतया सामान्यविषयक होता है, वह समग्रग्राही होता है। यद्यपि सामान्य विशेष दोनों ही वस्तु के एक देश हैं, इसलिए नैगम के दो भेद सम्भव नहीं है क्योंकि देश-ग्राहि नैगम में सामान्य भी भासित होता है और समग्रग्राहि नैगम में विशेष भी भासित होता है, तथापि "स्याद्वाद" माननेवाले आचार्य देशपद की प्रधानीभूतविशेषरूप अर्थ में परिभाषा, अर्थात् संकेत मानते हैं और समग्रपद की परिभाषा प्रधानीभूतसामान्यरूप अर्थ में मानते हैं। इसलिए विशेष प्रधान नैगम देशग्राहि नैगम है और सामान्यप्रधान नैगम समग्रग्राहि नैगम है, इस तरह का विषयविभाग सिद्ध होता है।

आशंकाः-नैगम यदि प्रधानतया विशेष और सामान्य का ग्राहक माना जायगा तो प्रमाण में और नैगम में कुछ भेद नहीं रहेगा क्योंकि प्रमाण भी विशेष और सामान्य का प्रधानरूप से ग्राहक माना जाता है, इस रीति से नैगम में भी प्रमाणत्व का प्रसंग होगा।

अस्य च चत्वारोऽपि निक्षेपा अभिमता नाम, स्थापना, द्रव्यं, भावश्चेति। घट इत्यभिधानमपि घट एव, "अर्थाभिधानप्रत्ययास्तुल्यनामधेया" इति वचनात्, वाच्यवाचकयोरत्यन्तभेदे प्रतिनियतपदशक्त्यनुपपत्तेश्च। घटाकारोऽपि घट एव, तुल्यपरिणामत्वात्, अन्यथा तत्त्वायोगात्, मुख्यार्थमात्राऽभावादेव तत्प्रतिकृतित्वोपपत्तेः। मृत्पिण्डादिर्द्रव्यघटोऽपि घट एवान्यथा परिणामपरिणामिभावानुपपत्तेः। भावघटपदं चासंदिग्धवृत्तिकमेव ॥

नैगम में प्रमाणत्व का मानना "स्याद्वादियों" को इष्ट नहीं है क्योंकि 'नय और प्रमाण ये दोनों भिन्न हैं', ऐसा सिद्धान्त है।

समाधानः- सामान्य और विशेष ये दोनों प्रमाण और नय के विषय होते हैं-इतनी समानता होते हुए भी नैगमनय में जब विशेष प्रधानतया भासित होता है, तब उस में सामान्य गौणतया ही भासित होता है और जब सामान्य प्रधानतया विषय होता है, तब विशेष गौणतया ही विषय होता है। सामान्य और विशेष ये दोनों एक साथ प्रधानतया किसी भी नैगमनय में विषय नहीं होता। प्रमाण में तो सामान्य और विशेष ये दोनों एक साथ ही प्रधानतया भासित होते हैं, इसलिए नैगम में ही प्रमाणत्व का प्रसंग नहीं है। "युगपत् प्राधान्येन सामान्यविशेषोभयग्राहित्व"रूप प्रमाण का धर्म न तो देशग्राहि नैगम में है और न तो सप्रग्राहि नैगम में है, इसलिए नैगम में प्रमाणत्व का आपादन युक्तिसंगत नहीं है।

[नैगमनयस्वीकार्य चारों निक्षेप]

"अस्य चे"त्यादि="नैगम नय" के लक्षण का निरूपण करने के बाद "नैगमनय" के अभिमत कितने निक्षेप हैं? इस का उदाहरण सहित विवरण प्रस्तुत सन्दर्भ से किया जाता है। किसी भी शब्द के व्याकरणादि अनुसार सम्भावित जितने भी अर्थ होते हैं उन को निक्षेप कहा जाता है। उन अर्थों का ज्ञान कराने के लिए उन के लक्षण और विभाजन के द्वारा प्रतिपादन भा निक्षेप पदार्थ है, जिस का पर्याय शब्द न्यास भी है। निक्षेप के कम से कम चार भेद हैं-नाम, द्रव्य, स्थापना और भाव। किसी वस्तु के नामकरण को नामनिक्षेप कहा जाता है। शास्त्रकारने संज्ञाकर्म शब्द से भी नामनिक्षेप का लक्षण बताया है। नामकरण और संज्ञाकर्म इन में शब्द से ही भेद है, अर्थ तो एक ही, दोनों शब्दों से बोधित होता है, क्योंकि संज्ञा और नाम ये दोनों शब्द पर्यायवाचक हैं और कर्मशब्द यहाँ क्रियावाचक होने से कर्म और करण इन दोनों शब्दों से एक ही अर्थ बोधित होता है। नामनिक्षेप में, जिस वस्तु का कुछ नाम रखा जाय उस नामवाचक शब्द के अवयवार्थों का उस शब्द से बोध होना आवश्यक नहीं होता है। जैसे-किसी व्यक्ति का 'इन्द्र' ऐसा नाम रख दिया जाय तो, वह नाम से इन्द्र कहा जायगा, परन्तु उस में इन्द्रशब्दावयव "इन्द्" धातु से प्रतीयमान पारमैश्वर्य उस व्यक्ति में न भासे तो भी वह इन्द्र तो कहा जाता है। नैगमनय इसतरह के नामनिक्षेप को भी मानता है। तथा,

काष्ठनिर्मित या पाषाणादि निर्मित मूर्ति में अथवा चित्र में किसी देवता विशेष का अनुसंधान करने पर उस में इन्द्र आदि की स्थापना का व्यवहार होता है। इस तरह किसी भी वस्तु के आकार में उस वस्तु के स्थापन को स्थापना निक्षेप कहते हैं। भावि में उत्पन्न होनेवाले या नष्ट हो गये हुए कार्यविशेष के उपादान कारण को द्रव्यनिक्षेप कहते हैं। गुण पर्याय सहित वस्तु के असाधारण स्वरूप का जो प्रदर्शन, उस को भावनिक्षेप कहते हैं। ये निक्षेप सभी पदार्थों के ज्ञान में उपयुक्त होते हैं क्योंकि इन के बिना वस्तुस्वरूप का प्रतिविशिष्ट रूप से ज्ञान नहीं हो पाता है। "नैगमनय" इन चारों निक्षेपों को कैसे मानता है, इस को उदाहरण द्वारा उपाध्यायजी स्फुट करते हैं।

(घट इत्यभिधान.) जलाहरण साधनभूत पात्रविशेष का "घट" ऐसा नाम किया जाता है यह "घट" ऐसा अभिधान भी घट ही कहलाता है। यहाँ घट-शब्द को 'घट' नाम से पुकारना यही नाम निक्षेप है। घट शब्द से वाच्य जैसे-घटरूप अर्थ होता है, वैसे घट शब्द का वाच्य घट शब्द भी होता है। घटात्मक अर्थ और घट शब्द इन दोनों में भेद रहने पर भी घटशब्दवाच्यत्वरूप से कथञ्चित् अभेद ही रहता है। इस वस्तु को प्रमाणित करने के लिए अभियुक्त के वचन का प्रदर्शन किया है कि (अर्थाभिधानप्रत्ययास्तुल्यनामधेयाः) अर्थ यानी घटादिवस्तु, अभिधान यानी घट शब्द और प्रत्यय यानी घट इत्याकारक बुद्धि, इन तीनों का नामधेय अर्थात् संज्ञा तुल्य अर्थात् एक ही है। यदि घट अर्थ का बोध किसी को करना हो तो घट शब्द का प्रयोग करना जैसे आवश्यक होता है वैसे ही घट शब्द का और 'घटः' इत्याकारक बुद्धि का बोध किसी को कराना हो तो भी घट शब्द का ही प्रयोग करना पडता है, इसलिए वाच्य घट, वाचक शब्द तथा घट शब्द से होनेवाली बुद्धि, इन तीनों का नाम घट ही होता है। वाच्य और वाचक में कथञ्चित् तादात्म्य यहाँ अभीष्ट है। यदि घटरूप वाच्य और घटशब्दस्वरूप वाचक इन दोनों में अत्यन्त भेद माना जाय तो घटरूप अर्थ में जो नियमतः घटपद को शक्ति मानी जाती है, वह नहीं सिद्ध होगी। कारण, घट शब्दापेक्षया घटरूप अर्थ में जैसे अत्यन्त भेद रहता है, वैसे पटादिरूप अर्थ में भी रहता है, तब घट शब्द की शक्ति पटादिरूप अर्थ में भी हो सकती है। इसलिए घट शब्द और घटरूप अर्थ इन दोनों में कथञ्चिद् अभेद मानना आवश्यक है।

किसी चित्र आदि में जो घटाकार का प्रदर्शन किया जाय उसे स्थापना घट कहा जाता है क्योंकि आकार की दृष्टि से देखा जाय तो वह घटाकार और वास्तविक घट इन दोनों में तुल्य परिणाम होता है। यदि चित्रादिगत घटाकार को घटस्वरूप न मानें तो उस घटाकार को केवल आकार ही कहना होगा किंतु उस को 'यह घटाकार है' ऐसा नहीं कह सकेंगे, यानी घटाकारता ही अयुक्त हो जाने का प्रसंग आयेगा। यदि यह शङ्का हो कि स्थापना घट को भी यदि घट ही मानेंगे तो वास्तविक घट की अपेक्षा स्थापना घट में क्या विशेषता होगी ?- तो इस का समाधान यह है कि स्थापना घट मुख्य घट की प्रतिकृति है, मुख्य घट से जो जलाहरणादि अर्थक्रिया होती है वह स्थापना घट से नहीं हो सकती। इसलिए चित्रादि में मुख्य अर्थ का अभाव है, यही स्थापना घट और मुख्य घट में विशेषता है।

ननु नामादीनां सर्ववस्तुव्यापित्वमुपगम्यते, न वा ? । आद्ये व्यभिचारः, अनभिलाप्यभावेषु नामनिक्षेपाऽप्रवृत्तेः, द्रव्यजीव–द्रव्यद्रव्याद्यसिद्धयाभिलाप्यभाव-व्यापितायाः अपि वक्तुमशक्यत्वाच्च ।

घट के उपादान कारण मृत्–पिण्डादि को द्रव्यघट या घट का द्रव्य निक्षेप कहते हैं । यदि मृत् पिण्डादिरूप द्रव्य को घट न माना जाय तो घट मृत्पिण्ड का परिणाम है और मृत् पिण्ड घट का परिणामी है इसतरह का परिणाम–परिणामीभाव, घट और मृत्पिण्ड इन दोनों में नहीं होगा । इसलिए द्रव्यघट को भी घट मानना चाहिए और इन दोनों में कथञ्चिद् अभेद भी मानना चाहिए। अत्यन्त भेद मानने पर दोनों का परिणाम–परिणामी भाव ही नहीं बनेगा । जलाहरण साधनीभूत कम्बुग्रीवादिमान् घट को भावघट कहते हैं, इसी को भावनिक्षेप भी कहते हैं । कारण, इस में घट के गुण और पर्याय विद्यमान रहते हैं । यह सभी को मान्य है, इसलिए भावघट में घट पद की वृत्ति यानी शक्तिनामक संबंध होने में किसी को भी संदेह नहीं है । भाव निक्षेप को भी नैगमनय मानता है । इस तरह चारों निक्षेप नैगमनय को मान्य है ।

[नामादि चारनिक्षेपों की व्यापकता पर आक्षेप]

(ननु नामादी) नैगमनय नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव इन चारों निक्षेपों को मानता है । यह वस्तु उदाहरणों के द्वारा पूर्व ग्रन्थ से प्रदर्शित की गई है । इस प्रसंग में ये नामादिनय कहाँ–कहाँ प्रवृत्त होते हैं यह विचार भी करना आवश्यक हो जाता है, तदर्थ प्रस्तुत ग्रन्थ की प्रवृत्ति होती है । इस में दो विकल्प पूर्वपक्षी उपस्थित करते हैं ।[1] ये नामादिनिक्षेप चतुष्टय सभी वस्तुओं में प्रवृत्त होते हैं–यह प्रथम विकल्प है और [2]सभी वस्तुओं में प्रवृत्त नहीं होते हैं किन्तु अमुक वस्तुओं में ही प्रवृत्त होते हैं, यह द्वितीय विकल्प है । प्रथम विकल्प के अनुसार जहाँ जहाँ वस्तुत्व रहता है, वहाँ वहाँ सर्वत्र नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव इन चारों निक्षेपों की प्रवृत्ति होती है, ऐसा नियम बनेगा । इस नियम में वस्तुत्व व्याप्यरूप से और नामादि निक्षेप चतुष्टय व्यापकरूप से भासित होता है, परन्तु, इसतरह का नियम मानना सम्भवित नहीं है क्योंकि इस नियम में अनभिलाप्य पदार्थों में व्यभिचार देखने में आता है । पद–वाक्यादि से जिस का प्रतिपादन हो सके ऐसे परिणाम से परिणत अर्थ को 'अभिलाप्य' कहा जाता है, क्योंकि श्रुतज्ञान या तदधीन मतिज्ञान के विषयरूप में परिणत अर्थों का ही पद–वाक्यादि से प्रतिपादन किया जाता है । जैसे–घटपद घटरूप अर्थ का बोध कराता है, इसलिए ही घटपद को श्रवण कर के घटरूप अर्थ में ही नियमतः श्रोता की प्रवृत्ति या निवृत्ति होती है । ऐसे ही गुड पद भी गुडरूप अर्थ का बोधन करता है । परन्तु, गुडगत माधुर्य और मधुगत माधुर्य इन दोनों में क्या भेद है इस का बोधन तो तभी हो सकता है कि जब गुडगत माधुर्य का और मधुगत माधुर्य का विशेषरूप से किसी पद के द्वारा अभिलाप हो सके, परन्तु कोई ऐसा पद नहीं है, जिस से गुडगत और मधुगत माधुर्य का विशेष-रूप से बोध करा सके । अतः गुडादिगत माधुर्य की विशेषता का बोधक पद न होने से

अन्त्ये "जत्थवि य ण जाणिज्जा, चउक्कयं णिक्खिवे तत्थ" ॥त्ति (अनु० द्वार–सू० ७) सूत्रविरोधः, अत्र यत्तत्पदाभ्यां व्याप्त्युपस्थितेरिति चेत् ?

वह पदार्थ अनभिलाप्य है । ऐसे अनभिलाप्य बहुत से पदार्थ हैं, जिन का नामकरण नहीं हो सकता है, इसलिए ऐसे पदार्थों में नामनिक्षेप का प्रवृत्ति नहीं होती और उन में वस्तुत्व तो रहता है, अतः व्यभिचार होता है । इसलिए जहाँ जहाँ वस्तुत्व है वहाँ वहाँ निक्षेप चतुष्टय रहता है, इस तरह की व्याप्ति से गर्भित प्रथम विकल्प मानना ठीक नहीं है ।

यदि यह कहा जाय कि 'जहाँ–जहाँ अभिलाप्य वस्तुत्व है, वहाँ वहाँ निक्षेपचतुष्टय है' इस तरह की व्याप्ति को ही प्रथम विकल्प के गर्भ में हम विवक्षित करेंगे, तब तो अनभिलाप्य पदार्थों में व्याप्यत्वेन अभिमत अभिलाप्यवस्तुत्व न रहने से यदि वहाँ नाम-निक्षेप न रहेगा, तो भी व्यभिचार का प्रसङ्ग नहीं आएगा, क्योंकि अभिलाप्य वस्तुत्व-रूप व्याप्य जिन–जिन पदार्थों में रहता है उन उन पदार्थों में निक्षेपचतुष्टय प्रवृत्त होता ही है' ।–परन्तु ऐसा कहना भी ठीक नहीं है । कारण, जहाँ जहाँ अभिलाप्य वस्तुत्व रहता है, वहाँ वहाँ नामनिक्षेप के रहने पर भी द्रव्यनिक्षेप सर्वत्र नहीं रहता है । जैसे–जीव में अभिलाप्यवस्तुत्व है, परन्तु जीव का द्रव्यनिक्षेप नहीं होता, क्योंकि कोई पदार्थ ऐसा होता जो पूर्वकाल में अजीव होता हुआ भी पश्चात् जीवभाव में परिणत होता तो वह पदार्थ द्रव्यजीव कहा जा सकता, परन्तु वस्तुस्थिति यह है कि जो पदार्थ पूर्व में जीव नहीं था वह जडस्वरूप ही होगा, और जड पदार्थ कभी भी जीवपरिणाम नहीं प्राप्त कर सकेगा क्योंकि जीव चेतन है और अजीव जड होता है । जड पदार्थ का चेतनात्मक परिणाम कभी भी सम्भव नहीं है । इसीतरह कोई भी जीव यदि पूर्वकाल में जीवपर्याय का अनुभव कर के पश्चात् अजीवात्मक परिणाम को प्राप्त होता, तो वह भी द्रव्य जीव हो सकता था, परन्तु यह भी सम्भव नहीं है क्योंकि चेतन जीव कभी अजीव अर्थात् जडात्मक परिणाम को प्राप्त नहीं करता है । चेतन का अचेतनात्मक परिणाम भी अत्यन्त असम्भवित है । इसलिए जीव में द्रव्यनिक्षेप की प्रवृत्ति नहीं होती है और वहाँ व्याप्यत्वा-भिमत अभिलाप्यवस्तुत्व तो रहता है अतः व्यभिचार स्पष्ट है । इसी रीति से द्रव्य में भी व्यभिचार उपस्थित होता है, कारण द्रव्य में अभिलाप्य वस्तुत्व रहता है, गुण और पर्याय से युक्त वस्तु को हा द्रव्य कहते हैं । उस का गुणपर्याय शून्य भावरूप से परिणाम हो सकता नहीं है, क्योंकि गुणपर्याययुक्त भाव का गुणपर्यायवियुक्तभावात्मक परिणाम अत्यन्त असम्भवित है । तब तो द्रव्य में भी द्रव्यनिक्षेप की प्रवृत्ति नहीं हो सकती है । इसलिए द्रव्यजीव की भांति द्रव्यद्रव्य भी अप्रसिद्ध है । द्रव्य में भी निक्षेप चतुष्टयरूप व्यापक नहीं रहता है, अभिलाप्यवस्तुत्वरूप व्याप्य तो रहता है, अतः अभिलाप्य-वस्तुव्यापिता भी नामादि निक्षेपचतुष्टय में नहीं हो सकती ।

[अव्यापकता पक्ष में सूत्रविरोध की शंका]

(अन्त्ये) 'नामादिनिक्षेप सर्ववस्तुव्यापि नहीं है,' यह द्वितीय विकल्प भी नहीं मान सकते हैं, क्योंकि "जत्थवि य ण जाणिज्जा, चउक्कयं णिक्खिवे तत्थ" इस अनुयोगद्वार

अत्र वदन्ति—तत्तद्व्यभिचारस्थानान्यत्वविशेषणान्न दोषः। तदिदमुक्तम्, "यद्यत्रैकस्मिन्न सम्भवन्ति नैतावता भवत्यव्यापितेति" ॥

अपरे त्वाहुः, केवलिप्रज्ञारूपमेव नामाऽनभिलाप्यभावेष्वस्ति, द्रव्यजीवश्च मनुष्यादिरेव, भाविदेवादिजीवपर्यायहेतुत्वात्। द्रव्यद्रव्यमपि मृदादिरेव, आदिष्टद्रव्यत्वानां घटादिपर्यायाणां हेतुत्वादिति ।

सूत्र का विरोध इस पक्ष में उपस्थित होता है। 'जहाँ (कुछ अधिक) न जान सके वहाँ भी नामादि चतुष्टय का निक्षेप करना चाहिए', ऐसा इस सूत्र का अर्थ है। इस सूत्र में यत् और तत् पद का उपादान है। इसलिए व्याप्ति की उपस्थिति होती है, वह व्याप्ति यही है कि जहाँ जहाँ वस्तुत्व है, वहाँ वहाँ निक्षेप चतुष्टय की प्रवृत्ति होती है। इस व्याप्ति से निक्षेप चतुष्टय में सर्ववस्तु व्यापकता का लाभ होता है। द्वितीय विकल्प से तो नामादि में सर्ववस्तु व्यापकता के अभाव का विधान होता है, अतः सूत्र और द्वितीय विकल्प इन दोनों का विरोध स्पष्ट ही देखने में आता है।

[व्यापकता में संकोच मान कर समाधान]

(अत्र वदन्ति) यहाँ कोई आचार्य ऐसा समाधान करते हैं कि सूत्र का विरोध होने से द्वितीय विकल्प का स्वीकार तो नहीं हो सकता है, तो भी 'नामादि चतुष्टयों में सर्ववस्तुव्यापकत्व है,' इस प्रथम विकल्प को स्वीकार करने में बाधा भी नहीं है। अनभिलाप्यभावों में नामनिक्षेप का व्यभिचार तथा जीव और द्रव्य में द्रव्यनिक्षेप का व्यभिचार जो पूर्व में दिया गया है, उस का वारण "तत्तद्व्यभिचारस्थानान्यत्वे सति वस्तुत्वं यत्र यत्र, तत्र तत्र नामादिचतुष्टयम्" इसतरह की व्याप्ति का स्वीकार कर लेने पर हो सकता है। तब तो प्रथम विकल्प ठीक ही है, ऐसी व्याप्ति मानने से अनभिलाप्य भाव भिन्न और जीव तथा द्रव्य भिन्न वस्तु में नामादि व्यापिता रहती है, इसलिए कोई दोष नहीं है। इस बात में अभियुक्त का वचन भी प्रमाण है। जिस का आशय यह है कि व्यापकत्वेन अभिमत पदार्थ यदि किसी एक अधिकरण में न रहता हो, इतने मात्र से व्यापकत्वाभिमत में अव्यापिता नहीं आ जाती है, अर्थात् व्याप्ति का भङ्ग नहीं हो जाता है। "व्यभिचारस्थानान्यत्व" यह विशेषण व्याप्य में लगा देने से ही व्यभिचार का वारण हो जाता है।

[अन्य मत से पूर्ण व्यापकता की उपपत्ति की आशंका]

(अपरेत्वाहुः) नामादि निक्षेपों को सर्ववस्तुव्यापित्व माननेवाले कोई आचार्य का कहना यह है कि अनभिलाप्यभावों में नामनिक्षेप का व्यभिचार जो दिया गया है, वह युक्त नहीं है क्योंकि केवलिप्रज्ञारूप नाम अनभिलाप्यभावों में भी रहता है। केवलज्ञानी सभी पदार्थों को जानते हैं, इसलिए वे अनभिलाप्यभावों को भी अवश्य जानते हैं, अतः केवलिप्रज्ञारूप नाम से वाच्य जो केवलज्ञान वह विषयतासम्बन्ध से अनभिलाप्यभावों में रहता है। अतः नामनिक्षेप की सर्ववस्तुव्यापिता सिद्ध हो जाती है। इस रीति से

एतच्च मतं नातिरमणीयम्, द्रव्यार्थिकेन शब्दपुद्गलरूपस्यैव नाम्नोऽभ्युपगमात् । मनुष्यादीनां द्रव्यजीवत्वे च सिद्धस्यैव भावजीवत्वप्रसङ्गात् आदिष्टद्रव्यहेतुद्रव्यद्रव्योपगमे भावद्रव्योच्छेदप्रसङ्गाच्च ॥

जीव में भी द्रव्यनिक्षेप की प्रवृत्ति सम्भवित है । मनुष्यादि जीव ही द्रव्यजीव हो सकता है । कारण, मनुष्यादिरूप जीव भावि देवादि जीवपर्यायों का हेतु है, इसलिए मनुष्यादिरूप जीव, द्रव्यजाव हो सकता है, अतः द्रव्यनिक्षेप की प्रवृत्ति जीव में होने से व्यभिचार नहीं आता है। तथा मृदादि द्रव्य में भी द्रव्यनिक्षेप का व्यभिचार नहीं आता है, कारण कि घटादि पर्यायों में पर्यायार्थिक नय के आदेश से पर्यायत्व ही है, तथापि "द्रव्यार्थिकनय" के आदेश से घटादि पर्यायों में भी आपेक्षिक द्रव्यत्व सिद्ध होता है और उन घटादि द्रव्य का कारण मृदादि है, अतः मृत्तिका ही द्रव्यद्रव्य है । इसतरह से घट भी द्रव्यद्रव्य हो सकता है क्योंकि उत्तरोत्तर भग्नघटादि पर्यायों का कारण वह भी है और उन पर्यायों में भी द्रव्यार्थिक नयादेश से द्रव्यत्व का आदेश है तथा उत्तरोत्तर पर्यायों में मृत्तिका के जैसे वह भी अनुगत है अतः द्रव्यद्रव्य भी अप्रसिद्ध वस्तु नहीं है, इसलिए द्रव्यनिक्षेप की प्रवृत्ति मृदादि में होने से सर्ववस्तु व्यापिता सिद्ध हो जाती है ।

[केवलिप्रज्ञारूप नामनिक्षेप मानना रमणीय नहीं]

"एतच्च मतमि"त्यादि="उपाध्यायजी" की दृष्टि से उपरोक्त मत भी अति सुन्दर नहीं है । यद्यपि इन आचार्य के मत से निक्षेप चतुष्टय की सर्ववस्तुव्यापिता सिद्ध हो जाती है, इसलिए उक्त मत को रमणीय कहा जा सकता है, तथापि अन्य दोष इस मत में उपस्थित होते हैं, अतः अतिरमणीय तो यह मत भी नहीं हो सकता । कारण, द्रव्यार्थिकनय विशेष ही "नैगमनय" है । अतः "नैगमनय" केवलिप्रज्ञा में नामत्व का स्वीकार नहीं करता है, क्योंकि प्रज्ञा मात्र आत्मा का चैतन्यरूप गुण है, इसलिए केवलिप्रज्ञा भी आत्मचैतन्यरूप है, वह नाम नहीं हो सकता है । द्रव्यार्थिकनय से तो नाम केवल शब्दपुद्गलरूप ही होता है । अतः अनभिलाप्य भावों में नामनिक्षेप की प्रवृत्ति न होने से व्यभिचार खडा ही रहता है क्योंकि शब्दपुद्गलरूप कोई भी नाम अनभिलाप्यभावों का नहीं है। तथा मनुष्यादिजीवों में द्रव्यजीवत्व मानकर व्यभिचार का वारण करना भी युक्त नहीं है क्योंकि ऐसा मानने पर संसारी सभी जीवों में द्रव्यजीवत्व ही सिद्ध होगा। कारण, संसारदशा में सभी जीवों को एकगति से अन्यगति में आना जाना होता रहता है, इसलिए अन्यतरगतिवर्तीजीवकारणत्व गत्यन्तरवर्ती जीवों में रहता ही है, अतः भावजीवत्व संसारीजाव में नहीं आयेगा, किन्तु सिद्ध जीवों में ही भावजीवत्व रहेगा, क्योंकि सिद्धजीव किसी अन्यगति के जीव के प्रतिकारण नहीं बनते हैं। शास्त्र दृष्टि से मनुष्यादि जीव भी भावजीव माने जाते हैं, अतः मनुष्यादि जीव को द्रव्यजीव मानकर व्यभिचार वारण करना सङ्गत नहीं है । एवम्, द्रव्यार्थिक नयादेश से घटादि पर्यायों में आदिष्ट द्रव्यत्व को मानकर घटादि पर्यायरूप द्रव्यों के प्रति कारण होने से मृदादि द्रव्य में

गुणपर्यायवियुक्तः प्रज्ञास्थापितो द्रव्यजीव इत्येकेषां मतं, एतदपि न सूक्ष्मम्, सतां गुणपर्यायाणां बुद्ध्यापनयनस्य कर्तुमशक्यत्वात् । न हि यादृच्छिकज्ञानायत्तार्थपरिणतिरस्ति । 'जीवशब्दार्थज्ञस्तत्रानुपयुक्तो जीवशब्दार्थज्ञस्य शरीरं वा जीवरहितं द्रव्यजीव इति नाऽव्यापिता नामादीनामि'त्यपि वदन्ति ।।

द्रव्यद्रव्यत्व का स्वीकार करना और उस के द्वारा द्रव्यनिक्षेप में व्यभिचार का वारण करना भी सङ्गत नहीं है क्योंकि इस रीति से द्रव्यमात्र में द्रव्यद्रव्यत्व सिद्ध हो जाता है । कारण, द्रव्यमात्र आदिष्टद्रव्यरूप द्रव्यान्तर के प्रति कारण बन जाते हैं। ऐसा मानने पर भावद्रव्य के उच्छेद का प्रसङ्ग आ जाता है। कोई द्रव्य यदि ऐसा हो जो द्रव्यान्तर का कारण न बने वही भावद्रव्य हो सकता है। ऐसे भावद्रव्य का सम्भव उक्त मान्यता के अनुसार नहीं हो सकता है, कारण, सभी द्रव्यों में द्रव्यार्थिक नय से द्रव्यत्व का आदेश हो सकता है और ऐसे द्रव्य का सभी द्रव्य कारण बन सकते हैं ।

[गुणपर्यायरहित द्रव्य जीव की कल्पना अयुक्त]

"(गुणपर्याय) कोई आचार्य के मत से, प्रज्ञा के द्वारा द्रव्य से गुणपर्यायों की पृथक् कल्पना करने पर, द्रव्य गुणपर्याय से रहित हो जाता है, इसरीति से जीवरूप द्रव्य से जीव के गुण और पर्यायों का अपनय करने पर शुद्ध जीव द्रव्यजीव कहा जायगा, अतः द्रव्यनिक्षेप की प्रवृत्ति होगी । तब निक्षेप चतुष्टय में सर्ववस्तु व्यापिता की सिद्धि हो जायगी,–ऐसा समाधान किया जाता है । उन का आशय यह है कि द्रव्य का लक्षण तो "गुणपर्यायवद् द्रव्यम्" इस तत्त्वार्थसूत्र के अनुसार यही सिद्ध होता है कि जिस में गुण और पर्याय सर्वदा रहे वही द्रव्य है । इन में गुण तो द्रव्य में सहभावि होने के कारण सदा रहते ही हैं, परन्तु पर्याय क्रमभावि होते हैं, इसलिए सभी पर्याय द्रव्य में सदा नहीं रहते हैं. तो भी कोई न कोई पर्याय सदा ही द्रव्य में रहता है । इसलिए द्रव्य का गुणपर्याय से वियुक्त होना यद्यपि सम्भवित नहीं है, तथापि बुद्धि–कल्पना के द्वारा जीवादि द्रव्यों से उन के गुणपर्यायों का वियोजन किया जा सकता है । जिस दशा में गुणपर्यायों के रहते हुए भी बुद्धि के द्वारा वियोजन किया जायेगा, उस दशा में जीव भी द्रव्यजीव हो सकता है। इसलिए द्रव्यनिक्षेप की प्रवृत्ति जीव में भी हो सकती है।

परन्तु इसतरह का समाधान सूक्ष्मदृष्टि से विचार करने पर सङ्गत नहीं मालूम पडता। इस में हेतु यह है कि द्रव्य में विद्यमान गुणपर्यायों का बुद्धिमात्र से वियोजन नहीं किया जा सकता । जैसे–नीलघट में विद्यमान नीलगुण का बुद्धि से पृथक्करण होने पर भी वास्तव में वह घट अनील नहीं बन जाता है । नीलघट में 'यह घट नील नहीं है' ऐसी बुद्धि ही केवल होती है । नीलरूप का अपनयन नहीं होता है । उसी तरह जीव में विद्यमान ज्ञानदर्शनादि गुण और मनुष्य देवादि पर्याय का अपनयन बुद्धिमात्र से नहीं हो सकता है । तब तो द्रव्यजीव की असिद्धि होने से अव्याप्ति तदवस्थ ही रहती है। दूसरी बात यह है कि अर्थ की परिणति ज्ञानाधीन नहीं मानी गयी है । ज्ञान यादृच्छिक हो सकता है । इच्छानुसार वस्तु का ज्ञान भिन्न–भिन्न रूप से हो सकता है, किंतु जैसा जैसा ज्ञान होता है, उस उस रूप से अर्थ का परिणाम होना देखने

ननु "तथापि नैगमेन नामादिचतुष्टयाभ्युपगमे तस्य द्रव्यार्थिकत्वव्याहतिः स्यात्, द्रव्यार्थिकेन द्रव्यस्यैवाभ्युपगमात्। 'द्रव्यं प्रधानतया, पर्यायं च गौणतया-भ्युपगच्छन् द्रव्यार्थिकोऽपि भावनिक्षेपसह इति' चेत् ? हन्त ! तर्हि त्वदुक्तरीत्या शब्दनया अपि द्रव्यनिक्षेपसहा इति कथम् 'भावं चिय सद्दणया, सेसा इच्छंति सव्वणिक्खेवे'त्ति [गाथा २८४७] भाष्योक्तव्यवस्था ?

में नहीं आता है। रज्जु में किसी को सर्पबुद्धि हो जाती है तब वह रज्जु सर्पाकार परिणाम को प्राप्त करती हो ऐसा देखने में नहीं आता है, किन्तु रज्जु स्वरूप ही रहती है। उस में सर्पबुद्धि भले ही दोषवशात् हो जावे, तो भी वह अपने आकार का त्याग नहीं करती। इसीतरह गुणपर्याय से सदायुक्त जीव में यदि यह बुद्धि हो जाय कि 'जीव गुणपर्याय से रहित है', तो इसबुद्धि के प्रभाव से जीव गुणपर्यायों को छोड नहीं देगा, अर्थात् गुणपर्याय से वियुक्त नहीं बन जाता है। गुण और पर्याय से वियुक्त यदि जीव बन जाय तो जीव में जीवत्व ही नहीं रहेगा, कारण, गुण और पर्याय द्रव्य का असाधारण धर्म है। असाधारण धर्म का त्याग करने पर वस्तु का स्वरूप ही नहीं रह सकता। जैसे-गो अश्वादि वस्तु गोत्व अश्वत्वादिरूप अपने असाधारण धर्म का त्याग कर दे तो गो अश्वादि का स्वरूप ही नहीं रह सकेगा। अश्वत्वादि असाधारण धर्मों की संज्ञा से ही अश्व अश्वस्वरूप रहता है। अतः 'जीव गुणपर्याय से वियुक्त है' ऐसी बुद्धि होने पर गुणपर्याय वियुक्त जीव परिणाम होना बिलकुल सम्भव नहीं है, इसलिए बुद्धि के आधार पर गुणपर्यायवियुक्त जीव ही द्रव्यजीव है, ऐसा मानना सूक्ष्मबुद्धियों की दृष्टि से सङ्गत नहीं है।

(जीवशब्दार्थ) नामादि चतुष्टय में सर्ववस्तुव्यापिता सिद्ध करने के लिए द्रव्यजीव की व्याख्या कोई आचार्य इसप्रकार देते हैं कि जीवशब्द के अर्थ को जाननेवाला भी जब जीवशब्दार्थ विषयक उपयोग से रहित रहता है, तब वही द्रव्यजीव है, अथवा जीव-शब्दार्थ को जानने वाले जीव का शरीर जब जीवरहित बनता है, तब वैसा शरीर ही द्रव्यजीव है इसलिए द्रव्यनिक्षेप सर्ववस्तुव्यापि है।

[नैगमनय में नामादि स्वीकार से द्रव्यार्थिकत्व व्याघात शंका]

(ननु तथापि) यहाँ एक दीर्घ आशङ्का है-

पूर्वोक्त रीति से नामादि निक्षेपचतुष्टय में सर्ववस्तु व्यापिता का यदि समर्थन किया जाय, तो "नैगमनय" में नामादि निक्षेपचतुष्टय का स्वीकार सिद्ध हो जाता है। इस दशा में नैगमनय" में जो द्रव्यार्थिक नयत्व का अभ्युपगम है, उस का विरोध उपस्थित होगा क्योंकि द्रव्यमात्र का अभ्युपगम जो करता है, वही द्रव्यार्थिक माना जाता है। नामादिनिक्षेपचतुष्टय का अभ्युपगम करने पर "नैगमनय" में भाव का अभ्युपगम भी सिद्ध हो जाता है, इसलिए "द्रव्यमात्र स्वीकर्तृत्व" नैगम में नहीं रहता है। तब द्रव्यार्थिकत्व नैगम में कैसे रह सकेगा ? अतः "नैगमनय" को यदि द्रव्यार्थिकनय मानना हो तो, निक्षेप चतुष्टय स्वीकर्तृत्व नैगम में नहीं मानना चाहिए अन्यथा द्रव्यार्थिकत्व की हानि होगी।

एतेन "द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकयोर्द्वयोस्तुल्यवदेवोभयाभ्युपगमः परमाद्यस्य सर्वथाऽभेदेनान्त्यस्य तु सर्वथा भेदेन, ततो नैकस्योभयविषयत्वे विषयान्तरग्रहार्थमन्यकल्पनानुपपत्तिः, भेदाभेदोपरागेणोभयग्रहार्थमुभयकल्पनावश्यकत्वादिति द्रव्यार्थिकस्यापि पर्यायसहत्वमिति" अपास्तम् ।

इस शङ्का का समाधान इसप्रकार से कोई देते हैं कि "द्रव्य का प्रधानरूप से स्वीकार करनेवाला "नैगमनय" द्रव्यार्थिकनय होने पर भी भावनिक्षेप का स्वीकार कर सकता है, इस में द्रव्यार्थिकत्व की हानि का प्रसङ्ग नहीं आयेगा । कारण प्रधानतया द्रव्य के जैसे पर्याय को भी यदि नैगम स्वीकार करता तो द्रव्यार्थिकत्व का व्याघात अवश्य होता, परन्तु ऐसा तो नहीं है । प्राधान्येन द्रव्यमात्र का स्वीकर्त्ता नय द्रव्यार्थिकनय है-यह लक्षण पर्यायरूप भाव को गौणतया स्वीकर्त्ता नैगमनय में जाता ही है, इसलिए भावनिक्षेप का स्वीकार करने पर भी नैगमनय में द्रव्यार्थिकत्व की हानि नहीं होती ।" परन्तु यह समाधान संगत नहीं लगता । कारण, जिसतरह प्रधानरूप से द्रव्य को माननेवाला और गौणरूप से पर्याय को माननेवाला द्रव्यार्थिकनय भावनिक्षेप का स्वीकर्ता सिद्ध किया गया है, उसी रीति से पर्याय को प्रधानरूप से और द्रव्य को गौणरूप से माननेवाले शब्दनय भी द्रव्यनिक्षेप को स्वीकार करनेवाले सिद्ध हो जायेंगे । तब 'भावं चिय सद्दणया, सेसा इच्छंति सव्वणिक्खेवे'-इस भाष्य से जो व्यवस्था नयों के विषय में की गई है, वह सिद्ध नहीं होगी । आशय यह है कि शब्द, समभिरूढ, एवम्भूत ये तीनों नय शब्दनय कहे जाते हैं । इन नयों को पर्यायनय भी कहते हैं । भाष्यकारने "भावमेव-इच्छन्ति शब्दनयाः" ऐसा कह कर भाव निक्षेपमात्र के स्वीकर्ता ये नय हैं ऐसा सूचित किया है । पूर्वोक्त रीति से तो इन नयों में भी द्रव्यनिक्षेप स्वीकर्तृत्व सिद्ध हो जाता है, तब द्रव्यनिक्षेप स्वीकार की व्यावृत्ति के लिए भाष्य में जो एवकार का प्रयोग किया गया है वह असंगत बन जाता है इसलिए उक्त समाधान ठीक नहीं है ।

[द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिक दोनों के तुल्य अभ्युपगम का निरसन]

(एतेन०)-कोई आचार्य नैगमनय में नामादि निक्षेप चतुष्टय के अभ्युपगम का समर्थन करने के लिए कहते हैं कि-"द्रव्यार्थिक-नय और पर्यायार्थिकनय, दोनों ही समानरूप से द्रव्य और पर्याय को स्वीकारते हैं, परन्तु द्रव्यार्थिकनय, द्रव्य और पर्यायों में सर्वथा अभेद मानता है और पर्यायार्थिकनय द्रव्य और पर्यायों में सर्वथा भेद मानता है, इसलिए इस शंका को भी अवकाश है कि 'यदि ये दोनों नय उभयग्राहि हैं, तो इन दोनों नयों में से एक को ही मानना चाहिए' कारण, एक नय से भी द्रव्य और पर्याय इन दोनों का ग्रहण हो जायगा । एक नय से गृहीत विषय की अपेक्षा अन्यविषय को ग्रहण करने के लिए नयान्तर की कल्पना आवश्यक होती है । यहाँ तो ऐसा है ही नहीं । द्रव्यार्थिकनयगृहीत वस्तु से भिन्न विषय का ग्राहक पर्यायार्थिकनय नहीं होता और पर्यायार्थिकनयगृहीत वस्तु से भिन्न विषय का ग्राहक द्रव्यार्थिकनय नहीं होता, दोनों का विषय द्रव्य और पर्यायरूप विषय एक ही है, तब तो, केवल द्रव्यार्थिक अथवा केवल

एवं सति [1]पर्यायार्थिकस्य शब्दादेरपि द्रव्यसहत्वापत्तेः, [2]अत्यन्तभेदग्राहिणो-र्द्वयोः समुदितयोरपि मिथ्यादृष्टित्वाद्, [3]अत्यन्तभेदे पर्यायद्वयसहोक्तिप्रसङ्गात् तथा च 'गुणो द्रव्यं' इति द्रव्यार्थिकनयाभिलापानुपपत्तेः, [4]अत्यन्तभेदेऽपि पर्यायार्थिकेन द्रव्यग्रहे द्रव्यार्थिकस्यान्तर्गडुत्वप्रसक्तेः [5]एकस्मिन्द्रव्यपक्षे पर्यायार्थिकनयमतेऽपि 'द्रव्यं सामायिकमि'त्यस्याऽविरोधप्रसङ्गात्, [6]एतन्मतस्य भाष्यकृतैव निरस्तत्वाच्चेति चेत् ?

पर्यायार्थिक का स्वीकार करना उचित है। द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक इन दोनों नयों का स्वीकार निष्प्रयोजन है ?-इस शंका का निरवकाश होने का कारण यह है कि द्रव्यार्थिकनय सर्वथा अभेदरूप से द्रव्यपर्याय का ग्रहण करता है, पर्यायार्थिकनय तो सर्वथा भेदरूप से द्रव्य पर्याय उभय का ग्रहण करता है। इसलिए द्रव्यार्थिक से गृहीत विषय सर्वथा अभेद विशिष्ट द्रव्यपर्याय उभयरूप है, उस से भिन्न विषय सर्वथा भेद विशिष्ट द्रव्य पर्याय उभयरूप होता है, उस विषय को ग्रहण करने के लिए पर्यायार्थिकनय की कल्पना आवश्यक है, एवम्, पर्यायार्थिकनय से गृहीत विषय सर्वथा भेद विशिष्ट द्रव्यपर्याय उभयरूप है, उस से अतिरिक्त विषय सर्वथा अभेद विशिष्ट द्रव्यपर्याय उभयरूप होगा, उस को ग्रहण करने के लिए द्रव्यार्थिकनय की कल्पना भी आवश्यक है। इसतरह नयद्वय की कल्पना अनिवार्य होने से किसी की व्यर्थता की आशंका का कारण नहीं रहता है। इस रीति से द्रव्यार्थिकनय में भी पर्यायसहत्व सिद्ध होने से नैगमनय में निक्षेपचतुष्टय स्वीकर्तृत्व सिद्ध हो जाता है"—

परन्तु यह मत भी ठीक नहीं है, क्योंकि इस रीति से शब्दनयों में भी द्रव्यनिक्षेपसहत्व आ जाने से "भावमेव शब्दनयाः" इत्यादि भाष्योक्त व्यवस्था की हानि रूप दोष लगा ही रहता है, कारण कि भाष्योक्त व्यवस्था के अनुसार शब्दनयों में भावनिक्षेप मात्र का स्वीकार सिद्ध होता है। जब कि, प्रस्तुत आचार्य के मत से शब्दनयों में द्रव्यनिक्षेपसहत्व का प्रसंग आ जाता है। यहाँ यह ख्याल रखना चाहिए कि पर्यायार्थिकनय और शब्दनय ये दोनों शब्द एक ही अर्थ में प्रयुक्त होने के कारण पर्यायशब्द हैं और शब्द समभिरूढ और एवम्भूत ये तीनों नय शब्दनय शब्द से तथा पर्यायनय शब्द से गृहीत होते हैं। मूल में "एतेन" शब्द का अर्थ 'भाष्योक्तव्यवस्थागप्रसंगेन ऐसा है और इसी कारण से यह मत अपास्त अर्थात् निरस्त होता है, ऐसा सम्बन्ध लगाना है।

(एवं सति) द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक इन दोनों नयों में समानरूप से द्रव्यपर्याय उभय के अभ्युपगमवादि के मत में अन्य दोष भी आते हैं। वे इस प्रकार-(१) जैसे द्रव्यार्थिकनय एकान्त अभेदोपराग से द्रव्यपर्याय उभय का अभ्युपगम करता है, इसलिए उस में पर्यायसहत्व आता है और नामादिनिक्षेप चतुष्टय का स्वीकार उस में सिद्ध होता है, इसीतरह शब्द, समभिरूढ, एवम्भूत ये तीनों पर्यायार्थिकनय भी एकान्त भेदोपराग से द्रव्य पर्याय इन दोनों के स्वीकर्ता माने जायेंगे, तब इन में भी द्रव्य सहत्व की आपत्ति होगी, इस से पूर्वोक्त भाष्योक्त व्यवस्था का भंग हो जायगा, इसी-

अत्रोच्यते—अविशुद्धानां नैगमभेदानां नामाद्यभ्युपगमप्रवणत्वेऽपि विशुद्धनैगम-

लिए उभयाभ्युपगम पक्ष युक्त नहीं है। (२) दूसरा दोष उस पक्ष में यह आता है कि द्रव्यार्थिकनय द्रव्यपर्याय इन दोनों के अत्यन्त अभेद को ही इस मत के अनुसार स्वीकार करेगा और पर्यायार्थिकनय द्रव्य और पर्याय इन दोनों में अत्यन्त भेद को ही स्वाकार करेगा, इसलिए पृथग्भूत अथवा समुदित इन दोनों नयों में मिथ्यादृष्टित्व का ही प्रसंग आयेगा। भेद विशिष्ट अभेद ग्राहित्वरूप सम्यग्दृष्टित्व इन दोनों नयों में नहीं रहेगा। (३) इस पक्ष में तीसरा दोष यह है कि, जब द्रव्यार्थिकनय द्रव्य और गुणादिरूप पर्यायों में कथञ्चित् अभेद मानता है, तब उस की दृष्टि से 'गुणो द्रव्यं' ऐसा वाक्यप्रयोग होता है। जब कि वह द्रव्य और गुणादि पर्यायों में अत्यन्त अभेद को स्वीकार करेगा, तब द्रव्य शब्द और गुणशब्द ये दोनों एक ही अर्थ के बोधक बनेंगे, इसलिए ये दोनों शब्द पर्यायशब्द बन जाएँगे अर्थात् घट शब्द का पर्यायशब्द कलश जैसे होता है और कलश शब्द का पर्याय जैसे घट शब्द होता है वैसे ही द्रव्य का पर्यायशब्द गुण बन जायगा और गुण का पर्यायशब्द द्रव्य बन जायगा। तब पर्यायवाचक शब्दद्वय का "घटः कलशः" इस रूप से एक साथ प्रयोग जैसे नहीं होता है, वैसे ही "गुणो द्रव्यं" ऐसा एक साथ दोनों शब्दों का प्रयोग जो होता है, सो नहीं होगा। (४) तथा इस मत में पर्यायार्थिकनय एकान्त भेदोपराग से द्रव्यपर्याय इन दोनों का ग्राहक है, इसलिए गुणादि पर्यायों का ग्रहण करने के लिए पर्यायार्थिकनय जैसे नयान्तर की अपेक्षा नहीं रहेगी। तब तो नयान्तर निरपेक्ष पर्यायार्थिकनय से ही द्रव्य का ग्रहण इस मत के अनुसार हो जायगा, इसलिए द्रव्यार्थिकनय का स्वीकार इस मत में निरर्थक बन जायगा। ग्रन्थकार ने "अन्तर्गडु" शब्द से निरर्थकत्व का ही संकेत किया है। 'अन्तर्गडु', शब्द का वाच्यार्थ यह है कि शरीर के कण्ठादि प्रदेश में जो मांसपिण्ड बढ आता है, वह अन्तर्गडु कहा जाता है, उस मांसपिण्ड से कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता है। द्रव्यार्थिकनय में भी निष्प्रयोजनत्व होने के कारण अन्तर्गडुत्व का आरोप उस में किया गया है। (५) तथा पर्यायार्थिकनय एकान्तभेदोपराग से गुणादि पर्याय और द्रव्य इन दोनों का स्वीकार करता है। यहां द्रव्यस्वीकार पक्ष में पर्यायार्थिकनय के मत से भी सामायिक द्रव्यरूप बन जायगा, क्योंकि एकान्तभेदरूप से द्रव्य भी उस का विषय बनेगा, अतः सामायिक को द्रव्यरूप मानने में उस को भी कोई विरोध नहीं होगा। तब द्रव्यार्थिकनय में ही द्रव्य सामायिक होता है, यह सिद्धान्त विरुद्ध पडेगा। (६) तथा, 'एकान्त अभेदोपराग से द्रव्यार्थिकनय द्रव्य और पर्याय इन दोनों को मानता है और पर्यायार्थिकनय एकान्तभेदोपराग से द्रव्य और पर्याय इन दोनों को मानता है'—इस मत का भाष्यकार ने स्वयं ही खंडन किया है। इन छह हेतु से यह मत ठीक नहीं है। तब तो नैगमनय यदि नामादि निक्षेपचतुष्टय का स्वीकार करेगा, तो नैगमनय में तो द्रव्यार्थिकत्व की हानि होगी, यह मूल शंका खडी रहती है।

[द्रव्यविशेषणतया पर्याय का स्वीकार निरापद है -समाधान]

(अत्राच्यते) उक्त दीर्घ शंका का समाधानः— "नैगमनय यदि निक्षेपचतुष्टय का स्वीकार करें, तो उस में द्रव्यार्थिकत्व का व्याघात होगा क्योंकि, वह द्रव्यार्थिकनयों में परिगणित है और द्रव्यार्थिकनय द्रव्यमात्र का स्वीकार करता है"—इस मूल आशंका का

भेदस्य द्रव्यविशेषणतया पर्यायाभ्युपगमान्न तत्र भावनिक्षेपानुपपत्तिः । अत एवाह– भगवान् भद्रबाहुः–"जीवो गुणपडिवन्नो, णयस्स दव्वट्ठियस्स सामइयं ॥ (आव. नि. गा. ७९२)" न चैवं पर्यायार्थिकत्वापत्तिः, इतराऽविशेषणत्वरूपप्राधान्येन पर्यायानभ्युपगमात् । शब्दादीनां पर्यायाथिकनयानां तु नैगमवदविशुद्धयभावान्न नामाद्यभ्युपगन्तृत्वम् । अवास्तवतद्विषयत्वं तु नोक्तविभागव्याघातायेति पर्यालोचयामः ॥

समाधान उपाध्यायजी अपने मत से ऐसा देते हैं कि "अविशुद्धनैगमनय" के भेद नाम, स्थापना और द्रव्य इन तीन निक्षेपों का ही भले स्वीकार करें, परन्तु विशुद्ध नैगमभेद तो द्रव्य के विशेषणरूप से पर्याय का भी स्वीकार करता है । इसलिए विशुद्धनैगम में भावनिक्षेप का स्वीकार कोई आपत्तिरूप नहीं है, प्रधानरूप से द्रव्यमात्र का ही अभ्युपगम वह करता है । पर्याय का अभ्युपगम तो गौणरूप से करता है, इसलिए द्रव्यार्थिकत्व की हानि का प्रसङ्ग नहीं आता है । प्रधानतया द्रव्यमात्र का अभ्युपगम ही द्रव्यार्थिकत्व-व्यपदेश का निमित्त है, सो तो विशुद्धनैगम में रहता ही है । विशुद्धनैगम द्रव्य के विशेषण-रूप में पर्याय का भी स्वीकार करता है, इस में भगवान भद्रबाहु का वचन भी प्रमाण-रूप से उपस्थित है–

"जीवो गुणपडिवन्नो, णयस्स दव्वट्ठियस्स सामइयं ।" (आव. नि. गा. ७९२)–यह भगवान भद्रबाहु का वचन है–किस नय का कौन सा सामायिक है, इस प्रकरण में यह गाथा है । सम्यक्त्वादि गुणों से आश्रित जीव द्रव्यार्थिकनय का सामायिक है ऐसा भद्रबाहु स्वामी का कथन है। सामायिक शब्द का अर्थ "समानां ज्ञानदर्शनचारित्राणामायः समायः स एव सामायिकम्" इस विग्रह के अनुसार 'सर्व ज्ञान-दर्शन-चारित्र गुणों का लाभ' ऐसा होता है । सम्यक्त्वादि गुणों से आश्रित जीव को द्रव्यनयों का सामायिक कहने में गुणरूप पर्याय का द्रव्यविशेषणरूप से स्वीकार नैगमनय में सिद्ध हो जाता है, क्योंकि वह भी द्रव्यार्थिकनय है । इस से उपाध्यायजी के कथन को समर्थन मिल जाता है ।

शंकाः–यदि नैगम पर्याय को भी स्वीकार करता है तो उस में पर्यायार्थिकत्व का प्रसङ्ग आ जायगा ? समाधानः–पर्याय के स्वीकार मात्र से पर्यायार्थिकत्व का प्रसङ्ग देना उचित नहीं है । इतराऽविशेषणत्वरूप से प्रधानतया पर्याय का स्वीकार करना ही पर्यायनयत्व व्यपदेश में निमित्त है । इसलिए नैगमनय की गणना पर्यायनयों में होती नहीं है क्योंकि वह पर्याय को प्रधानरूप से स्वीकार नहीं करता है किन्तु द्रव्य में विशेषणरूप से पर्यायों को मानता है, इसलिए नैगम में भावनिक्षेप मानने पर भी पर्यायार्थिकता की आपत्ति नहीं आती है और निक्षेप चतुष्टय स्वीकर्तृत्व की अव्याप्ति भी नहीं होती है । शब्दादि पर्यायार्थिकनयों में निक्षेपचतुष्टयाभ्युपगम नहीं है । कारण, नैगम के जैसी अविशुद्धि उस में नहीं है, किन्तु वे विशुद्धियुक्त हैं, इसलिए भावनिक्षेप मात्र का स्वीकार करते हैं । तब यह शंका होती है कि–"नैगमनय विशेषणरूप से भी यदि पर्याय का स्वीकार करता है तो नैगमादि द्रव्यार्थिकनय हैं और ऋजुसूत्रादि पर्यायार्थिकनय है, ऐसा जो विभाग किया गया है वह असङ्गत होगा क्योंकि गौणरूप से भी पर्याय का स्वीकार

ननु तथापि "णामाइतियं दव्वट्ठियस्स भावो अ पज्जवणयस्स"[७५]त्ति पूर्वमभिधाय पश्चात् "भावं चिय सद्दणया, सेसा इच्छंति सव्वणिक्खेवे" [२८४७] तथा "सव्वणया भावमिच्छंति" ॥ [३६०१] त्ति वदतां भाष्यकृतां कोऽभिप्राय इति चेत् ?

अयमभिप्रायः—पूर्वं शुद्धचरणोपयोगरूपभावमङ्गलाधिकारसम्बन्धान्नैगमादिना जलाहरणादिरूपभावघटाभ्युपगमेऽपि घटोपयोगरूपभावघटानभ्युपगमात्तथोक्तिः, पृथग-निक्षेपाच्च न प्रत्ययस्याभिधानतुल्यता, अग्रे तु व्यवस्थाधिकाराद्विशेषोक्तिरिति ।

करने के कारण नैगम का भी पर्यायार्थिकनय में प्रवेश हो जायगा" परन्तु यह शंका ठीक नहीं है क्योंकि द्रव्यनय पर्यायों को वास्तव नहीं मानता है, उस की दृष्टि से द्रव्य से व्यतिरिक्त पर्याय कल्पित ही है। अतः कल्पित पर्याय को मानने पर 'नैगमादि द्रव्यनय हैं और ऋजुसूत्रादि पर्यायनय हैं. ऐसा विभाग करने में कोई विरोध नहीं है ।

[भाष्यकार के विरोधाभासी वचनों का क्या तात्पर्य है ? प्रश्न]

(ननु तथापि)=विशुद्धनैगम द्रव्यविशेषणतया पर्याय को भी स्वीकार करता है, इसलिए नैगमनय में भावनिक्षेप संगत है ऐसा व्यवस्थापन किया गया है। यहाँ प्रश्न हो सकता है कि "विशेषावश्यकभाष्यकार"ने पूर्व में "णामाइतिय" [गा० ७५] इत्यादि से द्रव्यार्थिकनय में नामादि निक्षेपत्रय के अभ्युपगम का और पर्यायार्थिकनय में भावनिक्षेप मात्र के अभ्युपगम का वर्णन किया है, पश्चात् "भावं चिय सद्दणया" (गा. २८४७) इत्यादि गाथा से शब्दनयों में केवल भावनिक्षेप के अभ्युपगम का और शब्दनयों से इतर द्रव्यनयों में निक्षेप चतुष्टय के अभ्युपगम का वर्णन किया है। आगे चलकर "सव्वणया अं च भावमिच्छंति' (गा. ३६०१) इत्यादि गाथा से यह कहा है कि भावनिक्षेप को तो सभी नय अर्थात् द्रव्यार्थिकनय और पर्यायार्थिक नय दोनों स्वीकार करते हैं। इस तरह पूर्वकथन के अनुसार द्रव्यार्थिक नय में निक्षेपत्रय के स्वीकार का वर्णन और अग्रिम गाथा से द्रव्यार्थिकनय में निक्षेपचतुष्टय का कथन परस्पर विरुद्ध प्रतीत होता है। ऐसे परस्पर विरुद्ध वर्णन करने में "भाष्यकार" का क्या अभिप्राय होगा ? यह प्रश्न है ।

[भाष्यकार के वचनों का तात्पर्य—समाधान]

("अयमभिप्रायः")-पूर्व में "णामाइतियं दव्वट्ठियस्स" इत्यादि गाथा से जो द्रव्यार्थिकनय में नामादि निक्षेपत्रय का अभ्युपगम भाष्यकार ने दिखाया है उस का अभिप्राय यह है कि-शुद्ध आचरण में उपयोग यानी सावधतारूप भावमङ्गल का वह प्रकरण है। नैगमादि नय जलाहरणादिरूप भावघट को तो मानते हैं, किंतु घटोपयोगरूप भावघट को नहीं मानते हैं। प्रकरण तो शुद्ध चारित्र में उपयोग का है। अतः उपयोगरूप भाव का स्वीकार न होने के कारण द्रव्यार्थिकनय में निक्षेपत्रय का कथन प्रकरणानुरोध से युक्त ही है। तब यह शंका होती है कि-'नैगमादि यदि नामनिक्षेप को मानते हैं, तो उपयोग को भी जरूर मानेंगे क्योंकि "अर्थाभिधानप्रत्ययाः तुल्यनामधेयाः" इस वचन के अनुसार उपयोग में भी नामतुल्यता आ जाती है। तब तो, घटोपयोगरूप भावघट का स्वीकार भी

मुख्यत्वरूपस्वातन्त्र्येण नामादित्रयविषयत्वमेव द्रव्यार्थिकस्येत्यभिप्रेत्य मतान्तरेण वा तथोक्तिः। अत एवोक्तं तत्त्वार्थवृत्तावपि—"अत्र चाद्या नामादयस्त्रयो विकल्पा द्रव्यार्थि(स्ति)कस्य तथा तथा सर्वार्थत्वात्, पाश्चात्यः पर्यायनयस्य तथापरिणतिविज्ञानाभ्याम्" (सूत्र—५) इति।

नैगमादि नयों में सिद्ध हो जाता है, इसलिए नामादि निक्षेपत्रय के अभ्युपगम का कथन भाष्यकार का कैसे संगत हो सकता है ?'—परन्तु यह शंका ठीक नहीं है। कारण, जैसे नामनिक्षेप का स्वीकार है वैसे उपयोगनिक्षेप का पृथक् स्वीकार नहीं किया गया है, अतः प्रत्ययरूप उपयोग में नामतुल्यता नहीं आ सकती है। इसलिए इस प्रकरण में नामादि निक्षेपत्रय के अभ्युपगम का कथन सर्वथा संगत है। आगे चलकर "भावं चिय" इत्यादि गाथा से और "सव्वणया भावमिच्छंति" इस गाथा से जो द्रव्यार्थिक नयों में निक्षेप चतुष्टयाभ्युपगम का कथन भाष्यकार ने किया है उस का अभिप्राय यह है कि, वे दोनों गाथाएँ व्यवस्था के प्रकरण में पठित हैं। कौन नय कितने निक्षेप को तथा भावसाधु को मानते हैं, इस की व्यवस्था उस प्रकरण में की जाती है। द्रव्यार्थिक नयों में निक्षेप चतुष्टय का स्वीकार है और शब्दनयों में भावनिक्षेप मात्र का स्वीकार है—ऐसी व्यवस्था उस प्रकरण में की गयी है, इसलिए अधिकार भेद से अर्थात् प्रकरणभेद से द्रव्यार्थिक नयों में नामादि निक्षेपत्रय का अभ्युपगम कथन तथा नामादि निक्षेप चतुष्टय के अभ्युपगम का कथन, परस्पर विरुद्ध नहीं है। एक ही प्रकरण में यदि ऐसा कथन होता तो विरोध की सम्भावना होती। प्रकरणभेद से दोनों कथन में विरोध को अवकाश ही नहीं है।

[मुख्यत्व रूप स्वातन्त्र्य को लेकर तात्पर्यभेद—समाधान]

(मुख्यत्वरूप) अथवा, पूर्व में जो नामादि निक्षेपत्रयाभ्युपगम का कथन भाष्यकार ने किया है, वह अपने मत के अनुसार नहीं किया है, किन्तु मुख्यत्वरूप स्वातन्त्र्य से अर्थात् द्रव्यार्थिकनय मुख्यतया नामादि निक्षेपत्रय को ही मानता है, इस मतान्तर के अभिप्राय से वैसा कहा है। तब तो भाष्यकार के कथन में विरोध की आशंका का अवसर ही नहीं आता है, क्योंकि भाष्यकार के अभिप्राय से द्रव्यार्थिकनयों में नामादि निक्षेपचतुष्टय का अभ्युपगम है, यह एक पक्ष ही सिद्ध होता है। इस मतान्तर के आश्रयण से ही "तत्त्वार्थसूत्र" की (अ. १, सू० ५) वृत्ति में जो कहा गया है कि आद्य नामादिनिक्षेपत्रय अर्थमात्रव्यापि होने से द्रव्यार्थिकनय मानता है। पर्यायनय भावनिक्षेप को मानता है क्योंकि पर्यायनय वर्त्तमानपर्याय को ही मानता है। प्रत्येक वस्तु प्रतिक्षण परिणमनशील है, इसलिए वस्तु का ज्ञान भी प्रतिक्षण भिन्न भिन्न ही होता है। अतः प्रतिक्षण भिन्न भिन्न वस्तु और भिन्नतया उस का ज्ञान यहा पर्यायनय को स्वीकार्य है और यही उस के मत से भाव है। उसी भावनिक्षेप को पर्यायनय मानता है। तत्त्वार्थवृत्ति का यह अर्थ भी मुख्यतया नामादि निक्षेपत्रय मात्र का अभ्युपगम द्रव्यार्थिक नय करता है इस मतान्तर के अनुसार संगत है। भाष्यकार की व्यवस्था के अनुसार द्रव्यार्थिकनय में नामादिनिक्षेप चतुष्टयाभ्युपगम की ही व्यवस्था है।

एतन्मतावष्टम्भेनैव "जीवो गुणपडिवन्नो णयस्स दव्वट्ठियस्स सामइयं । सो चेव पज्जवणयट्ठियस्स जीवस्स एस गुणो" ॥ (आव. नि. ७९२) इत्यावश्यकगाथा किं द्रव्यं गुणो वा सामायिकमिति चिन्तायां द्रव्यार्थिकनयमते गुणप्रतिपन्नो जीवः सामायिकम्, पर्यायार्थिकनयमते तु जीवस्य गुण एव सामायिकमित्युत्तरम्, अत्र च द्रव्यपर्यायनययोः शुद्धद्रव्यपर्यायावेव विषयौ, तत्र पर्यायद्रव्ययोर्विभिन्नयोः कल्पितयोः 'कुण्डलतापन्नं स्वर्णं, पत्रस्य नीलते'त्यादाविव विशेषणतयाभिधानं तु न स्वविषयव्यावातायेत्यभिप्रायेण महता प्रबन्धेन—भाष्यकृता व्याख्याता ।

[जीवोगुणपडिवन्नो० गाथा के व्याख्यान से अभिप्रायस्पष्टता]

(एतन्मताव) द्रव्यार्थिकनय स्वतन्त्रतया नामादि निक्षेपत्रय को ही मानता है, इसी मत का अवलम्बन करके भाष्यकारने "जीवो गुणपडिवन्नो" इत्यादि आवश्यक गाथा का विस्तृतरूप से व्याख्यान किया है । उस व्याख्यान में सामायिक द्रव्य है ? अथवा सामायिक गुण है ? इस तरह के प्रश्न का उद्भावन करके द्रव्यार्थिकनय के मत में सम्यक्त्वादि गुणों से युक्त जीवद्रव्य सामायिक है, पर्यायार्थिकनय के मत में तो जीव का सम्यक्त्वादि गुण ही सामायिक है—ऐसा उत्तर दिया गया है इस मत में द्रव्यार्थिकनय का विषय शुद्धद्रव्य ही माना गया है । तथा पर्यायार्थिकनय का विषय शुद्धपर्याय ही माना गया है । इस से यह सिद्ध होता है कि द्रव्यार्थिकनय का विषय पर्याय नहीं होता, क्योंकि इस नय की दृष्टि से पर्याय वास्तविक नहीं है । इसलिए नामनिक्षेपत्रय ही द्रव्यार्थिकनय का विषय सिद्ध होता है, पर्यायरूप भावनिक्षेप इस का विषय नहीं होता । तथा पर्यायार्थिकनय की दृष्टि से द्रव्य वास्तविक नहीं है, इसलिए केवल भावनिक्षेप इस का विषय होता है ।

यहाँ पर शंका उठती है कि जब द्रव्यार्थिकनय का विषय शुद्ध द्रव्य ही होता है, तब सम्यक्त्वादि गुणों से युक्त जीव सामायिक है । इस व्याख्यान में गुण का द्रव्य में विशेषणरूप से कथन जो भाष्यकार ने किया है उस से तो द्रव्यार्थिकनय के विषय का विरोध होता है क्योंकि विशेषणरूप से गुणरूप पर्याय भी द्रव्यार्थिकनय का विषय सिद्ध हो जाता है । तथा पर्यायार्थिकनय का विषय जब शुद्ध पर्याय ही है, तब 'जीव का गुण पर्यायार्थिकनय के मत में सामायिक है' इस व्याख्यान में गुणविशेषणतया जीवरूप द्रव्य का कथन जो भाष्यकार ने किया है, उस से पर्यायार्थिकनय के विषय का विरोध उपस्थित होता है क्योंकि उस का विषय शुद्धपर्यायमात्र है, उस की दृष्टि से द्रव्य तो है ही नहीं । इस आशंका का समाधान यह है कि "कुण्डलतापन्नं सुवर्णं" इस वाक्य में जैसे सुवर्णरूप द्रव्य में विशेषण रूप से कुण्डलत्वरूप पर्याय भासित होता है, वह कुण्डलत्वरूप पर्याय सुवर्णरूप द्रव्य से भिन्न और कल्पित है, वैसे ही द्रव्यार्थिकनय के मत में वास्तविक विषयरूप से तो शुद्ध द्रव्य ही भासित होता है, उस द्रव्य में गुणरूप पर्याय विशेषणतया भासित होने पर भी वह शुद्ध द्रव्य से भिन्न और कल्पित है । कल्पित पर्याय

मतान्तराभिप्रायेण तु पर्यायार्थिक एव द्रव्यस्य कल्पितस्य विशेषणत्वम्, द्रव्यार्थिके तु प्रागुपदर्शितदिशा पर्यायस्याऽकल्पितस्यापि विशेषणत्वं न्याय्यमेव ।

न च नये विशेषणं कल्पितमेवेति नियमः--सावज्जजोगविरओ, तिगुत्तो छसु संजओ ।। उवउत्तो जयमाणो, आया सामाइयं होइ ।। १४९।। (आव. भाष्य) इत्यत्र

का विशेषणतया भान होने पर भी द्रव्यार्थिकनय में शुद्धद्रव्यमात्रविषयता का विरोध नहीं आता है और नामादि निक्षेपत्रय मात्र विषयता का भी विरोध नहीं आता है । यदि उस की दृष्टि से पर्याय में वास्तविकता होती और वह वास्तविक पर्याय विशेषणरूप से भासित होता, तब ही विरोध की सम्भावना होती--ऐसा भाष्यकार का अभिप्राय है । एवं, पर्यायार्थिकनय का विषय शुद्ध पर्याय ही है उस में विशेषणतया जो द्रव्य भासित होता है, वह द्रव्य शुद्धपर्याय से भिन्न और कल्पित है क्योंकि पर्यायनय की दृष्टि से पर्याय ही है, द्रव्य नहीं, तब कल्पितरूप से गुणविशेषणतया द्रव्य का भान होने पर भी पर्यायनय में जो शुद्धपर्यायविषयता है उस का विरोध नहीं आता है, और भावनिक्षेप मात्रविषयता जो पर्यायनय में है उस का भी विरोध नहीं आता है । वास्तवरूप से द्रव्य का पर्यायनय में यदि भान होता तब ही उक्त विरोध की सम्भावना रहती, सो तो है नहीं--ऐसा भाष्यकार का अभिप्राय है ।

[द्रव्यार्थिक नय में मतान्तर से अकल्पित पर्याय स्वीकार्य]

(मतान्तर) जिस मत में व्यवस्था के अधिकार में द्रव्यार्थिकनय को नामादिनिक्षेप-चतुष्टय मान्य है और पर्यायार्थिकनय को भावनिक्षेपमात्र मान्य है--यह कहा गया है--उस मत के अभिप्राय से पर्यायार्थिकनय में पर्याय का विशेषण द्रव्य कल्पित ही माना गया है क्योंकि पर्यायार्थिकनय की दृष्टि से उस मत में द्रव्य का अस्तित्व मान्य नहीं है । इसलिए "भावंचिय सद्दणया" इस गाथा में चिय (=एव) शब्द का प्रयोग किया गया है । उस से, पर्याय (भाव) से भिन्न नाम, द्रव्य, स्थापना का व्यवच्छेद होता है । गुण के विशेषणतया द्रव्य का भान जो कहा गया है, वह कल्पित द्रव्य को मानने से ही संगत होता है । द्रव्यार्थिकनय में तो द्रव्यविशेषणतया पर्याय का जो कथन किया गया है, वहाँ पूर्वोक्त रीति अनुसार अकल्पित यानी वास्तव पर्याय का द्रव्यविशेषणतया भान द्रव्यार्थिकनय में मानना उचित ही है, इसलिए द्रव्यार्थिकनय में व्यवस्थाधिकार के अनुसार नामादिनिक्षेप चतुष्टय का अभ्युपगम युक्त ही है ।

[नय में भासमान विशेषण कल्पित होने का नियम नहीं]

(न च नये) नयों में जो-जो विशेषण भासित होते हैं, वे कल्पित ही होते हैं, इस नियम को माननेवाले विद्वान् यहाँ शङ्का करे कि-"द्रव्यार्थिकनय में अकल्पित भी पर्याय विशेषणरूप से भासित होता है यह मानना युक्तिसंगत नहीं है । आशय यह है कि पर्यायार्थिकनय में पर्यायविशेषणतया भासमान द्रव्य यदि कल्पित ही माना जाय तो, उसी तरह द्रव्यार्थिकनय में भी द्रव्यविशेषणतया भासमान पर्याय भी कल्पित ही होना

सङ्ग्रहनयस्वीकृतात्मसामान्यसामायिकविधिनियमनाय प्रवृत्तानां पर्यायशुद्धिमतां व्यवहारादिनयानां यावदेवम्भूतमुत्तरोत्तरपर्यायकदम्बकविशेषणोपरागेणैव प्रवृत्तिदर्शनात् ।

चाहिए । पर्यायनय में विशेषणीभूत द्रव्य कल्पित हो और द्रव्यनय में विशेषणीभूत पर्याय कल्पित तथा अकल्पित भी हो, यह अर्धजरति न्याय उचित नहीं है । और ऐसा मानने में कोई युक्ति भी नहीं दिखती है । अतः नयमात्र में समान न्याय से सर्वत्र विशेषण को कल्पित ही मानना चाहिए । तब तो द्रव्यनय में विशेषणीभूत पर्याय को अकल्पित मानकर निक्षेपचतुष्टय के अभ्युपगम का समर्थन करना योग्य नहीं है ।"-उपाध्यायजी इस शंका का समाधान करते हुए बताते हैं कि—

*"सावज्जजोगविरओ, तिगुत्तो छसु संजओ । उवउत्तो जयमाणो, आया सामाइयं होई"

इस आवश्यक निर्युक्ति -७९० गाथा के अन्तर्गत भाष्य गाथा १८९ में अविशेषरूप से आत्मा सामायिक है, ऐसा संग्रहनय ने जो माना है, उस को नियमन यानी संकोच करने के लिए अर्थात् सभी आत्मा सामायिक नहीं, किन्तु, उक्त गाथा में प्रोक्त "सावद्ययोगविरत" आदि विशेषणों से युक्त आत्मा ही सामायिक है, इस नियम को करने के लिए प्रवृत्त, आपेक्षिकपर्यायशुद्धि को माननेवाले व्यवहारादि एवम्भूत पर्यन्त नयों की प्रवृत्ति उत्तरोत्तर विशेषण स्वरूप पर्यायों को मान कर के ही देखने में आती है । यदि उन नयों की दृष्टि से वे पर्याय कल्पित ही होते, तो विशेषणोपराग से उन की प्रवृत्ति नहीं होती । इसलिए 'नयों में विशेषण कल्पित ही होना चाहिए,' यह नियम मानना उचित नहीं है ।

यहाँ किस नय में कैसे आत्मा को सामायिक माना है, इस का अनुसन्धान कर लेना भी आवश्यक है । उक्त गाथा के विवरण में "आवश्यक निर्युक्ति" दीपिकाकार ने स्पष्टीकरण किया है कि संग्रहनय सामान्यरूप से सभी आत्मा को सामायिक मानता है । परन्तु, व्यवहारनय इस बात को नहीं मानता । व्यवहारनय का कथन है कि सभी आत्मा सामायिक नहीं है, किन्तु 'यतमान'=यतना से काम करनेवाला आत्मा ही सामायिक है । "ऋजुसूत्र" को वह भी मान्य नहीं है । ऋजुसूत्र का कथन है कि यतमान आत्माओं में भी जो उपयोग (पूरी सावधानी से) युक्त है वही यतमान आत्मा सामायिक है । जो आत्मा अपने कर्त्तव्यों में उपयोगवाले नहीं हैं, वे यतमान होते हुए भी सामायिक नहीं है । "शब्दनय" (साम्प्रतनय) को वह भी मान्य नहीं है क्योंकि "साम्प्रतनय" "ऋजुसूत्र" से अभिमत अर्थ की अपेक्षा विशेषिततर अर्थ को मानता है, अतः शब्दनय (साम्प्रतनय) के अभिप्राय से सावद्ययोगविरत उपयुक्त आत्मा ही सामायिक है । "समभिरूढनय" तो वैसे आत्मा को भी सामायिक नहीं मानता है क्योंकि वह ऋजुसूत्राभिमत अर्थ की अपेक्षा विशेषिततम अर्थ का ग्राही है इसलिए समभिरूढ के अभिप्राय से यतमान उपयुक्त सावद्ययोगविरत आत्मा भी मनोगुप्ति, कायगुप्ति, वचनगुप्तिरूप गुप्तित्रय विशेषण से युक्त होने पर ही सामायिक माना जाता है । "एवम्भूतनय" तो समभिरूढ की अपेक्षा से भी अधिकविशेषतमरूप अर्थ का ग्राही है, अतः इन विशेषणों से युक्त आत्मा को भी

* (सावद्ययोगविरतः त्रिगुप्तः, षट्सु संयतः । उपयुक्तो यतमान आत्मा सामायिकं भवति ।।)

न च तत्र पर्यायनयानां सङ्ग्रहस्वीकृतविधिविशेषपर्यवसानार्थं पर्यायविशेषणमुद्रया प्रवृत्तावपि "सविशेषण०"इत्यादिन्यायाच्छुद्धपर्यायविधावेव तात्पर्यात्, अन्यनयविधिनियमानुद्देशलक्षणस्वातन्त्र्येण नयानां स्वविषयनिर्देशे विशेषणस्य कल्पितत्वनियम एवेति वाच्यम् । तथाप्यन्यत्वस्य स्वविषयविलक्षणविषयत्वरूपस्य निवेशेन नैगमभेदेषु विशुद्धनैगमे विशेषणस्य पर्यायस्याऽकल्पितत्वसिद्धेरप्रत्यूहत्वादित्यस्माभिरनुशीलितः पन्थाः समाकलितस्वसमयरहस्यैर्दिव्यदृशा निभालनीयः ॥

सामायिक नहीं मानता है, किन्तु उक्त विशेषणों से युक्त होने पर भी जो आत्मा षड्विध जीवनिकाय की हिंसा से निवृत्त है, उसी आत्मा को सामायिक मानता है । "नैगमनय" के मत से इन समस्त विशेषणों से युक्त अथवा इन गुणों में से एक विशेषण से भी या दो तीन विशेषणों से भी युक्त आत्मा सामायिक माना जाता है । ये सभी विशेषण आत्मा के गुणरूप पर्याय ही हैं । ये गुण यदि कल्पित होते तो विशेषणोपराग से नयों की प्रवृत्ति संभव नहीं हो सकती थी इसलिए 'कल्पित गुण ही नयों में विशेषणरूप से भासित होते हैं' ऐसा नियम मानना ठीक नहीं है । अतः निक्षेपचतुष्टय का अभ्युपगम द्रव्यार्थिकनय में जो व्यवस्थित किया गया है वह न्याययुक्त ही है ।

[विशेषण कल्पित ही होने के नियम की शंका]

शंकाः-(न च तत्र) सावज्जोगविरओ० इस गाथा में साम्प्रत, समभिरूढ और एवम्भूत इन पर्यायनयों की पर्यायरूप विशेषण के उपराग से जो प्रवृत्ति हुई है वह तो आत्मसामान्य सामायिक है ऐसा विधान जो संग्रहनय ने किया है उस का विशेष में पर्यवसान करने के लिए ही हुई है । अर्थात् आत्मसामान्य सामायिक नहीं है किन्तु सावद्ययोग विरतत्व, त्रिगुप्तत्व, षट्जीवकायसंयतत्व आदि विशेषणों युक्त आत्मा ही सामायिक है, यह वस्तु सिद्ध करने के लिए ही पर्यायनयों की प्रवृत्ति हुई है, तो भी पर्यायनयों का तात्पर्य उक्त विशेषण विशिष्ट आत्मद्रव्य में नहीं है, किन्तु शुद्ध पर्याय के विधान में ही तात्पर्य है, कारण पर्यायनयों की दृष्टि से द्रव्य है ही नहीं । इसलिए पर्यायविशिष्ट द्रव्य में पर्यवसान बताना भी वस्तुतः पर्यायनयों द्वारा हो सकता नहीं है, तब तो सविशेषणे० (हि विधि-प्रतिषेधौ विशेषणमुपसंक्रामतः, सति विशेष्यबाधे) इस न्याय से विशेष्यरूप द्रव्य का बोध पर्यायनयों की दृष्टि से होने के कारण पर्यायविशिष्ट द्रव्य का विधान शुद्ध पर्यायरूप विशेषण के विधान में ही फलित होगा । जैसे, घटत्वविशिष्ट घट में नित्यत्व का विधान नैयायिक की दृष्टि से विशेषणीभूत घटत्व में ही लागू होता है क्योंकि विशेष्यभूत घट में नित्यत्व बाधित है । तब विशेषणोपराग से पर्यायनयों की प्रवृत्ति सिद्ध नहीं होती है । विशेषणोपराग से प्रवृत्ति सिद्ध होने पर ही विशेषणों में अकल्पितत्व हो सकता है, क्योंकि कल्पित वस्तु को विशेषण बनाना सम्भवित नहीं होता है । "वन्ध्यापुत्रवान् अयं ग्रामः" इसतरह ग्रामविशेषणतया वन्ध्यापुत्र का प्रयोग कोई नहीं करता है । जब कि पर्यायनयों का शुद्धपर्याय के विधान में तात्पर्य सिद्ध होता है, तब वे संग्रहनय के विधान

"नैगमाद्युपगतार्थसङ्ग्रहप्रवणोऽध्यवसायविशेषः सङ्ग्रहः" । सामान्यनैगमवारणाय नैगमाद्युपगतार्थपदम् । संग्रहश्च विशेषविनिर्मोकोऽशुद्धविषयविनिर्मोकश्चेत्यादिर्यथासम्भवमुपादेयः, तेन न प्रस्थकस्थले सामान्यविधयाऽसंग्रहादनुपपत्तिः तत्प्रवणत्वं च तन्नियतबुद्धिव्यपदेशजनकत्वम्, तेन नार्थरूपसंग्रहस्य नयजन्यत्वानुपपत्तिदोषः ।

में नियम=संकोच करने के उद्देश्य से प्रवृत नहीं होते हैं, किन्तु स्वतंत्ररूप से अपने विषय का प्रतिपादन करते हैं अतः विशेषणरूप से अपने विषय को नहीं बताते हैं । इसलिए 'विशेषण कल्पित ही है' इस नियम मानने में उक्त गाथा का कोई बाध नहीं है ।

समाधानः-(तथापि) उक्त शंका का समाधान उपाध्यायजी इसतरह देते हैं कि यद्यपि नैगम और संग्रह ये दोनों नय सामान्यग्राही होने के कारण भिन्न नहीं हो सकते हैं । तथापि अन्यनयविधिनियमानुद्देशेन प्रवृत्तस्वरूप स्वातन्त्र्य के लक्षण में जो अन्यत्व का प्रवेश है, वह अन्यत्व स्वविषयविलक्षणविषयत्वरूप विवक्षित है । "नैगमनय" केवल द्रव्य को ही अपना विषय नहीं मानता है, किन्तु पर्याय को भी गौणतया अपना विषय मानता है । "संग्रहनय" द्रव्य को ही अपना विषय मानता है । अतः संग्रहविषयविलक्षणविषयत्वरूप संग्रहान्यत्व नैगमनय में आ जाता है और संग्रहनय का सभी आत्मा में जो सामयिकत्व का विधान है, उस का नियन्त्रण करने के उद्देश्य से नैगमनय की प्रवृत्ति होती है, अतः अन्यनयविधिनियमानुद्देशेन प्रवृत्तत्वरूप स्वातन्त्र्य नैगम के भेदों में और नैगम में भी नहीं है। इसलिए पर्यायनयों के जैसे स्वातन्त्र्येण अपने विषय का निर्देश नैगम नहीं कर सकता है, किन्तु संग्रहनय पारतन्त्र्येण अपने विषय का निर्देश करता है और पर्याय को द्रव्य में विशेषणतया बोधित करता है । इसलिए पर्यायरूप विशेषणों में अकल्पितत्व की सिद्धि में कोई बाधक नहीं दिखता है यदि पर्यायों को वहाँ भी कल्पित माना जाय तो विशेषणतया उन का बोधन सम्भवित ही नहीं हो सकता है ।

(अस्माभिः)-उपाध्यायजी का कहना है कि इसरीति से विशेषणों में अकल्पितत्व साधन का यह मार्ग हमारा सोचा हुआ है । जिन्हों ने स्याद्वादसिद्धान्तों का सम्यक् परिशीलन किया है वे लोग सूक्ष्म दृष्टि से इस मार्ग पर विचार करें । ऊपर-ऊपर की दृष्टि से विचार करने पर यह मार्ग सुगम नहीं लगेगा । [नैगमनय समाप्त]

[संग्रहनय—संग्रहण में तत्पर]

(नैगमाद्यु) "संग्रहणं=सामान्यरूपतया सर्ववस्तूनामाक्रोडनम्-संग्रहः" इस भाव व्युत्पत्ति के अनुसार सभी वस्तुओं का सामान्यरूप से प्रतिपादन करना संग्रहशब्द का अर्थ है । "संगृहणाति सर्वं सामान्यरूपतया" इस कर्तृव्युत्पत्ति के अनुसार 'जो सभी वस्तु का सामान्यरूप से बोध करता है' यह संग्रह शब्द का अर्थ है । "संगृह्यन्ते सर्वेऽपि भेदाः सामान्यरूपतया अनेन इति संग्रहः" इस करणव्युत्पत्ति के अनुसार जिस से सभी विशेष सामान्यरूप से बोधित होते हो वह संग्रह शब्द का अर्थ सिद्ध होता है । नैगम आदि

नयों से स्वीकृत अर्थ का संग्रह करने में जो विशेषरूप से प्रवृत्त हो ऐसे अध्यवसायविशेष को "संग्रहनय" कहा जाता है। इस लक्षण वाक्य में संग्रहपद लक्ष्य का बोधक है और पूर्व के दो पद लक्षण के बोधक हैं। इस लक्षणवाक्य में यदि "नैगमादि-उपगतार्थ" इतना भाग निकाल दिया जाय तो संग्रहप्रवण अध्यवसाय विशेष इतना ही संग्रहनय का लक्षण होगा। तब सामान्यनैगम में संग्रह के लक्षण की अतिव्याप्ति हो जायगी। निर्विकल्प महासत्तारूप केवल सामान्यवादिनैगमनय को सामान्य नैगम कहा जाता है। "संग्रहनय" जैसे सामान्यरूप से सर्ववस्तु का बोध कराता है, वैसे ही सामान्यनैगम भी महासत्ताख्य सामान्यरूप से सभी वस्तु का बोध करता है, अतः संग्रहप्रवण अध्यवसायरूप है। इस अतिव्याप्ति का वारण करने के लिए नैगमादि-उपगतार्थ यह विशेषण लगाना चाहिए। यह विशेषण लगाने पर अतिव्याप्ति नहीं होती है, क्योंकि सामान्य नैगम नय नैगमादिनयस्वीकृत अर्थ का संग्राहक नहीं है-वह तो विशेषवत् केवल सामान्य का भी पृथक्रूप से स्वीकार करता है इतना ही। इसलिए संग्रह का लक्षण वहाँ नहीं जाता है।

"संगहणं संगिण्हइ संगिज्झंते व तेण जं भेया।
तो संगहो त्ति संगहियपिंडियत्थं वओ जस्स॥" (विशे० २२०३)

इस "विशेषावश्यक भाष्य" गाथा में-संगृहीत पिंडित अर्थबोधक वचन जिस का हो, वह संग्रहनय है, ऐसा लक्षण किया गया है। संगृहीतपिंडित शब्द के अर्थ को विशेषावश्यक भाष्यकार (संगहियमणुगमो वा वइरेगो पिंडियं भणियं-२२०४) इस गाथा के अनुसार बताते हैं कि सर्व व्यक्तिओं में अनुगत सामान्य का प्रतिपादक ही संगृहीत शब्दार्थ है। विशेषप्रतिपादकपरमतनिराकरणरूप 'व्यतिरेक' ही पिंडित शब्द का अर्थ है। इसलिए संग्रहनय का वचन अनुगम-व्यतिरेक अर्थवाला होता है, ऐसा भावार्थ फलित हुआ है। इस से विशेष का निराकरण संग्रहनय में सूचित होता है। इसी दृष्टि से उपाध्यायजी कहते हैं— संग्रह शब्द का अर्थ यथासंभव विशेष विनिर्मोक और अशुद्धविषयविनिर्मोक इत्यादि समझना चाहिये। इस से यह सिद्ध होता है कि "संगृहीत-पिंडितार्थबोधकवचनं संग्रहनयस्य लक्षणम्" इसी लक्षण का उपाध्यायजी निर्देश करते हैं। इस लक्षण का भाव यह हुआ-विशेष का निराकरण संग्रहनय को अभिमत है। प्रस्थकस्थल में संग्रहनय विशुद्ध होने के कारण वनगमनादि रूप परम्परया प्रस्थक कारणों में कार्य का उपचार नहीं मानता है और धान्यमापनरूप कार्य के अकरण काल में निष्पन्न प्रस्थक को भी प्रस्थक नहीं मानता है किन्तु धान्यमापनरूप कार्य करण समय में ही निष्पन्न प्रस्थक को प्रस्थक मानता है, इसलिए कार्यविशिष्ट प्रस्थक व्यक्ति की अपेक्षया कार्यशून्य प्रस्थकव्यक्ति भिन्न सिद्ध होती है, अतः कार्यविशिष्ट प्रस्थकव्यक्तिगत प्रस्थकत्व सामान्य भी कार्यरहित व्यक्ति में संग्रह नहीं मानता है। इसलिए प्रस्थकस्थल में प्रस्थकत्व सामान्य का विधान संग्रहनय में नहीं रहता है। तब पूर्वोक्त लक्षणों की अनुपपत्ति अर्थात् अव्याप्ति यहाँ प्राप्त होती है क्योंकि उन लक्षणों में सामान्य का विधान कहा गया है, प्रस्थकस्थल में तो संग्रह सामान्य का विधान नहीं करता है। यदि उपरोक्त लक्षण की

दृष्टि से विचार करते हैं तो प्रस्थकस्थल में भी कोई अनुपपत्ति नहीं होती है। कारण, विशेषविनिर्मोक और अशुद्धविषयविनिर्मोक रूप संग्रह प्रस्थकस्थल में विवक्षित है। प्रस्थकस्थल में सामान्य का विधान न होने पर भी विशेष का विनिर्मोक और अशुद्धविषयविनिर्मोक तो रहता ही है, अतः उपरोक्त लक्षण की संगति होने पर प्रस्थकस्थल में भी कोई बाधा नहीं होती है।

['संग्रह में तत्परता' का क्या अर्थ ?]

(तत्प्रवणत्वञ्च) लक्षण वाक्य में 'संग्रहप्रवण अध्यवसायविशेष' ऐसा पद है। वहाँ 'संग्रहप्रवण' शब्द से संग्रहजनक ऐसा अर्थ स्वभावतः प्रतीत होता है, क्योंकि कविताप्रवणः कविः, घटप्रवणः कुम्भकारः इत्यादि वाक्यों से कविता को बनानेवाला कवि, घट को बनानेवाला कुम्भकार, यही अर्थ स्वाभाविकरूप से बुद्धि में उतरता है। इसलिए 'संग्रहप्रवण' शब्द का अर्थ संग्रहनिष्ठजन्यतानिरूपितजनकतावान् होना चाहिये। परन्तु यह अर्थ अनुपपन्न है क्योंकि संग्रह शब्द का अर्थ जो विशेषविनिर्मोक और अशुद्धविषयविनिर्मोक रूप है उस का जनक नय नहीं होता, क्योंकि नय तो अध्यवसायरूप है, किन्तु विनिर्मोक शब्द का अर्थ जो निराकरण है वह तो नयवाक्य के प्रयोग से ही होता है। किसी भी वस्तु का निराकरण करने के लिए तद्विरोधीअर्थबोधक वाक्य का प्रयोग करना आवश्यक होता है। इसीलिए विनिर्मोकात्मक अर्थरूप संग्रह का जनक अभिप्रायविशेषरूप नय नहीं हो सकता है। तब नयनिष्ठजनकता निरूपित जन्यता भी विनिर्मोकरूप संग्रह में कैसे उपपन्न होगी यह प्रश्न बना रहेगा। इस का समाधान करने के लिए "तत्प्रवण" शब्द का अर्थ उपाध्यायजी बताते हैं कि "तत्प्रवणत्वञ्च तन्निरूपित–बुद्धिव्यपदेशजनकत्वं।" इस का अभिप्राय यह है कि लक्षणवाक्य में संग्रहप्रवणशब्द का अर्थ 'संग्रहनिष्ठ जनकतानिरूपित जन्यतावत्' नहीं समझना चाहिए, किन्तु नैगमादिनयों से स्वीकृत जो विशेषरूप अर्थ और अशुद्ध विषय यानी औपचारिक अर्थ, उन का जो विनिर्मोक अर्थात् परित्याग, तद्व्यापक जो बुद्धि और व्यवहार, तन्निष्ठजन्यता निरूपित जनकत्व, यह तत्प्रवणत्वपद का अर्थ समझना चाहिए। अतः परित्यागरूप संग्रह में नयजन्यत्व न होने पर भी अव्याप्तिरूप दोष का प्रसंग नहीं आयेगा। इस का आशय यह है कि संग्रहनय महासामान्य जो सत्तारूप है, उसी का स्वीकार करता है, विशेष और अशुद्धविषय इस की दृष्टि से है ही नहीं। इसलिए सामान्य का ही विधान संग्रह से होता है, अतः सामान्यबुद्धि का जनक संग्रह बनता है। इसलिए "घटः सन्, पटः सन्" इत्यादि रूप महासामान्यबुद्धिनिष्ठजन्यता निरूपित जनकता संग्रहनय में रहती है, एवम् "घटः सन्, पटः सन्" इत्यादि महासामान्यविषयक व्यवहार भी संग्रह की दृष्टि से सभी वस्तुओं में होता है। इसलिए महासामान्य विषयक व्यपदेशनिष्ठ जन्यता निरूपित जनकता भी संग्रहनय में रहती है। ये महासामान्य विषयकबुद्धि और महासामान्यविषयक व्यवहार वहाँ होते हैं जहाँ विशेष और अशुद्धविषय का विनिर्मोक रहता है। अतः ईदृश विनिर्मोकनिष्ठ व्याप्यतानिरूपित व्यापकता 'सत्–सत्' इत्याकारक बुद्धि और व्यपदेश में आती है। एतादृश बुद्धि और व्यवहारजनकता अभिप्राय विशेषरूप संग्रहनय में

*"संगहियपिंडियत्थं, संगहवयणं समासओ बिंति" ॥ त्ति [अनु० द्वार–१५२–२] सूत्रम् । अत्र संगृहीतं सामान्याभिमुखग्रहणगृहीतं पिण्डितं च विवक्षितैकजात्युपरागेण प्रतिपिपादयिषितमित्यर्थः । संगृहीतं महासामान्यं, पिण्डितं तु सामान्यविशेष इति वाऽर्थः ।

रहती है । इसलिए विशेष और अशुद्ध विषय के निराकरण में इस का व्यापार न होने पर भी उक्तलक्षण की अव्याप्ति का प्रसङ्ग नहीं होता है ॥

[संगृहीत–पिण्डितार्थ वचन–संग्रहनय]

(संगहिय.) उपाध्यायजी ने संग्रहनय का लक्षण बताया है उस को प्रमाणित करने के लिए "विशेषावश्यक भाष्य" की (२१८३) गाथा के पूर्वार्ध को प्रमाणरूप से यहाँ उद्धृत किया है । 'संगृहीतपिण्डितः–अर्थो यस्य तत् संगृहीतपिण्डितार्थम्' ऐसा बहुव्रीहि समास यहाँ अभिप्रेत है । संगहियमागहीयं संपिंडियमेगजाइमाणीयं ॥ (२२०४ गाथा) इस विशेषावश्यक भाष्य के पूर्वार्ध की व्याख्या में बहुव्रीहि समास का ही निर्देश किया है । "मलधारी श्रीहेमचन्द्रसूरि" ने स्वरचित बृहद्वृत्ति में "आगृहीतं" इस पद का अर्थ "सामान्याभिमुखेण आग्रहणम्" ऐसा किया है । तदनुसार ही ग्रन्थकार ने भी दोनों पदों का अर्थ बताया है । यहाँ बहुव्रीहि समास करने में पूर्वपदार्थ को उत्तर पदार्थ के प्रति हेतु मान कर व्याख्या की गई हो ऐसा अभिप्राय लगता है क्योंकि सामान्याभिमुख ज्ञान से गृहीत होने पर ही वस्तु में एकजातिमत्त्व की प्राप्ति होती है, जो पिण्डित शब्द का अर्थ है । उपाध्यायजी ने भी विवक्षित एकजाति के उपराग से प्रतिपादन के लिए अभिलषित वस्तु को ही पिण्डित शब्द का अर्थ बताया है, वह तभी सम्भव हो सकता है यदि वह वस्तु सामान्याभिमुख ग्रहण से गृहीत हो । संग्रहनय का वचन ही विवक्षित एकजाति के उपराग से वस्तु का बोधक बनता है । यहाँ उपराग शब्द से सम्बन्धरूप अर्थ विवक्षित है । एक जाति सम्बद्ध अर्थ का प्रतिपादन संग्रहवचन तभी कर सकता है जब नैगमादि उपगत अर्थ जो विशेषरूप है और अशुद्धविषयरूप है उस का विनिर्मोक अर्थात् त्याग कर दे । अतः इस भाष्य गाथा के व्याख्यान से उपाध्यायजी कथित लक्षण को समर्थन प्राप्त हो जाता है ।

"संगृहीत–पिण्डितार्थम्" इस भाष्य की दूसरी व्याख्या उपाध्यायजी बताते हैं कि जिस में संगृहीत शब्द का अर्थ महासामान्य, जिस का दूसरा नाम सत्तारूप सामान्य है और "पिंडित" शब्द का अर्थ सामान्यविशेष अर्थात् गोत्वादि अवान्तर सामान्य है । इस व्याख्या के अनुसार बहुव्रीहि समास करने पर 'सामान्य सत्ता और अपर सामान्य गोत्वादि अर्थ है जिस का, ऐसे वचनवाला नय संग्रहनय है' यह लक्षण निकलता है । उपाध्यायजी का यह व्याख्या "×अहव महासामन्नं संगहियत्थपिंडियत्थमियरं ति" (२२०५) इस विशेषावश्यक भाष्य गाथा की बृहद्वृत्ति के अनुसार है । इस व्याख्या के अनुसार

---

* संगृहीत–पिण्डतार्थं संग्रहवचनं समासतो ब्रुवन्ति ।

× अथवा महासामान्यं संगृहीतं पिण्डितार्थमितर इति ।

"अर्थानां सर्वैकदेशसंग्रहणं संग्रहः" इति तत्त्वार्थभाष्यम् (अ० १–३५)। अत्र सर्वं=सामान्यम्, एकदेशश्च विशेषस्तयोः संग्रहणं सामान्यैकशेषस्वीकार इत्यर्थः।

अयं हि घटादीनां भवनानर्थान्तरत्वात्तन्मात्रत्वमेव स्वीकुरुते, घटादिविशेषविकल्पस्त्वविद्योपजनित एवेत्यभिमन्यते। 'जगदैक्ये घटपटादिभेदो न स्यादि'ति चेत्? न स्यादेव वास्तवः, रज्जौ सर्पभ्रमनिबन्धनसर्पादिवदविद्याजनितोऽनिर्वचनीयस्तु स्यादेवेत्याद्या एतन्मूलिका औपनिषदादीनां युक्तयः॥

संग्रहनय को पर सामान्य और अपर सामान्यरूप अर्थ ही मान्य है, इसलिए नैगमादि अभ्युपगत विशेष और अशुद्ध अर्थ का त्याग हो जाता है।

[तत्त्वार्थभाष्य के अनुसार संग्रहनय की व्याख्या]

(अर्थानामित्यादि) उपाध्यायजी स्वप्रदर्शित संग्रहनय के लक्षण को विशेषावश्यक भाष्य ग्रंथद्वारा समर्थित कर के अधिक प्रमाणित करने के लिए तत्त्वार्थभाष्य का उद्धरण करते हैं। तत्त्वार्थभाष्यकृत लक्षण में "सर्व" पद से सामान्य विवक्षित है, जो सत्तारूप परसामान्य पूर्व में बता चुके हैं। "एक देश" पद से विशेष विवक्षित है, ये दोनों सामान्य–विशेष नैगम अभ्युपगत अर्थ हैं, इन का एकीभावेन संग्रहण जिस अध्यवसाय से होवे, वही संग्रहनय है। सूत्र में जो संग्रहणपद है उस का अर्थ है–सामान्यैकशेष स्वीकार। सामान्य और विशेषात्मक नैगमाभ्युपगत अर्थों में यदि एक सामान्यमात्र शेष रहे तो विशेष का अस्वीकार सिद्ध हो जाता है। इस का अभिप्राय यह है कि सामान्य में ही विशेष संपुञ्जित हो जाता है, अर्थात् सामान्य के साथ एकता को प्राप्त हो जाता है, तब संग्रहनय सामान्यमात्रग्राही बनता है। उपाध्यायजी के लक्षण में भी संग्रहपद से विशेष और अशुद्धविषय का विनिर्मोक बताया गया है इसलिए सामान्यमात्रग्राहिता संग्रह में सिद्ध होती है। अतः तत्त्वार्थभाष्य से भी ग्रन्थकार प्रोक्त लक्षण को समर्थन मिल जाता है।

[संग्रहनय के अनुसार सत्ता से इतर सभी विशेष आविद्यक हैं]

(अयं हि) प्रस्तुत ग्रन्थ से ग्रन्थकार संग्रहनय में सामान्यमात्र ग्राहिता कैसे सिद्ध होती है–इस का विवेचन करते हैं। संग्रहनय घटादिविशेषों को सत्ता से अतिरिक्त नहीं मानता है, अतः सत्तास्वभाव सामान्यमात्र का स्वीकार करता है। मूल ग्रन्थ में "भवन" शब्द से सत्तारूप अर्थ विवक्षित है। भू धातु सत्ता अर्थ में प्रसिद्ध है, इसलिए भवन शब्द का सत्ता अर्थ होना स्वाभाविक है। यदि यह कहा जाय कि–'संग्रहनय यदि सामान्यमात्र स्वीकार करता है तो घटादि सभी वस्तुओं में 'यह सत् है' ऐसी प्रतीति तो होगी, परन्तु लोक में "यह घट है, यह पट है" इसतरह की विशेषावगाहिनी प्रतीति जो होती है वह न होगी क्योंकि सामान्यातिरिक्त घटपटादि रूप विशेष इस की दृष्टि में है ही नहीं। तब तो लोकप्रसिद्ध अनुभव का बाध संग्रहनय के मत में उपस्थित होगा।'– परन्तु यह कहना ठीक नहीं है क्योंकि "यह घट है, यह पट है" इत्यादि विशेषविषयक

अस्यापि चत्वारो निक्षेपा अभिमताः ।
ये त्वाहुर्नायं स्थापनामिच्छति, संग्रहप्रवणेनानेन नामनिक्षेप एव स्थापनाया

बुद्धि अविद्यारूप दोष से ही उत्पन्न होती है, इसलिए वे बुद्धियाँ भ्रमरूप है, अर्थात् "अयं घटः" इत्यादि विशेषविषयक प्रमाणबुद्धि संग्रहनय की दृष्टि से प्रमाणभूत नहीं है ।

[विशेष साध्य व्यवहारों के अभावप्रसंग का समाधान]

यदि यह आशंका उठे कि-'संग्रहनय यदि सत्तास्वभाव सामान्यमात्र को स्वीकार करता है, तो वह सत्ता एक है, उस के उपराग से ही जगत का प्रतिपादन इस मत में हो सकेगा, तब सत्तारूप जगत में एकत्व ही रहेगा । इस स्थिति में व्यवहार में उपयुक्त होनेवाले जो घटपटादि विशेष भासते हैं, वे नहीं होंगे, तब विशेषप्रयुक्त व्यवहार का भी अभाव प्रसंग इस मत में होगा ।'-इस का समाधान इसप्रकार है कि वास्तविक घट-पटादि रूप विशेष तो इस मत में नहीं है, जो घट-पटादिभेद भासित होते हैं, वे अविद्याजनित अनिर्वचनीय हैं । जिस का सत् रूप से अथवा असत् रूप से कथन सम्भवित न हो सके वह वस्तु अनिर्वचनीय कही जाती है । जैसे-रज्जु में जब सर्प का भ्रम होता है तब उस भ्रम ज्ञान में भासमान सर्प अनिर्वचनीय है क्योंकि उस सर्प को सत् नहीं कह सकते हैं । यदि उस को सत् मानेंगे तो उस का बाध न होगा । रज्जु-ज्ञान होने पर सर्प भ्रम की निवृत्ति होने के बाद उस का विषय सर्प भी बाधित होता है, सद्वस्तु का बाध तो नहीं होना चाहिए, इसलिए वह सत् नहीं कहा जा सकता है । उस भ्रमविषय सर्प को असत् भी नहीं कह सकते, क्योंकि उस की प्रतीति होती है । असत् गगन कुसुमादि की प्रतीति किसी को नहीं होती है, इसी तरह वह सर्प भी यदि असत् होगा तो उस की प्रतीति नहीं होगी । अतः वह सर्प अनिर्वचनीय माना जाता है । इसी दृष्टान्त से 'घटपटादि' विशेष भी अनिर्वचनीय सिद्ध होते हैं । घटपटादि विशेष यदि सत् माने जाएँगे तो उन का बाध न होगा और असत् माने जाएँगे तो उन की प्रतीति नहीं होगी । बाध और प्रतीति घटपटादि विशेषों में दृष्ट है, इसलिए वे सत्-असत् इन दोनों से विलक्षण है, अतएव अनिर्वचनीय और अविद्या से कल्पित हैं । संग्रहनय की दृष्टि से यह बात कही गयी है । औपनिषद् (वेदान्ति) की भी ऐसी ही मान्यता है । वे लोग एक सत् रूप ब्रह्म की सत्ता वास्तविक मानते हैं, उस से भिन्न घटपटादि जगत की सत्ता वास्तविक नहीं मानते हैं । घटपटादि भेदों को अविद्याकल्पित मानते हैं । "एकमेवाऽद्वितीयं ब्रह्म नेह नानास्ति किञ्चन" इत्यादि श्रुति को अपने मत के समर्थन के लिए प्रमाणरूप से उपस्थित करते हैं और तदनुकूल युक्तियों का भी उपयोग करते हैं, वे सभी युक्तियाँ औपनिषदों की संग्रहनय मूलक ही हैं, अर्थात् संग्रहनय की मान्यता के अनुसार अपने दर्शन का समर्थन वेदान्तिलोक करते हैं । इसलिए संग्रहनय ही वेदान्त दर्शन की प्रवृत्ति का मूल है ऐसा समझना चाहिए ।

[संग्रहनय को चार निक्षेप अभिमत]

(अस्यापि इत्यादि) जैसे नैगमनय नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव, इन चार निक्षेपों को मानता है, उसी तरह संग्रहनय को भी ये चारों निक्षेप मान्य हैं ।

उपसंग्रहात् । न च "नामं आवकहियं, ठवणा इत्तरिआ वा होज्जा आवकहिया वा होज्ज"त्ति (अनु० ११) सूत्रे एवानयोर्विशेषाभिधानात्कथमैकरूप्यमित्याशंकनीयम्, पाचकयाचकादिनाम्नामप्ययावत्कथिकत्वात्तदव्यापकत्वात् स्थूलभेदमात्रकथनम् । 'पदप्रतिकृतिभ्यां नामस्थापनयोर्भेद' इति चेत् ? कथं तर्हि गोपालदारके नामेन्द्रत्वम् ?

अथ नामेन्द्रत्वं द्विविधं 'इन्द्र'इतिपदत्वमेकम्, अपरं चेन्द्रपदसंकेतविषयत्वम्, आद्यं नाम्नि, द्वितीयं च पदार्थे इति न दोष इति चेत् ? तर्हि व्यक्त्याकृतिजातीनां पदार्थत्वेनेन्द्रस्थापनाया अपीन्द्रपदसंकेतविषयत्वात् कथं न गोपालदारकवन्नामेन्द्रत्वम् ! 'नामभावनिक्षेपसांकर्यपरिहाराय इन्द्रपदसंकेतविशेषविषयत्वं नामेन्द्रत्वं निरुच्यते' इति चेत् ? हन्त ! तर्हि सोऽयं विशेषो नामस्थापनासाधारण एव संगृह्यतामिति ।

कितने आचार्यों का कहना है कि यह संग्रहनय स्थापना निक्षेप को नहीं मानता है । क्योंकि इस को संग्रह करने की विशेष अभिरुचि रहती है, अत एव स्थापना का भी नामनिक्षेप में ही संग्रह कर लेता है ।

यहाँ शङ्का उठ सकती है कि–"नामं आवकहियं, ठवणा इत्तरिआ वा होज्जा आवकहिया वा होज्ज त्ति" [अनु० सू० ११] [नाम यावत्कथिकं, स्थापना इत्वरिका वा भवेत्, यावत्कथिका वा भवेत्] इस सूत्र में, नाम यावद्वस्तुभावी होता है, स्थापना अल्पकालीन और यावद्वस्तुभावी दोनों प्रकार की होती है ।–इस प्रकार नाम और स्थापना इन दोनों निक्षेपों में भेद होने का कथन है, तब स्थापना की नामनिक्षेप के साथ एकरूपता कैसे होगी ? भावार्थ यह है कि नाम यावत्कथिक यानी वस्तुसत्ता की कथा रहे तब तक रहने वाला माना जाता है । स्वाश्रय द्रव्य की सत्ता के समय में नाम की निवृत्ति नहीं होती । जैसे मेरु, जम्बूद्वीप, कलिंग, मगध आदि द्रव्यों की सत्ता जब तक है, तब तक मेरु आदि नाम भी विद्यमान रहते हैं । उन की निवृत्ति नहीं होती । इसलिए मेरु आदि नाम यावत्कथिक हैं अर्थात् यावद्वस्तुस्थायि हैं । इन्द्रादि की प्रतिकृतिरूप स्थापना जो काष्ठ मृत्तिका वगैरह से निर्मित हो अथवा चित्ररूप हो, वह उस में स्थापनीय इन्द्रादि के रहने पर भी नष्ट हो जाती है । इसीलिए वह स्थापना इत्वरिका है अर्थात् विनाशगमन शील है, इसलिए अल्पकालिक है । कोई नट प्रयोजनवशात् इन्द्र बनता है और कुछ काल के बाद अन्य राजा आदि का रूप धारण करता है, वह भी इन्द्र और राजा की स्थापना ही है, परन्तु इन्द्रादिरूप स्थापना आश्रय द्रव्य के रहने पर भी नष्ट हो जाती है । इसीलिए वह स्थापना भी इत्वरिका है । शाश्वत प्रतिमादिरूप स्थापना यावत्कथिका कही जाती है–क्योंकि अर्हत् आदि रूप से वह सर्वदा रहती है । इसलिए नाम और स्थापना इन दोनों निक्षेपों में एक तो यावत्कथिकमात्र है और दूसरा अल्पकालस्थायि और यावत्कथिक दोनों है । यह भेद स्पष्ट होने पर भी स्थापना निक्षेप का नाम निक्षेप से ही संग्रह करना कैसे उचित होगा ?"–

इस का समाधान यह दिया जाता है कि उक्त अनुयोगद्वार सूत्र में नाम और स्थापना इन दोनों का जो भेद बताया गया है वह स्थूलभेद है। सूक्ष्म विचार करने पर नामनिक्षेप में कहीं कहीं यावत्कथिकत्व नहीं भी होता, और अल्पकालस्थायित्व ही देखने में आता है। जैसे, कोई व्यक्ति जब तक पाकक्रिया करता है तब तक ही वह पाचक इस नाम से व्यवहृत होता है। वही व्यक्ति जब उपदेश करने का काम स्वीकारता है तब उस का पाचक शब्द से व्यवहार न होकर उपदेशक शब्द से व्यवहार होने लगता है, नाम का आश्रयभूत उस पुरुष के रहने पर भी पाचक नाम की निवृत्ति हो जाती है। इसीतरह कोई पुरुष पाचनक्रिया करता है तभी तक पाचक शब्द से लोग उस का व्यवहार करते हैं, वही पुरुष भाग्यवशात् पूर्ण धनवान हो जाने पर जब दान-क्रिया करने लग जाता है, तब उस पुरुष का लोग दाता, दानवीर आदि शब्दों से व्यवहार करने लगते हैं। उस पुरुषरूप नामाश्रय के रहने पर भी उस का याचक यह नाम निवृत्त हो जाता है। अतः नाम में सर्वत्र यावत्कथिकत्व नहीं रहता, इसलिए यावत्कथिकत्व सभी नामों में व्यापक नहीं बन सकता। इस रीति से यावत्कथिकत्व और इत्वरत्व नाम और स्थापना इन दोनों निक्षेपों में समानरूप से रहते हैं। अतः नाम-निक्षेप में स्थापनानिक्षेप का समावेश करके स्थापना का स्वीकार जो संग्रहनय नहीं करता है वह संगत ही है। सूत्र में जो इन दोनों निक्षेपों का भेद प्रदर्शन है उस का अभिप्राय यह है कि अधिकांश नाम यावत्कथिक ही मिलते हैं, इसलिए नाम में यावत्कथिकत्वमात्र का उल्लेख किया है।

यदि यह कहा जाय कि-'नाम अक्षरसन्निवेशात्मक पद स्वरूप है और स्थापना तो प्रतिकृतिरूप है अर्थात् क्रियाविशेष निर्मित प्रतिमा या चित्ररूप है, यही इन दोनों में भेद है, अतः नाम निक्षेप में स्थापना का समावेश नहीं हो सकता।'-परन्तु यह कहना संगत नहीं है क्योंकि किसी गोपालपुत्र का इन्द्र ऐसा नाम रख देने पर वह भी नामेन्द्र कहा जाता है। अक्षरसन्निवेशात्मक पदस्वरूप ही यदि नाम हो तो गोपालपुत्र में नामेन्द्रत्व नहीं आयेगा, क्योंकि वह गोपालपुत्र द्रव्यरूप है, अक्षरसन्निवेशात्मक पद स्वरूप नहीं है।

यदि यह कहा जाय कि-'नामेन्द्र दो प्रकार से होता है, एक तो पदस्वरूप और दूसरा इन्द्रपद संकेतविषयात्मक, उस में प्रथम पदस्वरूप नामेन्द्रत्व तो 'इन्द्र' इस नाम में ही है, गोपालपुत्र रूप द्रव्य में नहीं है, तो भी इन्द्र पद संकेत विषयत्वरूप नामेन्द्रत्व उस में अवश्य है क्योंकि उस के पिताने ऐसा संकेत किया है कि मेरे पुत्र का इन्द्रपद से व्यवहार किया जाय। तब तो गोपालपुत्र में नामेन्द्रत्व की अनुपपत्ति नहीं होगी'-परन्तु यह कहना भी संगत नहीं है क्योंकि 'व्यक्त्याकृतिजातयः पदार्थः' इस गौतमसूत्र के अनुसार व्यक्ति, आकृति और जाति ये तीनों, पदार्थ माने गए हैं। इसलिए काष्ठादिनिर्मित आकृतिरूप इन्द्रस्थापना में भी इन्द्रपद संकेत विषयत्वरूप नामेन्द्रत्व क्यों नहीं रहेगा? अतः स्थापना का नामनिक्षेप में अन्तर्भाव करना ठीक ही है।

यदि यह कहा जाय कि-"इन्द्रपद संकेतविशेषविषयत्व को ही नामेन्द्रत्व मानेंगे, अन्यथा इन्द्रपद संकेतविषयत्वरूप ही नामेन्द्रत्व यदि मानें, तो इन्दन आदि अर्थक्रिया-

ते न विचारचञ्चुर[? चतुर]धियो देवानाम्प्रियाः । उपचाररूपसङ्केतविशेषग्रहे द्रव्यनिक्षेपस्याप्यनतिरेकप्रसङ्गात्, यादृच्छिकविशेषोपग्रहस्य चाप्रामाणिकत्वात्, पित्रादिकृतसंकेतविशेषस्यैव ग्रहणान्नामस्थापनयोरैक्याऽयोगात् । एवं च बहुषु नामादिषु प्रातिस्विकैकरूपाभिसन्धिरेव सङ्ग्रहव्यापार इति प्रतिपत्तव्यम् । यदृच्छयैव सङ्ग्रहस्वीकारे तु नाम्नोऽपि भावकारणतया कुतो न द्रव्यान्तर्भाव इति वाच्यम् ! 'द्रव्यं परिणामितया भावसम्बद्धं, नाम तु वाच्यवाचकभावेने'त्यस्ति विशेष इति चेत्? तर्हि स्थापनाया अपि तुल्यपरिणामतया भावसम्बद्धत्वात् किं न नाम्नो विशेष इति पर्यालोचनीयम् ।

कारी जो भावेन्द्र है, उस में नामेन्द्रत्व की आपत्ति आएगी । इन्द्रपदसंकेतविशेषविषयत्वरूप नामेन्द्रत्व मानने पर भावेन्द्र में नामेन्द्रत्व की आपत्ति का वारण हो जाता है, क्योंकि इन्द्रपद का भिन्न-भिन्न संकेत स्वीकार करेंगे, इसलिए जैसा इन्द्रपदसंकेतविषयत्व गोपालदारकरूप नामेन्द्र में रहता है, तादृश संकेतविषयत्व भावेन्द्र में नहीं रहता है, किन्तु भावेन्द्र में अन्य प्रकार का संकेतविषयत्व रहता है, अतः उक्त आपत्ति का वारण हो जाता है । इसीतरह इन्द्रप्रतिकृतिरूप स्थापना में भी अन्य प्रकार का ही संकेतविषयत्व रहता है । गोपालदारक में जैसा संकेतविषयत्व रहता है, वैसा संकेतविषयत्व स्थापना में नहीं रहता । अतः स्थापना का अन्तर्भाव नामनिक्षेप में नहीं हो सकता है ।"-परन्तु ऐसा कहना भी ठीक नहीं है क्योंकि संकेत में ऐसे विशेष को मानेंगे, जिस से नाम, स्थापना इन दोनों का संग्रह हो जायगा और भावेन्द्र की व्यावृत्ति भी हो जायगी । अतः संग्रहनय स्थापना को नामनिक्षेप से अतिरिक्त नहीं मानता किन्तु नाम, द्रव्य, भाव इन तीन निक्षेप को ही मानता है, यही पक्ष संगत है । यह संग्रह में निक्षेपत्रयवादि आचार्यों का अभिप्राय है ।

[संग्रह में निक्षेपत्रय स्वीकार वादी मत का निराकरण]

(ते न विचार०) 'संग्रहनय स्थापना को नहीं मानता है'-इस मत का निराकरण करते हुए प्रस्तुतग्रन्थकर्त्ता का यह कथन है कि 'संग्रहनय में निक्षेपत्रय का ही स्वीकार है' इस मत का समर्थन करनेवालों की बुद्धि सूक्ष्म विचार करने में शक्तिशाली नहीं है । उन लोगों ने "इन्द्रपदसंकेतविशेषविषयत्वम्" इस नामेन्द्रत्व के निर्वचन में ऐसा विशेष माना है जिस से नाम, स्थापना इन दोनों निक्षेपों का संग्रह हो जाता है, परन्तु नाम, स्थापना साधारण उस विशेष का क्या स्वरूप है, इस का स्पष्टीकरण वे नहीं कर पाए हैं । इसलिए उन से यह पूछना चाहिए कि जिस से स्थापना का भी समावेश नामनिक्षेप में हो जाता है उस संकेतविशेष का क्या स्वरूप है ? यदि वे लोग ऐसा कहें कि वह संकेतविशेष उपचाररूप ही है, तो यद्यपि भावेन्द्र में इन्द्रपद का मुख्य संकेत होने से भावेन्द्र की व्यावृत्ति तो हो सकती है, क्योंकि भावेन्द्र में इन्द्रपद का उपचार नहीं होता है । तथापि गोपालपुत्र रूप नामेन्द्र और इन्द्रप्रतिकृतिरूप स्थापनेन्द्र में जैसे उपचार

से ही इन्द्रपद का प्रयोग होता है उसीतरह जो द्रव्य पूर्व में इन्द्रपर्याय का अनुभव कर चुका है और भावि इन्द्र पर्याय का कारण है ऐसे द्रव्येन्द्र में भी इन्द्रपद के संकेत का उपचार करके ही इन्द्र पद का प्रयोग होता है। इसलिए द्रव्यनिक्षेप का भी नामनिक्षेप में समावेश हो जाता है। अतः स्थापनानिक्षेप के जैसे-द्रव्यनिक्षेप भी नामनिक्षेप से अतिरिक्त सिद्ध नहीं होगा। इस स्थिति में संग्रहनय में निक्षेपद्वय का ही स्वीकार रह जायगा। निक्षेपत्रय का स्वाकार सिद्ध नहीं होगा, तो आप के अभिलषित की सिद्धि नहीं होगी। यदि वे लोग ऐसा कहें कि-'हम ऐसे संकेतविशेष को मानेंगे जिस से द्रव्यनिक्षेप की व्यावृत्ति हो जायगी और स्थापना का संग्रह हो जायगा, अतः हमारे इष्ट की सिद्धि में बाधा न होगी'-परन्तु उन लोगों का ऐसा प्रमाणहीन स्वेच्छाकल्पित-विशेष को मानना युक्तिसङ्गत न होगा। अप्रामाणिक वस्तु का स्वीकार करने पर उन के विचारकत्व को हानि पहुँचेगी। ऐसे यादृच्छिक विशेष को मानने में क्या प्रमाण है ? ऐसा पूछने पर वे कुछ भी प्रमाण उपस्थित नहीं कर पाते हैं, अतः ऐसा मानना निर्मूल है।

यदि वे लोग कहें कि-'पिता आदि से किया हुआ संकेत ही संकेतविशेषपद से हम विवक्षित करते हैं, अतः भावेन्द्र और द्रव्येन्द्र की व्यावृत्ति हो जायगी क्योंकि इन्द्र-नादि ऐश्वर्यविशेष के सम्बन्ध से ही भावेन्द्र इन्द्रपद संकेत का विषय होता है, पिता आदि का संकेत वहाँ नहीं है। द्रव्येन्द्र में भी पिता आदि का संकेत नहीं है'-परन्तु ऐसा मानने पर स्थापनेन्द्र में भी पिता आदि का संकेत न होने के कारण उस की भी व्यावृत्ति विशेषपद से हो जायगी, तब नाम और स्थापना में ऐक्य नहीं होगा। इस स्थिति में संग्रहनय भी निक्षेप चतुष्टय का स्वीकर्त्ता ही सिद्ध होगा। आप का अभिमत निक्षेपत्रय स्वीकर्तृत्व संग्रह में सिद्ध नहीं होगा। यदि यह आशंका उठाई जाय कि-'इस रीति से निक्षेपचतुष्टय का स्वीकार संग्रहनय में सिद्ध हो जाने पर भी घटता नहीं है, कारण, नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव ये एक-एक ही नहीं है किन्तु बहुत है, नाम भी अनन्त हैं, स्थापना भी अनन्त हैं, द्रव्य भी अनन्त हैं, भावेन्द्र भी बहुत हैं। इस रीति से अनन्त निक्षेप स्वीकर्तृत्व का प्रसंग द्रव्यनय में आता है, तब निक्षेपचतुष्टय स्वीकर्तृत्व भी कैसे घटेगा ?'-तो इस का समाधान यह है कि नामादि बहुत होने पर भी सभी नाम में नामत्वरूप से ऐक्य का अनुसन्धानरूप संग्रह का व्यापार रहता है, इसलिए नाम-निक्षेप में एकत्व आ जाता है। एवं स्थापना, द्रव्य, भाव इन में भी बहुत्व भले रहे तो भी स्थापनात्वेन सभी स्थापनेन्द्रों में, द्रव्यत्वेन सभी द्रव्येन्द्रों में, भावेन्द्रत्वेन सभी भावेन्द्रों में ऐक्याभिसन्धिरूप संग्रह के व्यापार से एकत्व ही सिद्ध हो जाता है, इसतरह निक्षेप चतुष्टय स्वीकर्तृत्व सुचारुरूप से घटता है, ऐसा समझना चाहिए।

[नाम भी कहीं भाव का कारण होने से द्रव्य में अन्तर्भाव की समस्या]

अपनी इच्छानुसार इन्द्रादिपद में संकेतविशेष की कल्पना करके स्थापना का नाम-निक्षेप में अन्तर्भाव करके संग्रहनय में निक्षेपत्रय स्वीकर्तृत्व का दुराग्रह करने में एक दूसरी भी आपत्ति आती है कि नाम भी भावनाविशेष से अनुसन्धान करने पर कहीं

कहीं भाव का कारण बन जाता है । जैसे कि भृङ्गकीटन्यायस्थल में कीट अनुसन्धान-विशेष से भृङ्ग बन जाता है ! उसीतरह भगवन् नाम के अनुसन्धान विशेष से व्यक्ति-विशेष के असाधारण स्वरूप का आविर्भाव हो जाता है । वैसे स्थल में भगवत्स्वरूपात्मक भाव के प्रति भावनाविशेष से अनुसंहित भगवन्नाम ही कारण बनता है । भाव के प्रति कारण को द्रव्य माना जाता है, तो भावकारणतया नाम का भी द्रव्य में अन्तर्भाव क्यों न होगा ? इस प्रश्न का कोई समाधान है ? यदि द्रव्य में नाम का अन्तर्भाव मान लिया जाय तो, संग्रहनय में निक्षेपत्रय का स्वीकार असिद्ध हो जायगा क्योंकि स्थापना का अन्तर्भाव आपने स्वेच्छाकल्पित संकेतविशेष से नाम में किया ही है और उक्त रीति से नाम का द्रव्य में अन्तर्भाव हो जाने पर द्रव्य और भाव ये दो निक्षेप ही अवशिष्ट रह जायेंगे ।

यदि यह कहा जाय कि-"द्रव्य का भावरूपेण परिणाम होता है, इसलिए द्रव्य और भाव में परिणामि-परिणामभाव सम्बन्ध रहता है, अतः द्रव्य स्वनिष्ठपरिणामिता-निरूपित परिणामत्व सम्बन्ध से अथवा स्वनिष्ठपरिणामितानिरूपकत्व सम्बन्ध से भाव से सम्बद्ध रहता है । इसीलिए भाव और द्रव्य ये दोनों निक्षेप भिन्न भिन्न माने जाते हैं । उसी-तरह नाम भाव का वाचक होता है और भाव नाम का वाच्य होता है इसलिए इन दोनों में वाच्यवाचकभाव माना जाता है । अतः नाम स्वनिष्ठवाचकतानिरूपित वाच्यता सम्बन्ध से अथवा स्वनिष्ठवाचकतानिरूपकत्व सम्बन्ध से भाव के साथ सम्बद्ध रहता है । जैसे=परिणामि-परिणामभाव सम्बन्ध में भेदघटितत्व होने के कारण द्रव्य और भाव में भेद रहता है, तथा द्रव्य में भाव का अन्तर्भाव नहीं होता, उसी तरह वाच्य-वाचक भाव सम्बन्ध भी भेदघटित होता है अतः नाम और भाव में भेद भी रहता है । नाम और द्रव्य का ऐक्य तो तब होता यदि जिस सम्बन्ध से द्रव्यभाव में सम्बद्ध होता है उसी सम्बन्ध से नाम भी भाव में सम्बद्ध होता, परन्तु ऐसा तो है नहीं । द्रव्य को भाव में सम्बद्ध होने के लिए स्वनिष्ठपरिणामितानिरूपकत्व सम्बन्ध की अपेक्षा रहती है और नाम को भाव में सम्बद्ध होने के लिए स्वनिष्ठवाचकतानिरूपकत्व सम्बन्ध की अपेक्षा रहती है, अतः नाम का द्रव्य में अन्तर्भाव नहीं हो सकता है"-परन्तु यह कहना भी ठीक नहीं है क्योंकि जिस सम्बन्ध से नाम भाव के साथ सम्बद्ध होता है उस सम्बन्ध से स्थापना भी भाव के साथ सम्बद्ध नहीं होती किन्तु तुल्य परिणामत्व सम्बन्ध से ही स्थापना भाव के साथ सम्बद्ध होती है क्योंकि इन्दनादिरूप भावेन्द्र स्वकारणीभूत द्रव्य का जैसा परिणाम है वैसा ही काष्ठादिनिर्मितरूप स्थापना भी स्वकारणीभूत काष्ठादि का परिणामविशेष है, इन दोनों परिणामों में आकार का साम्य रहता है, इसलिए भाव में सम्बद्ध होने के लिए स्थापना को भी तुल्यपरिणामत्व सम्बन्धान्तर की ही अपेक्षा रहती है । अतः सम्बन्धभेद से सम्बद्ध होने के कारण यदि नाम का द्रव्य में अन्तर्भाव न माना जाय तो, स्थापना का भी नाम में अन्तर्भाव मानना युक्त नहीं कहा जा सकता है क्योंकि स्थापना भी तो सम्बन्धान्तर से भाव में सम्बद्ध होती है, यह पूरा विचार करना चाहिए ।

स्यादेतत्, षण्णां प्रदेशस्वीकर्तुर्नैगमात् पञ्चानां तत्स्वीकार इवात्रापि चतुर्निक्षेप-स्वीकर्तुस्ततस्तत्त्रयस्वीकारेणैव संग्रहस्य विशेषो युक्त इति । मैवम्, देशप्रदेशवत् स्थापनाया उपचरितविभागाभावेन संग्रहविशेषादिति दिक् ॥२॥

लोकव्यवहारौपयिकोऽध्यवसायविशेषो व्यवहारः । *वच्चइ विणिच्छियत्थं, ववहारो सव्वदव्वेसु ॥त्ति॥ [अनु० १५२] सूत्रम् । विनिश्चितार्थप्राप्तिश्चास्य सामान्यानभ्युपगमे सति विशेषाभ्युपगमात् । अत एव विशेषेणावह्रियते=निराक्रियते सामान्यमनेनेति निरुक्त्युपपत्तिः । जलाहरणाद्युपयोगिनो घटादिविशेषानेवायमङ्गी-

---

यदि यह कहा जाय कि-"प्रदेश के विषय में नैगम और संग्रह में यही विशेष माना गया है कि नैगमनय धर्म, अधर्म, आकाश, जीव, स्कन्ध और इन के देश इन छः वस्तु के प्रदेश मानता है और संग्रहनय धर्म, अधर्म, आकाश, जीव और स्कन्ध इन पाँच वस्तुओं का ही प्रदेश मानता है, इसलिए षड्वस्तु सम्बन्धि प्रदेश स्वीकर्तृत्व नैगम का धर्म है, पञ्चवस्तुसम्बन्धिप्रदेश स्वीकर्तृत्व संग्रह का धर्म है, यही नैगम संग्रह का भेद है । वैसे ही निक्षेप के विषय में भी निक्षेपचतुष्टय स्वीकर्तृत्व नैगम में रहता है और निक्षेपत्रय स्वीकर्तृत्व संग्रह में रहता है, यही इन दोनों में विशेष है, ऐसा मानना चाहिए"-परन्तु यह कहना भी ठीक नहीं है क्योंकि नैगम उपचार को मानता है, इसलिए देश और प्रदेश में भेद की कल्पना करके देशों का भी प्रदेश मान लेता है । संग्रहनय उपचार को नहीं मानता है इसलिए देश और प्रदेश इन दोनों में उस के मत से भेद नहीं है । अतः देश का प्रदेश वह नहीं मानता है, इसीलिए धर्मादि पांच का ही प्रदेश संग्रहनय मानता है । अतः प्रदेश के विषय में इस रीति से नैगम और संग्रह का भेद सम्भवित है । स्थापना और नाम में तो उपचरित और मुख्य ऐसा विभाग नैगम ने नहीं माना है, इसलिए स्थापना को स्वीकार करने में संग्रह को बाधा नहीं है । यदि स्थापना में उपचार होता, तो संग्रह उस को नहीं मानता, यह बात अलग है । निष्कर्ष, संग्रह स्थापना का भी स्वीकार अवश्य करेगा । अतः निक्षेपचतुष्टय स्वीकर्तृत्व और निक्षेपत्रय स्वीकर्तृत्व के भेद से नैगम की अपेक्षया संग्रह में विशेष मानना सम्भवित नहीं हो सकता है । तब निक्षेपचतुष्टय स्वीकर्तृत्व इन दोनों नयों में समान होने पर भी नैगम की अपेक्षया उपचारास्वीकर्तृत्व यह विशेष संग्रह में रहेगा । [संग्रहनय समाप्त]

[लोकव्यवहार साधक अध्यवसाय—व्यवहार नय]

(लोकव्यवहार) लोक में जो जलाहरणादि व्यवहार होता है, उस में औपयिक यानी उपायभूत जो अभिप्रायविशेष वह व्यवहारनय है । इस लक्षण में व्यवहारपद व्यवहार-नय का बोध करता हुआ व्यवहारनय में लक्ष्यत्व का निर्देश करता है और अवशिष्ट दो पद व्यवहारनय के लक्षण बोधक हैं । जिस अध्यवसाय विशेष से जलाहरणादि जो लौकिकव्यवहार सम्पन्न होते हैं वही अभिप्रायविशेष व्यवहारनय का लक्षण फलित होता

---

* व्रजति विनिश्चितार्थं व्यवहारः सर्वद्रव्येषु ।

करोति, न तु सामान्यम्, अर्थक्रियाऽहेतोस्तस्य शशशृङ्गप्रायत्वात्। "घटोऽयं द्रव्यमि'-त्यादौ भासमानं घटत्वद्रव्यत्वादिकं कथमपह्नोतुं शक्यमि"ति चेत् ? न कथञ्चित्, अन्यापोहरूपं तत्, न त्वतिरिक्तमित्येव परमुच्यते, अखण्डाभावनिवेशाच्च नान्योन्याश्रयः। यदि चैवमप्यभावसामान्याभ्युपगमापत्तिः, तदा तु सर्वत्र शब्दानुगमादेवानुगतव्यवहारः, कारणत्वव्याप्त्यादौ परेणापीत्थमेवाभ्युपगमादित्यादिकं प्रपञ्चितमन्यत्र।

है। घटपटादिरूप विशेषों से ही लौकिक व्यवहार होते हैं, इसलिए विशेषविषयक अभिप्राय ही व्यवहार का कारण बनता है। घटत्वादि सामान्यों से जलाहरणादि रूप लौकिकव्यवहार सम्भवित नहीं हैं, इसलिए सामान्यविषयक अभिप्राय व्यवहारनय का लक्षण नहीं बनता, किन्तु विशेषविषयक अभिप्राय ही व्यवहारनय का लक्षण बनता है। इस लक्षण को प्रमाणित करने के लिए विशे० निर्युक्ति गाथा-२१८३ में उल्लिखित "वच्चइ विणि०" इत्यादि अनुयोग द्वार सूत्र का उद्धरण अपने ग्रन्थ में करते हैं।

"लोको व्यवहारपरो विशेषतो यस्मात्तेन व्यवहारः", इसतरह व्यवहारपद की व्याख्या बृहद्वृत्ति में दी गई है। इस का अर्थ यह होता है कि जिस नय के अनुसार लोग विशेषरूप से व्यवहारपरायण होता है, वह व्यवहारनय कहा जाता है। यह व्यवहारपरायणता लोग में विनिश्चित अर्थ की प्राप्ति के विना सम्भवित नहीं हो सकती है, इसलिए सूत्रकार ने यह बताया कि सभी द्रव्यों में व्यवहारनय विनिश्चित अर्थ को प्राप्त करता है। विनिश्चित अर्थ की प्राप्ति का मतलब यह है कि व्यवहारनय विशेषों का ही व्यवस्थापन करता है, उस के बाद लोकव्यवहार की प्रवृत्ति होती है। यह नय सामान्य को स्वीकार न कर के विशेष का स्वीकार करता है, यही विनिश्चितार्थप्राप्ति है। सूत्र का ऐसा अर्थ करने से व्यवहारनय में लौकिक व्यवहार कारणता सिद्ध होने से ग्रन्थकार कृत लक्षण को समर्थन मिलता है। यह नय सामान्य का अभ्युपगम नहीं करता है, इसीलिए "विशेषेण अवह्रियते=निराक्रियते सामान्यमनेन" इसप्रकार का बृहद्वृत्ति में दिया हुआ व्यवहार पद का निर्वचन भी सङ्गत होता है, क्योंकि यह नय सामान्य का विशेषरूप से निराकरण करता है। जलादि आहरण में उपयोगी घटरूप विशेषों को ही यह नय मानता है, सामान्य को नहीं मानता है। क्योंकि घटत्व-पटत्वादि सामान्य जलाहरणादिरूप अर्थक्रिया में हेतु नहीं बनते हैं, इसलिए घटत्वादि सामान्य, व्यवहार की दृष्टि से शशशृङ्गतुल्य हैं, अर्थात् असत् हैं।

[व्यवहार नय में सामान्य अन्यापोह रूप]

यदि कहें कि "यह घट है-यह द्रव्य है" इत्यादि प्रतीतियों में घटत्व द्रव्यत्वादि सामान्य भासमान होते हैं इसलिए सामान्य का अपलाप कैसे हो सकता है ? अनुभवसिद्ध वस्तु का अपलाप कोई भी विचारक व्यक्ति नहीं करता है, यदि अनुभवसिद्ध वस्तु का भी अपलाप करेंगे तो सामान्य के जैसे विशेष भी असत् बन जाएँगे। तब तो सर्व शून्यवादी माध्यमिक मत में स्याद्वादी का भी प्रवेश हो जायगा, इस से सिद्धान्त हानि का प्रसङ्ग

हो जायगा । अतः "यह घट है, यह द्रव्य है" इत्यादि प्रतीतिसिद्ध घटत्व-द्रव्यत्वादि सामान्य को भी मानना चाहिए ।"-तो यह सङ्गत नहीं है । कारण, विधिरूप सामान्य को ही हम नहीं मानते हैं । अन्यापोहरूप यानी इतरव्यावृत्तिरूप सामान्य को, तो हम मानते ही हैं, सामान्य का सर्वथा अपलाप हम नहीं करते हैं । घटेतरव्यावृत्तिरूप घटत्व से ही "यह घट है" इत्यादि अनुगत प्रतीति बन जायगी । इसीतरह द्रव्येतरव्यावृत्तिरूप द्रव्यत्व को मानकर "यह द्रव्य है, यह द्रव्य है" यह प्रतीति भी बन जायगी, अतः अपोह से अतिरिक्त विधिरूप सामान्य नहीं है, ऐसा मानने में, न तो शून्यवादी के मत में प्रवेश का प्रसङ्ग है और न सिद्धान्तभङ्ग का प्रसङ्ग है, क्योंकि हम विशेषों का स्वीकार करते हैं । इसलिए शून्यवादी के मत में जैसे लोकव्यवहार के उच्छेद का प्रसङ्ग होता है वैसे व्यवहारनय की दृष्टि में नहीं होता है । व्यवहारनय के मत में लोकव्यवहारोपयोगी विशेष रूप घटादि मान्य हैं ।

[अन्यापोहरूप सामान्य की ज्ञप्ति मे अन्योन्याश्रय दोष ?]

यदि यह तर्क ऊठाया जाय कि-"घटत्व, द्रव्यत्वादि को विधिरूप न मानकर अन्यापोहरूप ही व्यवहारनय मानेगा तो अन्योन्याश्रय दोष का प्रसंग आयेगा । जहाँ दो पदार्थों में परस्पर की उत्पत्ति में परस्पर की अपेक्षा होती है अथवा परस्पर के ज्ञान में परस्पर के ज्ञान की अपेक्षा होती है वहाँ अन्योन्याश्रय दोष होता है । घटत्व को यदि घटान्यापोहरूप मानेंगे तो, अपोह शब्द का भेद अर्थ होने के कारण घटत्व घटान्यभेदरूप पडेगा, घटान्य शब्द का अर्थ घटान्यत्व विशिष्ट पटादि होता है और पटादि का अपोह घट में पटाद्यन्यत्वरूप होगा । अपोह, अन्यत्व, भेद, व्यावृत्ति इन चारों शब्दों का अर्थ एक ही होता है । घट में घटान्यत्वरूप घटत्व का ज्ञान करना होगा, तब पटादिनिष्ठ घटान्यत्व के ज्ञान की अपेक्षा रहेगी तभी घट में पटान्यत्व का ज्ञान हो सकेगा, और पटादिनिष्ठ घटान्यत्व का ज्ञान करना होगा तो घट में जो पटान्यत्व है, उस के ज्ञान की अपेक्षा होगी । इस तरह घटगत पटान्यत्व के ग्रह की अपेक्षा होने से ज्ञप्ति में अन्योन्याश्रय दोष का प्रसंग उपस्थित होता है अतः अन्योपोहरूप घटत्वादि को मानना संगत नहीं हो सकता है ।"-तो इस तर्क का समाधान यह है,

समाधानः-घट में घटान्यापोहरूप घटत्व को स्वीकार करने पर अन्योन्याश्रय दोष का प्रसंग तभी हो सकता है, यदि घटान्यान्यत्वरूप घटान्यापोह को सखण्ड अभावरूप माना जाय । सखण्ड अभाव मानने पर एक खण्ड 'घटान्य' होगा, दूसरा खण्ड 'तदन्यत्व' होगा, इसलिए घटभेद ग्रह में पटभेदग्रह की और पटभेदग्रह में घटभेदग्रह की अपेक्षा होने से अन्योन्याश्रय दोष उपस्थित होने को अवकाश था । परन्तु व्यवहारनय घटान्यापोह को सखण्ड अभावरूप नहीं मानता किन्तु अखण्ड अभावरूप मानता है, अर्थात् घटगत घटत्व जो घटान्यान्यत्वरूप है, वह अखण्डभेदरूप है, ऐसा मानता है । अखण्ड घटान्यापोह के ज्ञान में पटान्यत्व ज्ञान की अपेक्षा नहीं रहती है क्योंकि अपोह में घटभेद और पटभेद इन दोनों का खण्डरूप से प्रवेश नहीं है, अतः घटान्यापोह का ज्ञान घटभेद ज्ञान के बिना भी हो जायगा । दो वस्तु रहने पर ही परस्पर में सापेक्षता की सम्भावना

रहती है। घटान्यान्यत्वरूप घटान्यापोह एक अभावरूप ही है, इसलिए अन्योन्याश्रय दोष को यहाँ अवसर हा नहीं है। यदि यह कहा जाय कि-"अखण्डाभावरूप घटान्यापोह होवे तो भी अभावात्मक सामान्य का स्वीकार व्यवहारनय में सिद्ध हो ही जाता है, तब 'व्यवहार की दृष्टि से सामान्य नहीं है', यह कहना कैसे संगत होगा ?"-इस का समाधान यह है कि अखण्डाभावरूप सामान्य भी व्यवहार के मत से मान्य नहीं है, इसलिए सामान्याभ्युपगम की आपत्ति नहीं आ सकती। तब सामान्य के अस्वीकार पक्ष में "यह घट है, यह घट है" इत्यादि अनुगतव्यवहार व्यवहारनय के मत से कैसे होगा ? इस प्रश्न का यह उत्तर है कि "अयं घटः, अयं घटः, इदं द्रव्यम्, इदं द्रव्यम्" इत्यादि व्यवहारों में घट, द्रव्य आदि शब्दों का अनुगम तो अवश्य रहता है,-वह घट-द्रव्यादि शब्दों के सम्पर्क के बिना नहीं हो सकता है, इसलिए अनुगतव्यवहार का नियामक शब्दानुगम ही हो जायगा, अतः सामान्य को मानने की आवश्यकता नहीं रहेगी।

शब्दानुगम से अनुगत व्यवहार को नैयायिकादि अन्यवादी भी मानते हैं, क्योंकि कारणता-व्याप्ति आदि सकल कारणों में या सकल व्याप्तियों में अनुगत कोई एक धर्म इन के मत में भी नहीं है, तो भी घटकारणीभूत दण्ड-चक्र, चीवर, कुलालादि में 'कारणं कारणं' ऐसा व्यवहार होता है, उस अनुगतव्यवहार का नियामक दण्ड-चक्रादिगत कारणता नहीं हो सकती, क्योंकि कार्यनियतपूर्ववृत्तिरूप कारणता स्वरूपसम्बन्धात्मक होने के कारण दण्ड-चक्रादिरूप कारण भेद से भिन्न भिन्न है। 'कारणतावच्छेदक धर्म के द्वारा "कारणं, कारणम्" यह अनुगत व्यवहार होता है,' यह भी कहा जा सकता नहीं है क्योंकि दण्ड-चक्रादि सकल घट कारणों में घटजनकतावच्छेदक कोई एक अनुगत धर्म नहीं रहता। इसलिए "कारणं, कारणम्" इस अनुगतव्यवहार में नियामक कारणशब्द का अनुगम ही हो सकता है, क्योंकि उक्त अनुगतव्यवहार में यदि कारण शब्द का अनुप्रवेश न हो तो वह अनुगत व्यवहार नहीं बन सकता है। एवम्, धूम में जो अग्नि की व्याप्ति है वह साध्यसामानाधिकरण्यरूप है, साध्यसामानाधिकरण्य शब्द का अर्थ साध्याधिकरण वृत्तित्व होता है, वह वृत्तित्व साध्याधिकरण के भेद से व्याप्यत्वेन अभिमत तत्-तत् धूमव्यक्ति में भिन्न-भिन्न है, अतः सकल धूमव्यक्तियों में व्याप्तिनामक अनुगमक कोई एकधर्म नहीं है। तथापि धूम अग्नि का व्याप्य है ऐसा अनुगत व्यवहार होता है। वह व्यवहार किसी को अनुगमक माने बिना संभवित नहीं है, इसलिए व्याप्यशब्द या व्याप्ति शब्द के अनुगम से ही उस अनुगत व्यवहार का उपपादन हो सकता है। इसतरह माने बिना नैयायिकों को भी कारणता और व्याप्ति के विषय में अनुगतव्यवहार नहीं हो सकता है, अतः व्यवहारनय भी सामान्य को माने बिना भी "अयं घटः, अयं घटः" अनुगतव्यवहार का उत्पादन कर लेगा तो इस की दृष्टि में सामान्य का अनभ्युपगम होने पर भी कोई क्षति नहीं है।

मूल ग्रन्थ में "व्याप्त्यादौ" ऐसा पाठ है, वहाँ आदि पद से कार्यता, पक्षता, प्रतियोगिता, अनुयोगिता, आधेयता, अधिकरणता ये सभी स्वरूपसम्बन्धात्मक धर्म ग्राह्य हैं। ये सभी धर्म स्वरूपसम्बन्धात्मक होने के कारण प्रत्येक व्यक्ति में भिन्न भिन्न हैं इसलिए अनुगतव्यवहार के नियामक नहीं बन सकते हैं, तो भी 'इदं कार्यं, इदं अनुयोगि, इदं

"लौकिकसम उपचारप्रायो विस्तृतार्थो व्यवहारः" इति तत्त्वार्थभाष्यम् । विशेषप्रतिपादनपरमेतत् । यथा हि लोको निश्चयतः पञ्चवर्णेऽपि भ्रमरे कृष्णवर्णत्वमङ्गीकरोति तथायमपीति लौकिकसमः । न च 'कृष्णो भ्रमर' इत्यत्र विद्यमानेतरवर्णप्रतिषेधाद् भ्रान्तत्वम्, अनुद्भूतत्वेनेतराऽविवक्षणात्, तद्व्युदासेऽतात्पर्यात्, उद्भूतवर्णविवक्षाया एवाभिलापादिव्यवहारहेतुत्वात् । कृष्णादिपदस्योद्भूतकृष्णादिपरत्वाद्वाऽतात्पर्यज्ञं प्रत्येतस्याऽप्रामाण्येऽपि तात्पर्यज्ञं प्रति प्रामाण्यात्, लोकव्यवहारानुकूलविवक्षाप्रयुक्तत्वेन च भावसत्यत्वाऽविरोधाद् । अत एव "पीतो भ्रमर" इति न व्यवहारतो भावसत्यम्, लोकव्यवहाराननुकूलत्वात्, नापि निश्चयतः, अवधारणाऽक्षमत्वादित्यसत्यमेव ।

प्रतियोगि, इदं आधेयम्, इदं अधिकरणम्' इत्यादि अनुगतव्यवहार तो होते ही हैं। उन अनुगतव्यवहारों का नियामक उन व्यवहारों में अनुप्रविष्ट कार्य, प्रतियोगि, अनुयोगि, आधेय, अधिकरण आदि शब्द ही हो सकते हैं इसलिए वे अनुगतव्यवहार भी शब्दानुगम से ही तार्किकों को भी साध्य मानना आवश्यक होता है। तद्वत् व्यवहारनय, सामान्य को न मानने पर भी 'अं घटः' इत्यादि अनुगतव्यवहारों का उत्पादन करता है–यह अभिप्राय ग्रन्थकारप्रयुक्त आदि पद से निकलता है। ग्रन्थकार का यह भी कहना है कि इस वस्तु का विस्ताररूप से निरूपण अन्यग्रन्थ में किया गया है, इसलिए यहाँ पर संक्षेप रूप से ही कथन किया है।

[तत्त्वार्थभाष्य के अनुसार व्यवहारनय की व्याख्या]

(लौकिकसम) लौकिकव्यवहार में कारणभूत अध्यवसायविशेष ही व्यवहारनय है, ऐसा पूर्व में ग्रन्थकार कह आए हैं। उस के समर्थन में तत्त्वार्थसूत्र के भाष्य का उद्धरण यहाँ किया है। भाष्योक्त व्यवहारलक्षण में "लौकिकसम" शब्द में लौकिक शब्द से मनुष्यादि पुरुष की विवक्षा है। लौकिकपुरुष घटादिरूप विशेषों के द्वारा ही जलाहरणादि व्यवहार करता है, इसलिए व्यवहारनय लौकिकपुरुष के तुल्य है। यह "तत्त्वार्थभाष्य" इस वस्तु को सिद्ध करता है कि व्यवहारनय की दृष्टि से घटादिरूप विशेष ही मान्य है। घटत्व, द्रव्यत्वादि सामान्य इस को मान्य नहीं है, क्योंकि घटत्वादि सामान्यों से कोई व्यवहार नहीं होता। इसतरह यह भाष्यग्रन्थ भी विशेष का हा प्रतिपादन करता हुआ ग्रन्थकारोक्त लक्षण का समर्थन कर रहा है।

लौकिकसमत्व का तात्पर्य यह है कि निश्चय नय की दृष्टि से भ्रमर में कृष्ण, रक्त आदि पाँच वर्ण जैन शास्त्रों में माने गए हैं तो भी भ्रमर में सभी लोग कृष्णवर्ण ही मानते हैं। उसी तरह व्यवहारनय भी पांच वर्णों के होने पर भी कृष्णवर्ण ही मानता है। किसी लौकिक पुरुष को पूछा जाय कि भ्रमर किस वर्ण का होता है ? तो वह निश्चितरूप से यही जवाब देगा कि भ्रमर काला होता है। वैसे ही व्यवहारनय भी भ्रमर

को काला ही मानता है। इस हेतु से भाष्यकार ने व्यवहारनय के लक्षण में "लौकिकसम" यह विशेषण लगाया है, इस का अर्थ यह है कि लौकिकपुरुष और व्यवहारनय की मान्यता में साम्य होने के कारण व्यवहारनय लौकिकपुरुष सम है। यहाँ एक शंका है कि-'शास्त्रीयव्युत्पत्तिमान लोक भ्रमर में रक्तादिवर्ण को भी मानते हैं, वैसा मानने का आधार उन के लिये शास्त्र ही है, इसलिए कृष्णेतरवर्ण का सद्भाव भ्रमर में अवश्य है, तब यदि व्यवहारनय इतरवर्ण का प्रतिषेध मानेगा तो अभिप्राय विशेषरूप व्यवहारनय में भ्रान्तत्व का प्रसंग आयेगा।'-इस का समाधान यह है कि कृष्णेतर रक्तादिवर्ण का सद्भाव जो शास्त्र द्वारा भ्रमर में सिद्ध होता है, उस के प्रतिषेध में व्यवहारनय का तात्पर्य नहीं है किन्तु रक्तादिवर्ण भ्रमर में रहते हुए भी उद्भूत (प्रगट) नहीं है अर्थात् प्रत्यक्षयोग्य नहीं है, इसलिए उन की विवक्षा व्यवहारनय नहीं करता है। कृष्णवर्ण तो भ्रमर में उद्भूत है, अतः कृष्णवर्णमात्र की विवक्षा व्यवहार नय को है। उद्भूतवर्ण की विवक्षा ही "कृष्णवर्णो भ्रमरः" इत्यादि शब्दप्रयोगरूप अभिलाप और भ्रमर में कृष्णता के व्यवहार का हेतु है इसलिए व्यवहारनय भ्रमर में कृष्णवर्ण को ही मानता है और उस में भ्रान्तता का प्रसंग भी नहीं है। रक्तादिवर्ण यद्यपि भ्रमर में रहते हैं, तो भी "भ्रमर रक्त होता है, भ्रमर पीत होता है" इत्यादि वाक्यों का प्रयोग नहीं होता है तो इस का कारण रक्तादिवर्णों में उद्भूतत्व न होने के कारण रक्तादिवर्णों की विवक्षा का अभाव ही है।

दूसरा समाधान यह भी है कि "कृष्णवर्णो भ्रमरः" इस वाक्य में कृष्णपद का उद्भूत-कृष्ण अर्थ मानकर प्रयोग किया जाता है, इसलिए इस वाक्य से "उद्भूतकृष्णरूपवाला भ्रमर" ऐसा बोध होता है। भ्रमर में रक्तादिरूप उद्भूत तो नहीं है केवल कृष्ण ही उद्भूत है, इस हेतु से इस वाक्य से उत्पन्न बोध में भ्रान्तत्व नहीं आता है। जो लोग "कृष्णो भ्रमरः" इस वाक्य में कृष्णपद का उद्भूतकृष्ण में तात्पर्य है, ऐसा नहीं समझते हैं, ऐसे अतात्पर्यज्ञ श्रोता के प्रति इस वाक्यजन्य बोध में अप्रामाण्य होने पर भी कृष्ण पद का उद्भूतकृष्ण में वक्ता का तात्पर्य है, इसतरह तात्पर्य को जाननेवाले श्रोता के प्रति एतद्-वाक्यजन्यबोध प्रमाण है क्योंकि लोकव्यवहारानुकूल विवक्षा से इस वाक्य का प्रयोग किया है, इसलिए भावसत्यता मानने में कोई विरोध नहीं है, क्योंकि लोक में "भ्रमर कृष्णवर्णवाला होता है" ऐसा ही व्यवहार प्रचलित है और जैसा ही व्यवहार लोक में होता है वैसी ही वक्ता की विवक्षा भी है। "पीतो भ्रमरः" इस वाक्यप्रयोग में भाव-सत्यता नहीं है क्योंकि लोक में "भ्रमर पीतवर्णवाला है" ऐसा व्यवहार नहीं होता है। अतः यह वाक्य लोकव्यवहारानुकूल न होने के कारण प्रमाणरूप बोध का जनक, व्यवहार-नय के अनुसार भी नहीं होता है। "पीतो भ्रमरः" यह वाक्य निश्चयनय के अनुसार भी भावसत्य नहीं है, क्योंकि "पीतो भ्रमरः" इस वाक्य में 'भ्रमर पीत ही होता है', ऐसा अवधारण करने की क्षमता नहीं है। कारण 'भ्रमर पीत हैं' यह वाक्यप्रयोग लोक के प्रति ही करना है, लोक में विशेषरूप से भ्रमर में कृष्णता की ही प्रसिद्धि है, वह पीतता के अवधारण में विरोधी है। विरोधी के समवधान में पीतता का अवधारण "पीतो भ्रमरः" यह वाक्य कैसे कर सकेगा? अतः "पीतो भ्रमरः" यह वाक्य भावसत्य नहीं बन सकता किन्तु असत्य ही है। अतएव लोक में प्रमाण नहीं माना जाता।

ननु "कृष्णो भ्रमर" इति वाक्यवत् "पञ्चवर्णो भ्रमर" इति वाक्यमपि कथं न व्यवहारनयानुरोधि, तस्यापि लोकव्यवहारानुकूलत्वात्, आगमबोधितार्थेऽपि व्युत्पन्नलोकस्य व्यवहारदर्शनात् लोकबाधितार्थबोधकवाक्यस्याऽव्यवहारकत्वे च 'आत्मा न रूपवान्'इत्यादिवाक्यस्याप्यव्यवहारकत्वापात्तस्याप्यात्मगौरत्वादिबोधकलोकप्रमाणबाधितार्थबोधकत्वात् अभ्रान्तलोकाबाधितार्थबोधकत्वं च उभयत्र तुल्यम्। 'प्रत्यक्षनियतैव व्यवहारविषयता न त्वागमादिनियते'ति तु व्यवहारदुर्नयस्य चार्वाकदर्शनप्रवर्त्तकस्य मतम्, न तु व्यवहारनयस्य जैनदर्शनस्पर्शिन (इति) चेत् ? सत्यम्, यद्यपि क्वचिददृष्टार्थे नैश्चयिकविषयतासंवलितैव व्यावहारिकविषयता स्वीक्रियते, तथापि लोकप्रसिद्धार्थानुवादस्थले क्वचिदेव सेति "कृष्णो भ्रमर" इति वाक्ये स्वजन्यबोधे भ्रमरविषयतानिरूपितकृष्णत्वावच्छिन्नव्यवहारविषयतासत्त्वाद्व्यावहारिकत्वम्, "पञ्चवर्णो भ्रमरः" इति वाक्ये च स्वजन्यबोधे भ्रमरविषयानिरूपितपञ्चवर्णत्वाख्यविषयतायां व्यावहारिकत्वाभावान्न तथात्वमिति दिक् ॥

['पंचवर्णवाला भ्रमर' वाक्य में व्यावहारिकत्व की आशंका]

(ननु कृष्णो) यहाँ कोई शंका करता है-शंकाः-"कृष्णो भ्रमरः" यह वाक्य लोकव्यवहारानुकूल होने के कारण व्यवहारनय के अनुरोध से जैसे प्रमाण माना जाता है, उसी तरह "पञ्चवर्णो भ्रमरः" यह वाक्य भी व्यवहारनय के अनुरोध से प्रमाण क्यों नहीं होगा ? यह वाक्य भी लोकव्यवहारानुकूल है। यद्यपि सकललोक भ्रमर में पञ्चवर्णत्व का व्यवहार नहीं करते हैं तो भी शास्त्रीयव्युत्पत्तिवाले लोग तो भ्रमर में पञ्चवर्णत्व का व्यवहार करते ही हैं और "पञ्चवर्णो भ्रमरः" ऐसा वाक्यप्रयोग भी करते हैं। "कृष्णो भ्रमरः" इस वाक्य में भी सकललोकव्यवहारानुकूलत्व तो नहीं है, क्योंकि शास्त्रीय व्युत्पत्ति रहित लोक ही भ्रमर में कृष्णत्व का व्यवहार करते हैं। अतः सकललोकव्यवहारानुकूलत्व इन दोनों वाक्यों में से किसी भी वाक्य में नहीं है। लोकैकदेशव्यवहारानुकूलत्व दोनों वाक्यों में है। तब "कृष्णो भ्रमरः" इस वाक्य में प्रामाण्य माना जाय और "पञ्चवर्णो भ्रमरः" इस वाक्य में प्रामाण्य न माना जाय, इस का नियामक कुछ भी देखने में आता नहीं है। अतः दोनों ही वाक्यों को समानरूप से व्यवहारनय के मत में प्रमाण मानना चाहिए ?। शास्त्रीयव्युत्पत्तिमान् लोक जो भ्रमर में पञ्चवर्णत्व का व्यवहार करते हैं, उस का आधार यही है कि आगम से भ्रमर में पञ्चवर्णत्व सिद्ध है-यह ख्याल यहाँ रखना चाहिए।

यदि यह कहा जाय कि-"भ्रमर में पञ्चवर्णत्वरूप अर्थ आगम से भले सिद्ध होता हो, तो भी वह अर्थ लोकप्रमाण से बाधित है, क्योंकि भ्रमर में लोकप्रमाण से कृष्णवर्ण ही सिद्ध होता है, अतः "पञ्चवर्णो भ्रमरः" यह वाक्य लोकबाधित अर्थ का बोधक होने से लोक व्यवहारानुकूल नहीं माना जायेगा। अतः व्यवहारनय की दृष्टि में वह वाक्य

प्रमाण नहीं माना जा सकता, क्योंकि व्यवहारनय को लोकसम माना गया है"–परन्तु यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि लोकबाधित अर्थ का बोधक होने से "पञ्चवर्णो भ्रमरः" यह वाक्य यदि व्यवहारानुकूल नहीं माना जाय तो "आत्मा न रूपवान्" यह वाक्य भी अव्यावहारिक बन जायेगा, क्योंकि लोक तो अनादिकाल से आत्मा और शरीर में अभेदाध्यवसायवान् ही है, इसीलिए "अहं गौरः", "अहं श्यामः", "अहं कृशः", "अहं स्थूलः" इत्यादि लोक व्यवहार से आत्मा में "गौरत्व, श्यामत्व, कृशत्व, स्थूलत्व" को ही मानते हैं। अतः लोकप्रमाण से आत्मा में गौरत्वादि धर्म ही सिद्ध हैं और अरूपवत्ता बाधित है। इस कारण से लोकबाधितार्थबोधकत्व "आत्मा न रूपवान्" इस वाक्य में भी प्राप्त होता है तब तो यह वाक्य भी व्यवहारनयानुकूल न होने की आपत्ति आयेगी।

यदि यह कहा जाय कि–"आत्मा न रूपवान्" यह वाक्य ऐसे ही लोगों में बाधितार्थ है, जिन लोगों को शरीर में आत्मत्व का भ्रम है, अथवा शरीर में आत्मा का अभेदाध्यवसाय है, ये दोनों प्रकार के लोग होते हैं। इन लोगों की दृष्टि से आत्मा में अरूपवत्ता का बाध भले हो, तथापि शरीर में आत्मत्व भ्रम, या शरीर में आत्मा का अभेदाध्यवसाय जिन को नहीं है, ऐसे शास्त्रीय व्युत्पत्तियुक्त व्यक्ति को शरीर में आत्मत्वभ्रम अथवा अभेदाध्यवसाय नहीं होता, अतः वे लोग अभ्रान्त हैं। इसतरह के अभ्रान्तलोग में, आत्मा में अरूपवत्ता का बाध नहीं होता, इसलिए "आत्मा न रूपवान्" इस वाक्य में अभ्रान्तलोकअबाधितार्थबोधकत्व रहता है और वही इस वाक्य में व्यावहारिकत्व का प्रयोजक है। अतः "आत्मा न रूपवान्" इस वाक्य में अव्यावहारिकत्व का प्रसंग उपस्थित करना युक्त नहीं है।"–तो इस का समाधान यह है कि "पञ्चवर्णो भ्रमरः" इस वाक्य का अर्थ भी जिन को 'भ्रमर में केवल कृष्णरूप रहता है' ऐसा भ्रम है, ऐसे भ्रान्त लोकों से ही बाधित है। जिन को शास्त्रीय व्युत्पत्ति ज्ञात है, ऐसे लोक तो भ्रमर में कृष्ण रक्तादि पांच प्रकार के वर्णों को मानते ही हैं, और उन का वैसा मानना भ्रम नहीं है, अतः वे अभ्रान्त है। इसतरह अभ्रान्तलोक अबाधितार्थबोधकत्व रूप व्यावहारिकत्व का प्रयोजक, "पञ्चवर्णो भ्रमरः" इस वाक्य में रहता है, तब यह वाक्य भी व्यवहारनयानुरोधी क्यों न होगा ? यह आपत्ति खडी ही रहती है।

यदि ऐसा कहें कि–"प्रत्यक्षविषयता की अपेक्षा से व्यवहारविषयता व्याप्य है, क्योंकि जहाँ जहाँ प्रत्यक्षविषयता है, वहाँ वहाँ ही व्यवहारविषयता होती है ऐसी प्रतीति होती है। किंतु जहाँ जहाँ आगमादिप्रमाणजन्यबोधविषयता हैं वहाँ ही व्यवहारविषयता हो इसतरह की प्रतीति नहीं होती है। इसलिए व्यवहारविषयता आगमादिप्रमाणजन्यबोधविषयता की अपेक्षा से नियत नहीं है, किन्तु प्रत्यक्षविषयता की ही नियत है। अतः भ्रमर में कृष्ण, रक्तादि पांच प्रकार के वर्णों का बोध आगम से भले होता हो, तो भी भ्रमरगत पञ्चवर्णों में प्रत्यक्षविषयतारूप व्यापक न होने के कारण व्यवहारविषयतारूप व्याप्य नहीं होगा। व्यापक की निवृत्ति से व्याप्य की निवृत्ति होना सर्वत्र प्रसिद्ध ही है। अतः "पञ्चवर्णो भ्रमरः" यह वाक्य व्यवहारनयानुरोधी कैसे बन सकता है ?"–परन्तु यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि आपने जो बताया है कि प्रत्यक्षविषयता के प्रति ही व्यवहारविषयता व्याप्य बनती है और आगमादि प्रमाणजन्य बोधविषयता के

प्रति व्यवहारविषयता व्याप्य नहीं बनती है, यह कथन व्यवहाररूप दुर्नय की दृष्टि से संगत है, जिस दुर्नय से "चार्वाक दर्शन" की प्रवृत्ति हुई है। चार्वाक दर्शन में केवल प्रत्यक्षप्रमाण ही मान्य है, अनुमान और आगम प्रमाण उस को मान्य नहीं है, इसलिए प्रत्यक्षविषयतामात्र के प्रति व्यवहारविषयता में व्याप्यता उस के मत से सिद्ध हो भी सकती है। जैनदर्शन को मान्य जो व्यवहारनय है, उस के अनुसार प्रत्यक्षविषयता मात्र के प्रति व्यवहारविषयता में व्याप्यत्व नहीं है क्योंकि जैनदर्शन अनुमान और आगम इत्यादि प्रमाणों को भी मानता है इसलिए अनुमान और आगम प्रमाणजन्यबोधविषयता के साथ भी व्यवहारविषयता का सम्बन्ध जैनदर्शन को मान्य है, क्योंकि प्रत्यक्ष की तरह अनुमान और आगम से सिद्ध वस्तु का भी जैनदर्शन के मत में व्यवहार होता है। भ्रमर में पञ्चवर्णत्व आगमसिद्ध है, उस में भी व्यवहारविषयता अवश्य रहेगी तो "पञ्चवर्णो भ्रमरः" यह वाक्य भी व्यवहारनयानुरोधी क्यों न होगा ? यह पूर्वोक्त शंका खडी ही रहती है।—

['पंचवर्णवाला भ्रमर' इस वाक्य में व्यावहारिकत्व का व्यावर्त्तन—समाधान]

समाधानः—(सत्यम्) ननु इत्यादि ग्रन्थ से जो पूर्वपक्षी ने कहा है उस का कुछ अंश में स्वीकार सिद्धान्ति को भी है, इस वस्तु को सूचित करने के लिए "सत्यम्" पद का प्रयोग किया है। पूर्वोक्त शंका के समाधान में सिद्धान्ति का कहना है कि कुछ ऐसे भी पदार्थ हैं जो प्रत्यक्ष से दृश्यमान नहीं होते, किंतु आगमबोध्य होने से व्यवहारविषय होते हैं, ऐसे पदार्थों में नैश्चयिकविषयता भी रहती है और व्यावहारिकविषयता भी रहती है। जैसे, 'आत्मा में रूप नहीं है', यह आगम से ही निश्चित होता है। आत्मा का चाक्षुष प्रत्यक्ष न होने के कारण आत्मविशेष्यक रूपाभावप्रकारक प्रत्यक्ष नहीं होता है, इसलिए आत्मा में जो अरूपवत्ता है वह प्रत्यक्ष का विषय नहीं है, तो भी आगमजन्य निश्चयविषयता और व्यावहारिकविषयता दोनों ही आत्मगत अरूपवत्ता में है। इसलिए "आत्मा न रूपवान्" इस वाक्य में व्यावहारिकत्व उपपन्न होता है। परन्तु यह बात सार्वत्रिक नहीं है, किन्तु कहीं कहीं पर ही मानी जाती है। इसलिए "कृष्णो भ्रमरः" इसतरह के लोकप्रसिद्ध अर्थ के अनुवादक वाक्यस्थल में व्यावहारिकत्व आता है, क्योंकि लोक में प्रसिद्ध यही है कि "भ्रमर कृष्ण होता है" इस वाक्य से 'कृष्णरूपवाला भ्रमर' ऐसा बोध होता है। इस बोध में भ्रमर विशेष्यरूप से भासित होता है और कृष्णरूप विशेषण या प्काररूप से भासित होता है, इसलिए भ्रमरनिष्ठ विशेष्यतारूपविषयता निरूपतप्रकारतारूप विषयता कृष्णरूप में रहती है, जो कृष्णरूपत्वावच्छिन्ना या कृष्णत्वावच्छिन्ना है, इसलिए "कृष्णो भ्रमरः" इसवाक्य में व्यावहारिकत्व आने में कोई बाधा नहीं है क्योंकि ऐसा नियम है—यत्किञ्चिन्निष्ठविषयतानिरूपित व्यावहारिकविषयतानिरूपकबोध जिस वाक्य से होता है, वह वाक्य व्यावहारिक माना जाता है। "कृष्णो भ्रमरः" एतत् वाक्यजन्य बोध में भ्रमरनिष्ठविषयतानिरूपित कृष्णवर्णनिष्ठा जो प्रकारतारूप विषयता है, वह व्यावहारिकविषयता है। "पञ्चवर्णो भ्रमरः" इस वाक्य से भ्रमर कृष्णरक्तादि पञ्चरूपवाला है ऐसा बोध होता है, इस बोध में भ्रमर विशेष्यरूप से और

कुण्डिका स्रवति, पन्थाः गच्छतीत्यादौ बाहुल्येन गौणप्रयोगाद् 'उपचारप्रायः' विशेषप्रधानत्वाच्च 'विस्तृतार्थ' इति । अयमपि सकलनिक्षेपाभ्युपगमपर एव ॥

पञ्चवर्ण प्रकाररूप से भासित होता है । इसलिए भ्रमरनिष्ठविशेष्यतानिरूपित पञ्चवर्ण-निष्ठा प्रकारतारूपा जो विषयता है वह पञ्चवर्णतारूप है, उस पञ्चवर्णत्वाख्यविषयता में व्यावहारिकत्व नहीं है क्योंकि भ्रमर में पञ्चवर्णता का व्यवहार कोई नहीं करता है, अतः "पञ्चवर्णो भ्रमरः" इस वाक्य में व्यावहारिकत्व नहीं आता है, इसलिए "पञ्चवर्णो भ्रमरः" इस वाक्य को व्यहारनयानुरोधी मानना संगत नहीं है। इतने ग्रन्थ से व्यवहार-नय में लौकिकसमत्व का समर्थन ग्रन्थकार ने किया है ।

[व्यवहारनय में उपचारबहुलता का निदर्शन]

(कुण्डिका) तत्त्वार्थभाष्योक्त व्यवहार के लक्षण में जो "उपचारप्रायः" यह विशेषण लगाया गया है, उस का अभिप्राय यह है कि व्यवहार की दृष्टि से अधिकांश प्रयोगों में उपचार का आश्रय किया जाता है, इसलिए यह नय उपचारप्राय कहा जाता है । जैसे–"कुण्डिका स्रवति" यह प्रयोग है, इस का अर्थ यह है कि कुण्डिका बहती है, किंतु ऐसा देखने में आता नहीं है क्योंकि कुण्डिका द्रवीभूत वस्तु नहीं है, जल, दूध, घृत, तैल आदि जो द्रवीभूत वस्तु हैं इन्हीं का अपने आश्रय से छिद्र द्वारा बहिर्निसरणरूप स्रवण या बहना देखने में आता है । कुण्डिका का स्रवण सम्भवित नहीं है तो भी "कुण्डिका स्रवति" ऐसा जो व्यवहार होता है वह उपचार से ही होता है । अन्यत्र दृष्ट अर्थ का अन्य में आरोप करना ही उपचारपदार्थ है । यहाँ जल, दूध आदि का ही छिद्र-द्वारा बहिर्निःसरणरूप स्रवणपदार्थ दृष्ट है, उस का कुण्डिका में आरोप करके "कुण्डिका स्रवति" यह व्यवहार किया जाता है, इसलिए वह औपचारिक है । इसीतरह मार्ग तो चलता नहीं है, किन्तु मार्ग में स्थित पथिक लोग चलते हैं, मार्ग तो स्थिर पदार्थ है, गमनक्रिया जंगम वस्तु में होती है, तो भी पथिक में दृष्ट गमनक्रिया का मार्ग में आरोप करके 'रास्ता जाता है' यह प्रयोग किया जाता है, इसलिए ऐसा प्रयोग भी औपचारिक ही है ।

(विशेषप्रधानत्वाच्च) भाष्योक्त लक्षण में "विस्तृतार्थः" इस विशेषण का अभिप्राय यह है कि जिस अभिप्रायविशेष का विषयभूत अर्थ विस्तृत है, विस्तीर्ण या विशाल है, उस अभिप्रायविशेष को व्यवहारनय कहा जाता है । व्यवहार का विषयभूत अर्थ विस्तृत क्यों है, इस का कारण यह है कि व्यवहारनय सामान्यापेक्षया विशेष को ही प्रधान मानता है । वह विशेष सामान्य की अपेक्षा से अधिक संख्यावाला है, इसलिए विशेष-ग्राहा व्यवहारनय का अर्थ विस्तृत है । " संग्रहनय" सामान्यग्राहा माना गया है, उस का विषय सामान्य है, वह अल्पसंख्यक है, अतः वह अल्पार्थविषयक है । संग्रह की अपेक्षा से व्यवहार इसीलिए विस्तृतार्थ कहा जाता है । यहाँ तक भाष्योक्त लक्षण में स्थित पदों के अर्थ का विवरण ग्रन्थकारने किया है, इस वस्तु का सूचक मूल में "इति" शब्द है ।

स्थापनां नेच्छत्ययमिति केचित्, तेषामाशयं न जानीमः । न हीन्द्रप्रतिमाया नेन्द्रव्यवहारो भवति, न वा भवन्नपि भ्रान्त एव, न वा नामादिप्रतिपक्षव्यवहारसाङ्कर्यमस्तीत्यर्धजरतीयमेतत् यदुत लोकव्यवहारानुरोधित्वं स्थापनाऽनभ्युपगन्तृत्वं चेति ॥३॥

[व्यवहारनय में स्थापनानिक्षेप के समर्थन मे शंका—समाधान]

(अयमपीत्यादि) नैगम और संग्रहनय जैसे नामादि निक्षेप चतुष्टय को मानते हैं, उसीतरह यह व्यवहारनय भी नामादि सकल निक्षेपों को मानता है।

(स्थापनां) कितने आचार्य ऐसा मानते हैं कि व्यवहारनय स्थापनानिक्षेप को नहीं मानता है, परन्तु वे किस आशय से ऐसा कहते हैं यह मालूम नहीं पडता। यदि इन्द्रप्रतिमारूप स्थापना में इन्द्रव्यवहार न होता हो तो उन आचार्यों का कथन आदरणीय भी हो सके, परन्तु ऐसा नहीं है। इन्द्रप्रतिमा में इन्द्र का व्यवहार आबाल—गोपाल सभी करते हैं, इसलिए व्यवहारनय का स्थापनानिक्षेप स्वीकार सर्वानुभवसिद्ध है, उस का अपलाप नहीं हो सकता, अतः उन आचार्यों का कथन संगत नहीं है। यदि यह कहा जाय कि-'इन्द्रप्रतिमा में जो इन्द्रव्यवहार होता है, वह भ्रान्त है, अतः उस से स्थापना का अभ्युपगम व्यवहारनय में नहीं सिद्ध हो सकता'-परन्तु यह कथन उचित नहीं मालूम पडता, क्योंकि इन्द्रप्रतिमा में होनेवाले इन्द्रव्यवहार को उसी दशा में भ्रान्त मान सकते हैं यदि उक्त व्यवहार का बाध किसी प्रमाण से होता हो; ऐसा तो दिखता नहीं है, इसलिए इन्द्रप्रतिमा में इन्द्रव्यवहार को भ्रान्त मानना निर्मूल है। यदि यह कहा जाय कि-'स्थापनानिक्षेप का प्रतिपक्ष अर्थात् विरोधी जो नामादि निक्षेप उस का भी व्यवहार इन्द्रप्रतिमा में होता हैं, इसलिए स्थापनाव्यवहार का नामादिव्यवहारों के साथ सांकर्य आता है, अतः असंकीर्णस्थापनानिक्षेप का अभ्युपगम व्यवहारनय में नहीं हो सकता है। इस आशय से कतिपय आचार्यों का कथन संगत हो सकता है'-तो ऐसा कहना अत्यन्त अनुभवविरुद्ध है, क्योंकि इन्द्रप्रतिमा में, द्रव्यनिक्षेप तथा भावनिक्षेप का व्यवहार कोई करता हो ऐसा अनुभव में नहीं आता। अतः नामादिव्यवहार का सांकर्य स्थापना व्यवहार में है ही नहीं। तब तो व्यवहारनय स्थापना को नहीं मानता है, ऐसा कहने में कोई युक्ति विचार करने पर भी देखने में नहीं आती है, इसलिए उन आचार्यों का मत असंगत है। दूसरी बात यह है कि व्यवहारनय को लोकव्यवहारानुरोधि मानना और स्थापना का अभ्युपगम व्यवहारनय में न मानना यह अर्धजरतीय है।*

* "अर्धजरती" एक न्याय है, उस में "जरती" शब्द वृद्धावस्थावाली स्त्री का वाचक है। जो स्त्री वृद्धावस्था को प्राप्त होती है उस स्त्री के सम्पूर्ण शरीर में वृद्धावस्था रहती है। ऐसी स्त्री देखने में नहीं आती जिसके शरीर का अर्धभाग वृद्धावस्था में हो और दूसरा अर्धभाग युवावस्था में हो। इसलिए "अर्धजरती" कोई स्त्री हो ऐसा सम्भव नहीं है, अतः अर्धजरतीय न्याय असम्भव का द्योतक है। प्रकृत में व्यवहारनय को लोकव्यवहारानुरोधि सभी कोई मानते हैं, इसलिए स्थापनानिक्षेप का अभ्युपगम भी व्यवहारनय में मानना आवश्यक है क्योंकि इन्द्रादि प्रतिमा में इन्द्र आदि का व्यवहार लोक में प्रसिद्ध है। स्थापनानिक्षेप को माने विना लोकव्यवहारानुरोधित्व का व्यवहारनय में असम्भव है जैसे किसी स्त्रीशरीर में अर्धजरतीत्व का सम्भव नहीं है।

प्रत्युत्पन्नग्राह्यध्यवसायविशेष ऋजुसूत्रः ॥ "पच्चुप्पण्णग्गाही उज्जुसुओ णयविही मुणेयव्वो" ॥त्ति [अनु. द्वार–१५२] प्रत्युत्पन्नग्राहित्वं च भावत्वेऽतीतानागतसम्बन्धाभावव्याप्यत्वोपगन्तृत्वम्, नातोऽतिप्रसङ्गः । 'वर्त्तमानक्षणसम्बन्धवदतीतानागतक्षणसम्बन्धोऽपि कथं न भावानामि'ति चेत् ? विरोधात् । 'अतीतत्वानतीतत्वयोरेव विरोधो न त्वतीतत्वानागतत्वयोरिति चेत् ? न अनागतत्वेनानतीत्वाक्षेपात् । 'अतीतानागताकारज्ञानदर्शनादविरोध' इति चेत् ? न, प्रत्यक्षे तथाकारानुपरागात्, प्रबुद्धवासनादोषजनिततथाविकल्पाच्च वस्त्वसिद्धेः । 'अनुभवाविशेषे विकल्पाविशेष' इति चेत् ? न, उपादानव्यक्तिविशेषेणोपादेयव्यक्तिविशेषादित्यन्यत्र विस्तरः ।

[प्रत्युत्पन्नग्राही ऋजुसूत्रनय]

(प्रत्युत्पन्न०) प्रत्युत्पन्नग्राही=प्रत्युत्पन्नवस्तु का ग्रहण, जिस अध्यवसायविशेष से होता है, उस अध्यवसायविशेष को ऋजुसूत्रनय कहते हैं । इस वाक्य में "ऋजुसूत्र" पद से लक्ष्य का निर्देश किया गया है । 'प्रत्युत्पन्नग्राही-अध्यवसायविशेष' इन दोनों पदों से लक्षण का निर्देश किया गया है । ऋजुसूत्र इस लक्ष्यसूचक पद के अर्थ का विचार करने पर जो अर्थ लक्ष्यसूचक पद से निकलता है, उसी अर्थ को लक्षण सूचक दोनों पदों से स्फुटित किया गया है । "ऋजु=अवक्रं वस्तु सूत्रयति" इस व्युत्पत्ति के अनुसार अवक्रवस्तु को ऋजुसूत्र नय सूचित करता है । इस नय की दृष्टि से जो वस्तु वर्त्तमान और स्वकीय है वही वस्तु ऋजु अर्थात् अवक्र है, और जो वस्तु अतीत, अनागत और परकीय हैं वे सभी वक्र हैं । इन में अतीत और अनागत असत् होने के कारण वक्र हैं, और परकीय वस्तु निष्प्रयोजनत्व के आधार पर वक्र सिद्ध होती है, जैसे परकीय धन से अपना मतलब कुछ भी सिद्ध नहीं होता है वैसे ही परकीय वस्तु से अपना कुछ भी प्रयोजन सिद्ध नहीं होता है अतः असत् तुल्य होने से परकीय वस्तु भी वक्र ही है । इस रीति से ऋजु तो वही है जो वर्तमान और स्वकीय है, उसी का ग्राहक यह नय है । "प्रत्युत्पन्नग्राही" इस लक्षण घटक पद में 'उत्पन्न" शब्द वर्तमानकालीन वस्तु का बोधक है और "प्रति" शब्द स्वकीयत्व का बोध करता है । "प्रति" शब्द सन्निकर्षवाची है, सन्तिकर्ष और सम्बन्ध ये दोनों पद पर्यायवाचक हैं । वर्तमान वस्तु का सम्बन्ध आकांक्षावशात् स्वकीय आत्मा के साथ यहाँ विवक्षित है इसलिये 'स्वात्मसम्बन्धि वर्त्तमानवस्तु' यह फलितार्थ हुआ । वही वस्तु ऋजु या अवक्र है, उस का ग्राहक अध्यवसायविशेष ही "ऋजुसूत्र" का लक्षण है । ग्रन्थकार स्वकृत लक्षण को समर्थित करने के लिए प्रमाणरूप से "विशेषावश्यक भाष्य गाथा सूत्र (२१८९) उद्धृत करते हैं ।

"पच्चुप्पण्णग्गाही उज्जुसुओ णयविही मुणेयव्वो" ॥ त्ति ॥ "प्रत्युत्पन्नग्राही" शब्द ग्रन्थकार के लक्षण में और विशेषावश्यक सूत्र में समानरूप से आता है और समान अर्थवाचक है क्योंकि "प्रत्युत्पन्न" शब्द का अर्थ सूत्र में भी वर्तमान और स्वकीय वस्तुरूप ही विवक्षित है । इस हेतु से सूत्रकार के लक्षण से इस को पूरा समर्थन प्राप्त है ।

यदि यह शंका की जाय कि-"नैगमादिनय' यद्यपि अतीत, अनागत और वर्त्तमान रूप कालत्रयवर्त्ती वस्तु को मानते हैं, इसलिए वर्तमानकालीन प्रत्युत्पन्नवस्तु के ग्राहक वे भी है, तो उन नयों में भी ऋजुसूत्र का लक्षण चला जायेगा इसलिए अतिव्याप्तिदोष उपस्थित होता है।"-इस शंका के समाधान के लिए परिष्कृत अर्थ उपाध्यायजी बताते हैं कि "भावत्व में अतीतानागतकाल सम्बन्धाभाव व्याप्यत्व का जो स्वीकार, वही प्रत्युत्पन्नग्राहित्व" यहाँ विवक्षित है। ऋजुसूत्र की दृष्टि से जहाँ जहां भावत्व है वहाँ वहाँ अतीत-अनागतकाल का अभाव भी रहता है, इसलिए अतीतानागतकालसम्बन्धाभाव भावत्व की अपेक्षा से व्यापक बनेगा और भावत्व अतीतानागतकालसम्बन्धाभाव की अपेक्षा से व्याप्य बनेगा। ऋजुसूत्राभिमत भाव वस्तु में वर्तमानकाल का ही सम्बन्ध रहता है, अतीत और और अनागतकाल का सम्बन्ध नहीं रहता है, इस हेतु से यह व्याप्यव्यापकभाव बनने में कोई बाधा नहीं है। नैगमादि नयों से स्वीकृत भाववस्तु में जैसे वर्त्तमानकाल का सम्बन्ध रहता है, वैसे ही अतीत और अनागत काल का भी सम्बन्ध रहता है, क्योंकि नैगमादिनय जैसे वर्तमानकालीन भाव को मानते हैं वैसे ही अतीतकालीन और अनागतकालीन भाव को भी मानते हैं, इसलिए नैगमादि अभ्युगत भाववस्तु में अतीत और अनागतकाल के सम्बन्ध का अभाव नहीं रहता, अतः भावत्व में अतीतानागतकालसम्बन्धाभावव्याप्यत्व को वे नय नहीं मानते हैं। अतः परिष्कृत प्रत्युत्पन्नग्राहित्व नैगमादिनयों में नहीं रहता। इसलिए अतिव्याप्ति दोष नहीं है।

यदि यह कहा जाय कि-'अतीतानागत-कालवर्त्तीभाव में भी भावत्व रहता है, अतः वर्त्तमान क्षणसम्बन्ध की तरह उसमें अतीत और अनागतक्षण का सम्बन्ध भी रहेगा। अतः भावत्व में अतीतानागतकालसम्बन्धाभावव्याप्यत्व मानना ठीक नहीं है'-परन्तु यह कथन भी सङ्गत नहीं है, क्योंकि अतीतत्व और अनागतत्व का परस्पर विरोध है। जिस भाव में अतीतत्व रहता है उस भाव में अनागतत्व नहीं रहता है, इसलिए भावत्व में अतीतानागतकालसम्बन्धाभावव्याप्यत्व मानने में कोई बाधक नहीं है। यदि यह कहा जाय कि-"अतीतत्व और अनतीतत्व का ही परस्पर विरोध है, क्योंकि अतीतत्ववत्ताबुद्धि के प्रति अतीतत्वाभाववत्ताबुद्धि विरोधी मानी गयी है, इसलिए भावाभाव का ही परस्पर विरोध होता है, अनागतत्व अतीतत्वाभावरूप नहीं है किन्तु आगतत्वाभावरूप है अथवा भविष्यत्वरूप हैं, इसलिए अतीतत्व का विरोधी नहीं बन सकता। तथा अतीतत्व भी अनागतत्वाभावरूप नहीं है, इसलिए अनागतत्व का विरोधी नहीं बन सकता, अतः अतीतत्व और अनागतत्व में परस्पर विरोध ही नहीं दीखता है। तब विरोधप्रयुक्त अतीतानागतकाल संबंधाभाव भी जो आप मानते हैं वह भी कैसे रहेगा ?! इसलिए उक्त व्याप्यव्यापकभाव युक्तिसिद्ध नहीं है"-परन्तु यह कहना भी ठीक नहीं है क्योंकि अतीतत्व और अनतीतत्व का परस्पर विरोध आप भी मानते हैं और अनतीतत्व का व्याप्य अनागतत्व है, जहाँ जहाँ अनागतत्व है वहाँ वहाँ अतीतत्वाभाव है-इसतरह की व्याप्ति है। तथा, तद्वत्ताबुद्धि के प्रति जैसे तदभाववत्ता बुद्धि विरोधी मानी गयी है उसीतरह तद्वत्ता बुद्धि के प्रति तदभावव्याप्यवत्ताबुद्धि भी विरोधी मानी गयी है, इसलिए ह्रद में अग्नि-अभावव्याप्य जलवत्ता का ज्ञान रहने पर ह्रद अग्निमान है ऐसी बुद्धि नहीं होती। प्रकृत में

जिस भाव में अनागतत्व का ज्ञान रहता है उस भाव में अतीतत्वबुद्धि नहीं होती है, उस का कारण यही है कि अनागतत्व अतीतत्वाभावव्याप्य है। जहाँ व्याप्य रहता है वहाँ व्यापक रहता ही है। अनागतत्वरूप व्याप्य जिस भाव में रहेगा, उस भाव में अतीतत्वाभाव अवश्य रहेगा क्योंकि वह अनागतत्व का व्यापक है। व्याप्य से व्यापक का आक्षेप होता है, यह सर्वसम्मत है इसलिए अनागतत्वरूप व्याप्य से अनतीतत्वरूप व्यापक का अवश्य आक्षेप होगा। तब तो अतीतत्व और अनतीतत्व ये दोनों परस्पर विरुद्ध होने से एक भाव में कैसे रह सकेंगे, अतः भावत्व में अतीतानागतकाल सम्बन्धाभावव्याप्यत्व जो ऋजुसूत्र का अभिमत है, वह संगत नहीं है।

[अतीत और अनागत आकार ज्ञान से वैपरीत्य की शंका]

यदि यह कहा जाय कि-'अतीत और अनागत एतदुभयविषयक ज्ञान देखने में आता है। जैसे कोई ज्योतिर्विद् देवदत्तादि किसी व्यक्ति की हस्तरेखा अथवा उस की जन्मकुण्डली में ग्रहों की स्थिति देखकर यह बताता हैं कि इस का एक पुत्र नष्ट हो गया है और द्वितीयपुत्र अमुक समय में होने वाला है। उस के वाक्य से श्रोता देवदत्त को अतीत और अनागत पुत्र विषयक ज्ञान होता है जो दृष्ट है। एवं वही ज्योतिर्विद जब यह बताता है कि इस व्यक्ति की एक घात पूर्व में हो गयी है और अमुक वर्ष में दूसरी घात आने वाली है, वहाँ भी श्रोता को अतीतानागतघातविषयक ज्ञान होता है। ज्ञान और विषय का कथञ्चित् अभेद माना गया है। आकार और विषय ये दोनों एकार्थक शब्द हैं। अतीतानागत विषयक ज्ञान को ही अतीतानागताकारज्ञान कहते हैं। अतीत और अनागत विषयों में अतीतत्व और अनागतत्व परस्पर विरुद्ध धर्म रहते हैं, इसीलिए अतीत अनागत भी परस्पर विरोधी माने जाते हैं। अतीतत्व और अनागतत्व धर्म विशिष्ट विषयों के साथ ज्ञान का अभेद होने से ज्ञान में अतीतत्व और अनागतत्व दोनों धर्मों का सामानाधिकरण्य होता है। सामानाधिकरण्य शब्द से एकाधिकरणवृत्तित्वरूप अर्थ विवक्षित है। ज्ञानरूप एक अधिकरण में अतीतत्व और अनागतत्व इन दोनों धर्मों का संबंध उक्त रीति से सिद्ध हो जाता है। तब अतीतत्व अनागतत्व का विरोध नहीं दीखता है, क्योंकि परस्पर असमानाधिकरण धर्मों में ही विरोध माना गया है। जैसे गोत्व अश्वत्व परस्पर असमानाधिकरण होने से उन का विरोध सर्वमान्य है। तब तो अतीतानागत क्षणों का सम्बन्ध भावों में भी रहेगा, इसलिए भावत्व में अतीतानागत क्षण सम्बन्धाभावव्याप्यत्व का अभ्युपगम जो ऋजुसूत्र करता है, वह सङ्गत प्रतीत नहीं होता"-

[प्रत्यक्षज्ञान अतीतादिआकार नहीं होता—समाधान]

परन्तु यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि वाक्यादिजन्य ज्ञान में अतीत और अनागत आकारों का सम्बन्ध भले होता हो, परन्तु कोई प्रत्यक्षज्ञान ऐसा देखने में नहीं आता जिस में अतीताकार का सम्बन्ध हो अथवा अनागताकार का सम्बन्ध हो। तब इन दोनों आकारों का सम्बन्ध प्रत्यक्ष में कैसे सम्भव हो सकता है ? प्रत्यक्ष तो इन्द्रियसम्बद्ध वर्तमान विषयक ही होता है, अतीत अनागत विषयों के साथ इन्द्रियसम्बन्ध सम्भव ही नहीं है, इसलिए प्रत्यक्ष में अतीत अनागत विषयों का उपराग या सम्बन्ध

नहीं हो सकता है । अतः प्रत्यक्षज्ञान में अतीतत्व अनागतत्व इन दोनों धर्मों का सामानाधिकरण्य भी नहीं हो सकता है। तब भावत्व में अतीतानागतक्षणसम्बन्धाभावव्याप्यत्व का स्वीकार जो ऋजुसूत्र करता है वह संगत ही है ।

यदि यह कहें कि-'प्रत्यक्ष में भले ही अतीत और अनागत आकार का सम्बन्ध नहीं होवे, तथापि प्रत्यक्षातिरिक्त वाक्य और अनुमान से जन्य ज्ञान में तो अतीतानागताकार का सम्बन्ध होता है, वाक्यजन्यज्ञान एवं अनुमानजन्यज्ञान से भी वस्तु की सिद्धि होती ही है, अतः तादृशज्ञान में अतीतत्व का सम्बन्ध होने से ये दोनों धर्म परस्परविरुद्ध नहीं सिद्ध होते हैं, इसलिए भावों में अतीतानागतकालसम्बन्ध सिद्ध हो जायगा, तब उक्त व्याप्ति का अभ्युपगम कैसे संगत बनेगा ?'-परन्तु यह कहना भी ठीक नहीं है क्योंकि अतीत और अनागत इन दोनों आकारों का सम्बन्ध जिस ज्ञान में पूर्व में बताया गया है, वैसा ज्ञान केवल वाक्य या व्याप्तिज्ञानरूप कारण से ही नहीं होता किन्तु उस में दोष भी सहकारी रहता है । अतीत और अनागत वस्तु विषयक वासना जब किसी कारणवश प्रबुद्ध हो जाती है तब वाक्य या व्याप्तिज्ञान से भी अतीतानागत विषयक ज्ञान उत्पन्न हो जाता है, इसलिए प्रबुद्धवासनादोषजन्य होने से वह ज्ञान भ्रान्तिरूप होता है । भ्रांतिरूप ज्ञान से वस्तु की सिद्धि किसी भी वादी को मान्य नहीं है, इसलिए उस तरह के ज्ञान से अतीतानागत का सामानाधिकरण्य सिद्ध नहीं होगा, तब भाव में अतीतानागतकालसम्बन्धाभाव की व्याप्ति की सिद्धि होने में कोई बाधक नहीं दीखता है ।

यदि यह कहें कि-'प्रत्यक्ष जैसे अनुभवरूप है वैसे ही विकल्प भी अनुभवरूप है, इसलिए अनुभवत्व दोनों में समानरूप से होता है, अतः प्रत्यक्ष और विकल्प इन दोनों में कुछ विशेष नहीं है । तब प्रत्यक्ष से वस्तु की सिद्धि होवे और विकल्प से वस्तुसिद्धि न होवे, ऐसा विशेष विकल्प में नहीं हो सकता है । तब तो उक्त विकल्प से ही भाव में अतीत अनागत क्षण सम्बन्ध सिद्ध होगा, फिर भावत्व में तादृशसम्बन्धाभाव व्याप्ति की सिद्धि कैसे होगी ?'-परन्तु यह कहना भी संगत नहीं है क्योंकि जैन सिद्धान्त में यद्यपि सविकल्प ज्ञान भी प्रमाण माना गया है, बौद्ध सिद्धान्त में जैसे प्रत्यक्ष ही प्रमाणरूप से मान्य है और विकल्प रूप ज्ञान प्रमाणरूप से मान्य नहीं हैं, वैसी मान्यता जैनमत में नहीं है, तो भी सविकल्पकज्ञान में सर्वत्र प्रमाणत्व का स्वीकार नहीं है, जो विकल्परूप ज्ञान दोषसहकृत कारण से उत्पन्न होता है वह अप्रमाण माना गया है और जो विकल्पात्मकज्ञान दोष से असहकृत स्वकारणवशात् उत्पन्न होता है, वह प्रमाण माना गया है । इसलिए विकल्प के प्रति कारणीभूत व्यक्ति में दोष सहकृतत्व और दोष-असहकृतत्वरूप विशेष होने के कारण, कार्यभूत विकल्पात्मक ज्ञान व्यक्ति में भी अप्रमाणत्व और प्रमाणत्वरूप विशेष अवश्य रहेगा। अतः ऋजुसूत्र के मत से प्रस्तुत अतीतानागत विषयकज्ञानरूप विकल्प प्रबुद्धवासनारूप दोष सहकृत वाक्यादि कारणव्यक्ति से उत्पन्न होता है, इसलिए प्रमाणरूप नहीं है किन्तु भ्रान्तिरूप है अतः भाव में अतीतानागतक्षणसम्बन्ध का साधक नहीं बन सकता । तब भावत्व में अतीतानागतसम्बन्धाभाव व्याप्यत्व का अभ्युपगम जो ऋजुसूत्र करता है वह अनुचित नहीं है । इस विषय का विस्तृतरूप से विचार अन्य ग्रन्थों में किया गया है ।

"सतां साम्प्रतानामभिधानपरिज्ञानमृजुसूत्र" इति (सूत्र–३५) तत्त्वार्थभाष्यम् । व्यवहारातिशायित्वं लक्षणमभिप्रेत्य तदतिशयप्रतिपादनार्थमेतदुक्तम् ।।

"व्यवहारो हि सामान्यं व्यवहारानङ्गत्वान्न सहते, कथं तर्ह्यर्थमपि परकीयमतीतमनागतं चाप्यभिधानमपि तथाविधार्थवाचकम्, ज्ञानमपि च तथाविधार्थविषयमविचार्य सहेत" ? ! इत्यस्याभिमानः ।।

[तत्त्वार्थभाष्य के अनुसार ऋजुसूत्र नय]

(सतां साम्प्रत) ग्रन्थकार "ऋजुसूत्र" के स्वकथित लक्षण के समर्थन में "तत्त्वार्थभाष्य" का अंश यहाँ उद्धृत करते हैं। भाष्य में सत् शब्द "खपुष्पादि" असत्पदार्थों की व्यावृत्ति के लिए निर्दिष्ट है, सत्पदार्थ भी साम्प्रत अर्थात् वर्त्तमान ही "ऋजुसूत्र" को सम्मत है। तथा अर्थों का अभिधान अर्थात् वाचक शब्द भी वर्त्तमान ही ऋजुसूत्र को मान्य है। अतीत और अनागत शब्द को वह अर्थवाचक नहीं मानता है क्योंकि अतीत और अनागत शब्दों से किसी अर्थ का अभिधान नहीं होता। तथा, सत् और वर्त्तमान अर्थों का परिज्ञान अर्थात् अवबोध भी वर्त्तमान ही मान्य करना चाहता है। अतीत और आगामि परिज्ञान को यह नहीं चाहता। क्योंकि सत्=वर्तमान अर्थ विषयक ज्ञान का अतीत और अनागत स्वभाव नहीं हो सकता। इसलिए 'अर्थ और तद्वाचक शब्द तथा तद्विषयकज्ञान इन तीनों को स्वकीय और वर्तमान ही जो मानता हो ऐसा अध्यवसायविशेष' ही ऋजुसूत्र का लक्षण उक्तभाष्य से फलित होता है। ग्रन्थकार के लक्षण में "प्रत्युत्पन्नग्राही" पद से भी यही अर्थ निकलता है। ग्रन्थकार का यह कहना है कि व्यवहारनय की अपेक्षा से "ऋजुसूत्र" में कुछ अतिशय है अर्थात् विशेष है। इसलिए व्यवहारातिशायित्व ही "ऋजुसूत्र" का लक्षण है। इस अतिशय का प्रतिपादन करने के लिए इस भाष्य की प्रवृत्ति हुई है। "व्यवहारनय" अतीत अनागत और परकीय अर्थ को भी मानता है तथा अतीत अनागत और परकीय अर्थवाचक शब्द को भी मानता है। तथा, अर्थविषयकज्ञान भी अतीत अनागत और परकीय होने का मानता है। "ऋजुसूत्र" ऐसे किसी भी अर्थ, शब्द या ज्ञान को स्वीकार नहीं करता जो अतात अनागत या परकीय हो, किन्तु वर्त्तमान और स्वकीय हो ऐसे ही शब्द, अर्थ तथा ज्ञान को मानता है, यही व्यवहार की अपेक्षा से ऋजुसूत्र में अतिशय या विशेष है।

[ऋजुसूत्र का व्यवहारनयवादी के प्रति प्रश्नार्थ]

(व्यवहारो) ऋजुसूत्र में व्यवहारातिशायित्व के प्रतिपादन में ऋजुसूत्र का आशय यह है कि "व्यवहार" सामान्य को नहीं मानता है। इस का कारण यह है कि जलाहरणादि व्यवहार घटत्वादि सामान्य से नहीं होता किन्तु घटादिरूप व्यक्तिविशेष से ही होता है, इसलिए व्यवहार का साधन व्यक्तिविशेष ही है, सामान्य नहीं है। जिस से व्यवहार न हो सकता हो ऐसी वस्तु को मानने में कोई प्रयोजन नहीं है। इस अभिप्राय से यदि व्यवहारनय सामान्य को नहीं मानता है तो, परकीय, अतीत और अनागत अर्थ को भी वह कैसे मानेगा क्योंकि परकीय अर्थ भी स्वकीय व्यवहार का साधन नहीं

न चायं वृथाभिमानः, स्वदेशकालयोरेव सत्ताविश्रामात्, यथा कथञ्चित् सम्बन्धस्य सत्ताव्यवहारांगत्वेऽतिप्रसङ्गात् । न च देशकालयोः सत्त्वं विहायान्यदतिरिक्तं सत्त्वमस्ति यद्योगिता प्रकृते स्यात्, असत्ताबोधोऽपि चास्ति तत्र सत्ताक्षेपी, सत्ताननुवेधात्, अन्यथा खरशृङ्गादीनामसत्ता न सिद्धयेत । 'उद्देश्यासिद्धया क्व विधेयाऽसत्ते'ति चेत् ? कथं तर्हि खरशृङ्गमसदिति व्यवहारः ! 'खरवृत्त्यभावप्रतियोगिशृङ्गमिति तदर्थ' इति चेत् ? न, एतस्यार्थस्याऽस्वारसिकत्वात् । 'तवाप्ययोग्यता-

---

नहीं है और अतीत, अनागत-परकीय अर्थ से तो व्यवहार होता ही नहीं है । इसीतरह अतीत, अनागत और परकीय अर्थ वाचक शब्द भी अतीत, अनागत और परकीय ही होंगे, जो व्यवहार के अंग नहीं बन सकते हैं । एवम् अतीत, अनागत और परकीय अर्थ विषयक ज्ञान को भी व्यवहारनय कैसे मानेगा, क्योंकि तादृशज्ञान के विषयभूत अर्थ अतीत, अनागत और परकीय ही होंगे, जो व्यवहार के साधन नहीं हो सकते हैं, तब उस का ज्ञान भी व्यवहारसाधक कैसे होगा ? तथापि यदि अतीत, अनागत अर्थ, तादृशार्थ वाचक शब्द और तादृशार्थविषयकज्ञान को "व्यवहार" मानेगा तो वह "व्यवहारनय" की मान्यता विचारपूर्वक नहीं होगी, किंतु भ्रान्त मानी जायगी, क्योंकि सूक्ष्मविचार करने पर अतीत, अनागत-परकीय अर्थ और तथाविध अर्थवाचक शब्द तथा तादृशार्थविषयकज्ञान युक्ति से घटमान नहीं होता है, इसलिए वे माने जा सकते नहीं हैं, यही ऋजुसूत्र में व्यवहार की अपेक्षा से अतिशय है, ऐसा ऋजुसूत्र का अभिमान यानी गूढ आशय है ।

[ऋजुसूत्र का अभिमान मिथ्या नहीं है]

(न चायं) यह कहना ठीक नहीं कि-'ऋजुसूत्र का यह अभिमान वृथा है क्योंकि ऋजुसूत्र के उक्त अभिमान से व्यवहारनय अपने मन्तव्यों का त्याग नहीं करेगा, तब इस अभिमान का कोई फल नहीं रहता है ।'-यह कहना इसलिये ठीक नहीं है, कि स्वदेश और स्वकाल में ही वस्तु में सत्ता सिद्ध होती है । अतीतानागतकालीन वस्तु से कोई व्यवहार नहीं होता । स्वदेश और स्वकाल में स्थित वस्तु से ही व्यवहार देखने में आता है, जिस से वस्तु की सत्ता स्वदेशकाल में ही सिद्ध होती है । अतः अर्थ, अभिधान और ज्ञान की सत्ता अन्यकाल में सिद्ध न होने के कारण ऋजुसूत्र का अभिमान निष्फल नहीं है, क्योंकि अपनी मान्यता का समर्थन रूप फल सिद्ध होता है, व्यवहारनय भले ही ऋजुसूत्र के अनुसार अपनी मान्यता न रखे, माने या न माने, उस से कोई निस्बत नहीं है । यदि यह पूछा जाय कि-'अन्यदेश और अन्यकाल वृत्ति वस्तु का भी ज्ञान होता हैं, इसलिये वैज्ञानिक सम्बन्ध से ही अतीतानागत वस्तु में सत्ता का व्यवहार क्यों नहीं होगा ?'- तो यह पूछना भी युक्त नहीं, क्योंकि वैज्ञानिक सम्बन्ध को यदि सत्ताव्यवहार का कारण माना जायगा, तो खरगोश, अश्व आदि शृङ्गरहित प्राणीओं में भी शृङ्ग का वैज्ञानिक सम्बन्ध मानकर "यह खरगोश शृंग है, यह अश्व शृङ्ग है" इसतरह के सत्ताव्यवहार का अतिप्रसङ्ग हो जायगा । 'अतीत, अनागतादि वस्तुओं में किसी अन्यप्रकार की

निश्चये कथं स्वारसिको यथाश्रुतार्थबोध' इति चेत् ? रूपादिस्थल इवाहार्ययोग्यतानिश्चयत्वात्, विकल्पात्मकज्ञाने तस्याऽप्रतिबन्धकत्वाद्वा तथा चोक्तं श्रीहर्षेणापि

"अत्यन्ताऽसत्यपि ह्यर्थे, ज्ञानं शब्दः करोति हि ।
अबाधात्तु प्रमामत्र स्वतःप्रामाण्यनिश्चलाम्" ॥१॥ [खंडनखंडखाद्य–१]

सत्ता, जो अन्यवादियों से परिकल्पित सत्ताजातिमत्त्वादिरूप है, उस के योग से सत्ता व्यवहार क्यों नहीं होगा ?' ऐसा भी पूछना ठीक नहीं है क्योंकि स्वदेशकाल में जो अर्थक्रियाकारित्वरूप सत्त्व है, उस से भिन्न प्रकार की सत्ता ऋजुसूत्र की दृष्टि से है ही नहीं। तब अन्य वादी कल्पित सत्त्व की अपेक्षा से अतीतानागतादि वस्तुओं में सत्ता का व्यवहार ऋजुसूत्र को कैसे मान्य होगा ? दूसरी बात यह है कि अतीत, अनागत और परकीय वस्तुओं में "अतीत असत् है, अनागत असत् है, परकीय वस्तु असत् है" इसतरह का असत्ताप्रकारक अतीतादिविशेष्यक बोध भी होता है, जो अतीत, अनागत, परकीय वस्तु में सत्ता का प्रतिक्षेप करता है क्योंकि उक्त बोध में सत्ता का अनुप्रवेश नहीं भासता है। इसलिये भी अतीत, अनागत और परकीय वस्तु को सत्ता सिद्ध नहीं हो सकती। यदि सत्ता का प्रतिक्षेपक असत्ताप्रकारक अतीतादि विशेष्यक बोध रहने पर भी अतीत, अनागत और परकीय को सत्ता मानी जाएगी, तो गर्दभशृङ्गादि की भी असत्ता सिद्ध नहीं होगी। "गर्दभशृङ्ग असत् है" ऐसा बोध होने पर भी अतीत आदि के जैसे गर्दभ शृङ्गादि की सत्ता न मानने का दूसरा कोई कारण नहीं रह जायगा, इस से अतीतादि को असत् मानना ही युक्त है।

(उद्देश्य) यदि यह कहा जाय कि–"गर्दभशृङ्ग आदि में असत्ता का विधान ऋजुसूत्र को भी अभीष्ट है, परन्तु यह सम्भव नहीं है, क्योंकि किसी प्रसिद्ध वस्तु में ही किसी धर्म का विधान लोक में दृष्ट है। जैसे–"पर्वत अग्निवाला है" इस ज्ञान में पर्वत उद्देश्य है, जो प्रत्यक्षप्रमाण से प्रसिद्ध है, इसलिए उस में अग्नि का विधान युक्त है। "गर्दभशृङ्गादि" तो किसी प्रमाण से प्रसिद्ध नहीं है, अतः उस में असत्ता का विधान कैसे हो सकेगा ? तब गर्दभशृङ्गादि में असत्ता की सिद्धि कैसे संभवित है ?'–परन्तु यह प्रश्न भी ठीक नहीं, क्योंकि गर्दभशृङ्ग आदि को उद्देश्य कर के यदि असत् का विधान सम्भवित नहीं होगा तो "गर्दभशृङ्ग असत् है" इसतरह का व्यवहार जो लोक में होता है, उस की उपपत्ति कैसे होगी–यह प्रश्न खडा हो जाता है। यदि यह कहा जाय कि "गर्दभसींग असत् है" इस वाक्यप्रयोग से सींग गर्दभवृत्ति अभाव का प्रतियोगी है, ऐसा अर्थ हम समझेंगे, क्योंकि गर्दभ में सींग तो होता नहीं है, इसलिए सींग के अभाव का होना युक्त हो है और सींग के अभाव का प्रतियोगी तो सींग होता ही है। इस अर्थ के अनुसार "गर्दभसींग असत् है" इसतरह का व्यवहार होने में कोई बाधक नहीं है'–किन्तु यह कहना भी ठीक नहीं है क्योंकि गर्दभवृत्ति अभाव का प्रतियोगि सींग है, इसतरह का अर्थबोध 'गर्दभसींग असत् है' इस वाक्य के स्वारस्य से अथवा अभिप्राय से सिद्ध नहीं होता है किन्तु "गर्दभसींग विशेष्यक असत्त्वप्रकारक बोध" का ही अनुभव होता है।

यदि यह कहा जाय कि–"गर्दभसींग प्रसिद्ध वस्तु तो है नहीं, प्रसिद्ध वस्तुओं में ही किञ्चित्प्रकारक, किञ्चिद्विशेष्यक बोध देखा जाता है। जैसे–"भूतल घटवाला है" ऐसा वाक्यप्रयोग होता है उस में विशेष्यरूप से अभिमत भूतल है और विशेषणरूप से अभिमत घट है और भूतल में घट का बाध नहीं है, इसलिए भूतल में बाधाभावरूप योग्यता भी है। योग्यताज्ञान को शाब्दबोध में कारण माना गया है, अयोग्यतानिश्चय को प्रतिबन्धक माना गया है। गर्दभसींग में जब कोई धर्म नहीं रहता है, तब असत्त्वधर्म भी नहीं रहेगा। असत्त्वधर्म का वहाँ बाध होने से अयोग्यतानिश्चयरूप प्रतिबन्धक की सत्ता में "गर्दभसींग असत् है" इस वाक्य से आप को भी "गर्दभसींग विशेष्यक असत्त्व प्रकारक स्वारसिक बोध" जो इस वाक्य में पठित पदों के अनुसार मानते हैं वह कैसे होगा ?"–परन्तु यह कहना भी ठीक नहीं हैं। "मुखं चन्द्रः" ऐसा वाक्यप्रयोग होता है, इस वाक्य में मुखरूप उपमेय में चन्द्ररूप उपमान के अभेद का आरोप होता है, अतः 'मुख चन्द्र से अभिन्न है' ऐसा बोध होता है। उपमेय में उपमान का अभेदज्ञान जहाँ होता है वहाँ रूपकालंकार माना जाता है, यह साहित्यकारों का सिद्धान्त है। इसीलिए इस वाक्य को वे लोग रूपकालङ्कार का उदाहरण मानते हैं। मुख में चन्द्र का अभेद बाधित है, तो भी 'चन्द्र से अभिन्न मुख है' ऐसा बोध होता है, उस का कारण यह है कि मुख में चन्द्र का अभेद वाक्यप्रयोगकर्त्ता को अभीष्ट है, इसलिए बाध होते हुए भी चन्द्र के अभेद का बोध मुख में श्रोता को भी होता है, यह ज्ञान योग्यता के आहार्य निश्चय से होता है। आहार्यनिश्चय उसे कहते हैं जो बाध होते हुए भी इच्छाधीन निश्चय हो। प्रकृत में भी गर्दभसींग में असत्त्वरूप धर्म का बाध होने पर भी गर्दभसींग में इच्छाधीन असत्त्व का निश्चय मानकर तत्स्वरूप आहार्य योग्यतानिश्चय के बल से "गर्दभसींग असत् है" इस वाक्य से गर्दभसींग विशेष्यक असत्त्वप्रकारक स्वारसिक बोध होने में कोई बाधा नहीं दीखती। अथवा "गधे का सींग असत् है" इस वाक्य से जो ज्ञान उत्पन्न होता है वह विकल्परूप ज्ञान है। विकल्प का लक्षण "शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः" इस पातञ्जलसूत्र (१–९) के अनुसार यह होता है कि शब्द सुनने के बाद वस्तुशून्य जो ज्ञान हो वह विकल्प कहा जाता है। विकल्पात्मक ज्ञान के प्रति अयोग्यतानिश्चय या बाधनिश्चय प्रतिबन्धक नहीं माना जाता। "गधे का सींग असत् है" इस वाक्य से होनेवाला शाब्दबोध भी वस्तुशून्य होता है, इसलिए विकल्परूप है, अतः इस के प्रति अयोग्यतानिश्चयप्रतिबन्धक नहीं होगा तो इस वाक्य से स्वरसिक गर्दभसींग विशेष्यक असत्त्वप्रकारक यथाश्रुतार्थबोध होने में कोई हर्ज नहीं है। "श्रीहर्ष" ने स्वरचित खण्डनखण्डखाद्य ग्रन्थ में भी ऐसा लिखा है–अर्थ के अत्यन्त असत् होने पर भी तदर्थविषयकज्ञान शब्द अवश्य करता है, शब्द से उत्पद्यमान उस ज्ञान के विषय का बाध यदि हो तो अप्रमाणरूप से उस का व्यवहार करना चाहिए। शब्द से उत्पद्यमान ज्ञान में विषय का बाध यदि न हो तो, प्रमाणरूप से उस का व्यवहार करना चाहिए।" "अंगुली के अग्रभाग में सौ हाथी विहार करते हैं" तथा "मेरे कान में प्रवेश करके सिंह हल्ला करता है"–इन वाक्यों के श्रवण से श्रोता को कुछ ज्ञान अवश्य होता है यह अनुभवसिद्ध है, इसलिए शाब्द ज्ञान में योग्यताज्ञान को कारण, अथवा अयोग्यता-

अथाऽसतोऽभावाश्रयत्वमभावप्रतियोगित्वं च भावधर्मरूपं न सम्भवतीति न तन्निषेधो युक्तः। 'शशशृङ्गमस्ति न वे'ति पृच्छतो धर्मिवचनव्याघातेनैव निग्रहात्तत्रान्यतराभिधानेनोभयनिषेधेन तूष्णीम्भावेन वा पराजयाऽभावादिति चेत्? न, यथा परेषां विशिष्टस्यातिरिक्तस्याऽसत्त्वेऽपि तत्राभावाश्रयत्वस्याभावप्रतियोगित्वस्य वा व्यवहारस्तथास्माकमपि सदुपरागेणासत्यपि विशिष्टे वैज्ञानिकसम्बन्धविशेषरूपतद्व्यवहारोपपत्तेः। 'शशशृङ्गमस्ति न वे'ति जिज्ञासुप्रश्ने 'शशशृङ्गं नास्ती'त्येवाभिधातुं युक्तत्वात्, आनुपूर्वीभेदादुद्देश्यसिद्धेः। इत्थमेव 'पीतः शङ्खो नास्ती'त्यादेरपि प्रामाण्योपपत्तेः। काल्पनिकस्याप्यर्थस्य परप्रतिबोधार्थतया कल्पिताहरणादिवद्व्यवहारतः प्रामाण्यात्, इत्थमेव नयार्थरुचिविशेषापादनाय तत्र तत्र नयस्थले दर्शनान्तरीयपक्षग्रहस्य तान्त्रिकैरिष्टत्वादिति दिक्।

निश्चय को प्रतिबन्धक, नहीं माना गया है, किन्तु इन वाक्यों से उत्पद्यमान ज्ञान में विषय का बाध होने से ये ज्ञान अप्रमाण माने जाएँगे, यह बात अलग है। श्रीहर्ष के कथन से "गधे का सींग असत् है" इस वाक्य से स्वारसिक यथाश्रुतार्थबोध जो ऋजुसूत्र नय को अभिमत है, उस को समर्थन मिलता है क्योंकि यह वाक्य, अर्थ के अत्यन्त असत् होने पर भी यथाश्रुतार्थबोध अवश्य करेगा, किन्तु निर्धर्मक अत्यन्त असत् "गधे के सींग" में असत्त्वरूप धर्म के सम्बन्ध का बाध होने के कारण अप्रमाणरूप होगा, यह बात अलग है।

[असत् में भावधर्म सम्भव न होने से निषेध अनुपपत्ति—शंका]

(अथाऽसतो) यह शङ्का उठ सकती है कि-'गधे का सींग असत् है' इस वाक्य से गर्दभ सींग विशेष्यक असत्त्वप्रकारक बोध यदि आप को इष्ट है, तो गर्दभसींग का निषेध ही आप करना चाहते हैं, अब देखिये कि खरशृङ्ग का निषेध दो प्रकार से आप के मत में सम्भव होगा। (१) उस में एक प्रकार तो यह है कि उक्त बोध में असत्त्व शब्द का सत्त्वाभाव अर्थ मानकर गर्दभसींग में सत्त्वाभावाश्रयत्व की प्रतीति करनी होगी। आश्रयत्व किसी भावपदार्थ का ही धर्म रूप होता है। गर्दभसींग तो अत्यन्त असत् है, उस में सत्त्वाभावाश्रयत्व सम्भवित नहीं है क्योंकि असत् किसी का आश्रय नहीं बनता है, तब आश्रयत्व भी उस में कैसे सम्भव होगा? इसलिए गर्दभसींग में सत्त्वाभावाश्रयत्वरूप गर्दभ सींग का निषेध युक्तिसंगत नहीं लगता है। (२) यदि अभावप्रतियोगित्वरूप निषेध गर्दभसींग में माना जाय, जो निषेध करने का दूसरा प्रकार है, तो वह भी संगत नहीं है, क्योंकि अभावप्रतियोगित्व भी वस्तु का ही धर्म है। आचार्य "उदयन" ने भी "अभावविरहात्मत्वं वस्तुनः प्रतियोगिता" इस वाक्य से प्रतियोगिता का लक्षण बताते हुए, प्रतियोगिता को वस्तु का धर्म बताया है। गर्दभसींग तो तुच्छ होने से अवस्तु है, उस का धर्म प्रतियोगित्व या अभावप्रतियोगित्व नहीं हो सकता है, इसलिए 'गर्दभसींग नहीं है'। इस वाक्य से जो यथाश्रुतार्थबोध ऋजुसूत्र को अभिमत है वह ठीक नहीं है।

यदि इस पर यह कहा जाय कि-"असत् गर्दभसींग आदि का जैसे निषेध सम्भव नहीं है, वैसे उस का विधान भी सम्भव नहीं है क्योंकि विधान भी किसी भाव धर्म का ही होता है। इस स्थिति में "शशशृङ्गमस्ति न वा" ऐसा यदि कोई प्रश्न करें तो उत्तरदाता यदि कहें कि 'शशशृङ्ग है' तो वह अयुक्त भाषण के कारण निगृहीत हो जायगा। यदि उत्तर में यह कहें कि 'शशशृङ्ग नहीं है,' तो भी वह अयुक्तभाषी ही माना जायगा क्योंकि 'शशशृङ्ग का निषेध किसी भी प्रकार से नहीं हो सकता' ऐसा आपने ही सिद्ध किया है, अतः "नास्ति" इस उत्तर में भी उत्तरदाता पराजित हो जायगा। यदि उत्तरदाता कुछ भी न बोलेगा, तो भी उत्तराप्रतिपत्तिरूप अप्रतिभा नाम के निग्रहस्थान में वह निगृहीत होने के कारण अवश्य पराजय को प्राप्त करेगा। इस रीति से उत्तर देने में भी उत्तरदाता को बंधन प्राप्त होता है और न देने में भी बन्धन प्राप्त होता है, अतः "उभयतःपाशा रज्जुः" इस न्याय से उत्तरदाता को किंकर्तव्यविमूढ होना पडेगा।-"परंतु यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि प्रश्नकर्ता को अपने वचन में ही विरोध आता है, वह इस प्रकार-"शशशृंगं अस्ति न वा ?" इस प्रश्न वाक्य में अस्तित्व और निषेध धर्मरूप से प्रतीत होता है, "शशशृङ्ग" धर्मीरूप से प्रतीत होता है, वह अत्यंत असत् होने के कारण तुच्छ है, उस में अस्तित्व, नास्तित्व का प्रश्न ही नहीं हो सकता, इसलिए धर्मीविचनव्याघात यहाँ उपस्थित होता है, उसी से प्रश्नकर्ता का निग्रह हो जाता है इस हेतु से प्रश्नकर्त्ता को पुनः कुछ बोलने का अधिकार नहीं रहता है। इस स्थिति में उत्तरदाता यदि "अस्ति वा नास्ति" इन दोनों में किसी का कथन करे अर्थात् अस्तित्व या नास्तित्व का विधान करे अथवा अस्तित्व नास्तित्व उभय का निषेध करे, या कुछ भी न बोले तो भी उत्तरदाता को पराजय की प्राप्ति नहीं हो सकती है। इस तरह प्रश्न कर्ता के स्वयं ही निगृहीत हो जाने पर उत्तरदाता के किसी भी प्रकार के अभिधान को असत् बनाने का अधिकार प्रश्नकर्ता को नहीं रहता है और उत्तरदाता यदि कुछ भी न बाले तो भी उस में अप्रतिभारूप निग्रहस्थान लागू नहीं होता है, उत्तर देने योग्य प्रश्न का उत्तर यदि प्रतिवादी न दे सके, वैसे स्थल में ही अप्रतिभारूप निग्रह स्थान लागू होता है। "शशशृङ्गमस्ति न वा" यह प्रश्न उत्तर देने योग्य ही नहीं है, क्योंकि शशशृङ्ग में अभावाश्रयत्व और अभावप्रतियोगित्व किसी का सम्भव नहीं है, इसलिए उत्तरदाता को मौन रहने पर भी पराजय नहीं प्राप्त होता है। अतः "शशशृङ्गमसत्" इस वाक्य से शशशृङ्ग का निषेध जो ऋजुसूत्र मानता है, वह युक्त नहीं है।"

[वैज्ञानिक सम्बन्ध के उपराग से शशसींग में नास्तित्यवहार—समाधान]

इस आशङ्का का समाधान करते हुए ग्रन्थकार बताते हैं कि जैसे "न्याय, वैशेषिक" आदि अन्य दर्शनवादियों के मत में "विशिष्ट यह शुद्ध वस्तु से भिन्न नहीं होता" इस सिद्धान्त के अनुसार शुद्ध की अपेक्षा से अतिरिक्त विशिष्ट असत् माना जाता है, जैसे-कुण्डलरहित चैत्र की अपेक्षा से "कुण्डल विशिष्ट चैत्र" उन के मत में अतिरिक्त नहीं है, क्योंकि चैत्र व्यक्ति तो वही है जो पूर्वकाल में कुण्डल रहित था, उत्तरकाल में कुण्डलरूप विशेषण के योग से वह चैत्र नहीं है ऐसा नहीं कहा जा सकता, इसलिए कुण्डल

विशिष्ट होने पर भी वह चैत्र ही है किन्तु चैत्र से अतिरिक्त नहीं है। इसतरह शुद्ध से अतिरिक्त विशिष्ट उन के मत में असत् रूप से मान्य है, तो भी कुण्डलविशिष्ट चैत्र में मैत्रत्व तो नहीं रहता है, इसलिए "मैत्रत्वाभाववान् कुण्डलविशिष्टः चैत्रः" यह प्रतीति होती है। इस प्रतीति के अनुसार मैत्रत्वाभावाश्रयता का व्यवहार, विशिष्ट चैत्र, जो असत् है, उस में वे लोग करते हैं। एवं 'इस प्रदेश में कुंडलविशिष्ट चैत्र नहीं है-इस तरह की प्रतीति वे लोग प्रमाण मानते हैं, इस प्रतीति से "एतद्देशवृत्तिअभावप्रतियोगित्व" असत्-विशिष्ट चैत्र में भासित होता हैं, इसलिए कुण्डलविशिष्ट चैत्र "एतद्देशवृत्तिअभावप्रतियोगितावान्" ऐसा व्यवहार उन के मत में होता है। वैसे ही हमारे मत में भी असत् शशशृङ्गरूप विशिष्ट में अभावाश्रयत्व और अभावप्रतियोगित्वरूप सद् वस्तु का वैज्ञानिक सम्बन्धरूप उपराग मानकर "शशशृङ्गमसत्" "खरशृङ्गमसत्" इत्यादि व्यवहारों का उपपादन हो सकता है।

आशय यह है कि यद्यपि शशशृङ्गादि में असत्त्व का या अभावाश्रयत्व का और अभावप्रतियोगित्व का लोकप्रसिद्ध स्वरूपआदिसम्बन्ध होना सम्भवित नहीं है, तो भी "शशशृङ्गमसत्" "शशशृङ्गं सत्त्वाभाववत्" "शशशृङ्गमभावप्रतियोगि" इत्यादि विकल्पात्मक ज्ञान होते हैं, तद्विषयता शशशृङ्ग और असत्त्व आदि में अवश्य है, इसलिए एकज्ञानविषयता शशशृङ्ग और असत्त्वादि में अवश्य रहती है, अतः "एक ज्ञान विषयता" सम्बंध से या "स्वविषयक ज्ञानविषयता" सम्बन्ध से असत्त्वादि का शशशृङ्गादि में रहना सम्भव होने से "शशशृङ्गमसत्" इत्यादि व्यवहार ऋजुसूत्र के मत में भी उपपन्न होने में कोई बाधक नहीं है। यदि यह कहा जाय कि-"असत् विशिष्ट में वैज्ञानिक संबन्ध की कल्पना कर के "शशशृङ्गमसत्" इस व्यवहार का उपपादन करने की अपेक्षा "शशवृत्ति अभावप्रतियोगिशृङ्गम्" ऐसा अर्थ मानकर "शशशृङ्गमसत्" इस व्यवहार का उपपादन करने में लाघव है, क्योंकि इस अर्थ में वैज्ञानिक संबन्ध की कल्पना नहीं करनी पडती है, तब वैज्ञानिक संबन्ध कल्पनारूप गौरव से युक्त रीति का आश्रयण कर के उक्त व्यवहार का उपपादन करना युक्त नहीं है।"-परंतु यह कहना भी ठीक नहीं हैं, क्योंकि "शशशृङ्गमस्ति न वा" इसतरह का प्रश्न जिज्ञासु व्यक्ति करता है। "शशशृङ्ग में अस्तित्व है या नास्तित्व है" यही जानने की इच्छा प्रश्नकर्त्ता को है, इस स्थिति में उत्तरदाता को इन्हीं दोनों में से किसी एक का विधान शशशृङ्ग में करना चाहिए, अतः उस प्रश्न के उत्तर में "शशशृङ्ग नास्ति" ऐसा ही कहना युक्त है क्योंकि ऐसा कहने पर ही नास्तित्व का विधान सिद्ध होता है। यदि "शृङ्ग शशवृत्तिअभावप्रतियोगी है" ऐसा उत्तर दिया जाय तो वह संबद्ध न होगा। "शृङ्ग शशवृत्तिअभावप्रतियोगी है या नहीं?" इसतरह का प्रश्न होता, तब तो वह उत्तर संगत होता, परन्तु प्रश्न तो शशशृङ्ग में अस्तित्व-नास्तित्व विषयक है इसलिए 'शशशृङ्ग नहीं है' ऐसा ही उत्तर देना उचित है। इस उत्तर का उपपादन करने के लिए वैज्ञानिक संबन्ध को मानना भी आवश्यक है, क्योंकि उस को माने बिना इस उत्तर का उपपादन नहीं हो सकता है, अतः वैज्ञानिक संबन्ध कल्पनारूप गौरव यहाँ दोषरूप नहीं है, क्योंकि वह फलमुख गौरव है। फलमुख गौरव का शास्त्रकारों ने स्वीकार किया है।

यदि यह कहा जाय कि–"शशशृङ्ग तो अप्रसिद्धवस्तु है, अप्रसिद्धवस्तु किसी विधेय का उद्देश्य नहीं बनती है, तब शशशृंग में नास्तित्वरूप विधेय का विधान ही नहीं हो सकता है, इसलिए शशशृंग नास्ति इसतरह के उत्तर का अभिधान युक्त कैसे माना जायगा ?" परन्तु, यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि "शशशृंग नास्ति" इस अभिधान में "शशपदोत्तर शृंगपदत्वरूप आनुपूर्वी विशिष्ट शशशृंगपद का उच्चारण है, इसलिए शशशृंग की उपस्थिति उक्त आनुपूर्वी विशिष्ट पद से हो जाती है, अतः शशशृंगरूप उद्देश्य की सिद्धि अर्थात् ज्ञान, पद से ही हो जाता है, उस में नास्तित्व का विधान इस वाक्य से किया जाता है, जो वैज्ञानिक सम्बन्ध मानकर ही सम्भवित होता है। यहाँ यह ध्यान में रखना चाहिए कि "आनुपूर्वी" शब्द का आनुपूर्व्य अर्थ होता है। वह आनुपूर्वी कई प्रकार की होती है। जैसे-वर्णानुपूर्वी, पदानुपूर्वी, वाक्यानुपूर्वी। वर्णों के क्रमिक उच्चारण को वर्णानुपूर्वी कहा जाता है, यह आनुपूर्वी पदों में रहा करती है, जैसे "घट" पद में घ, अ, ट, अ इन चार वर्णों का उच्चारण क्रमशः होता है, अतः "घट" पद में घकारोत्तरत्व विशिष्ट जो अकार, तदोत्तरत्व विशिष्ट जो टकार, तदुत्तरत्व विशिष्ट अत्वरूप जो आनुपूर्वी, यह आनुपूर्वी "पटादि" पदों में नहीं है, किन्तु पकारोत्तरत्व घटित आनुपूर्वी उस में है, जो "घट"पद गत आनुपूर्वी से भिन्न है। जहाँ पदों का क्रमशः उच्चारण होता है, वहाँ पदानुपूर्वी शब्दप्रयोग किया जाता है। यह पदानुपूर्वी समस्त पदों में या वाक्य में रहती है। "शशशृङ्ग" शब्द में "शश" पद के बाद "शृङ्ग" पद का उच्चारण होता है, इसलिए निर्विभक्तिक शशपदोत्तरत्वविशिष्ट शृङ्गपदत्वरूप पदानुपूर्वी "शशशृङ्ग" इस समस्त पद में है। "शशे शृङ्गं नास्ति" इस वाक्य में भी पदानुपूर्वी रहती है, जो "सप्तम्यन्त" शशपदोत्तरत्व विशिष्ट प्रथमान्त "शृङ्गपद," तदुत्तरत्व विशिष्ट जो "न" पद, तदुत्तरत्वविशिष्ट "अस्ति" पदत्वरूप है। "मृगो धावति, तं पश्य" इस वाक्य में "मृगो धावति" यह एक अवान्तरवाक्य है, "तं पश्य" यह दूसरा अवान्तर वाक्य है, इन दोनों वाक्यों का क्रमशः उच्चारण होता है, इसलिए "मृगो धावति" एतद्वाक्योत्तरत्व विशिष्ट "तं पश्य" इति वाक्यत्वरूप आनुपूर्वी "मृगो धावति, तं पश्य" इस महावाक्य में है। प्रकृत में "शशवृत्ति-अभावप्रतियोगि शृङ्गम्" इस वाक्य में शशवृत्ति-अभावप्रतियोगि-पदोत्तरत्वविशिष्टशृङ्गपदत्वरूप आनुपूर्वी है। अतः शृङ्गरूप उद्देश्य में शशवृत्ति-अभावप्रतियोगित्व का विधान किया जाय तो संगत होगा, परन्तु वह आनुपूर्वी "शशशृङ्गं नास्ति" या "शशशृङ्गमसत्" इन दोनों वाक्यों में नहीं है, किन्तु उस से भिन्न आनुपूर्वी है, जो "शशशृङ्गं नास्ति" इस वाक्य में "प्रथमान्त" शशशृङ्गपदोत्तरत्वविशिष्ट जो "न" पद तदुत्तरत्वविशिष्ट "अस्ति" पदत्वरूप है और "शशशृङ्गमसत्" इस वाक्य में प्रथमान्त शशशृङ्ग पदोत्तरत्वविशिष्टअसत्पदत्वरूप है, इसलिए 'शशशृङ्ग' पद से होनेवाले बोध का विषय शशशृङ्ग ही उद्देश्य होगा। यदि 'शशशृङ्ग' पद से बोध ही न होता, तब तो उद्देश्यासिद्धि मानी जाती, ऐसा तो नहीं है, किन्तु 'शशशृङ्ग' पद से बोध होता है, वह बोध ही उद्देश्यसिद्धिरूप है। वह बोध प्रमाणरूप नहीं है, यह अन्य बात है। अतः "शशशृंगं नास्ति," या "शशशृंगमसत्" इसतरह के अभिधान में या व्यवहार में उद्देश्य की असिद्धि बताना युक्त नहीं है।

अस्यापि चत्वारो निक्षेपा अभिमताः । द्रव्यनिक्षेपं नेच्छत्ययमिति वादि–

यदि आनुपूर्वीपद से आकांक्षा का परिग्रह किया जाय, तो भी शशशृङ्गपद जन्य-बोध विषय में ही नास्तिपदार्थ के अन्वय की आकांक्षा मानी जायगी, इसलिए "शश-शृङ्गरूप" उद्देश्य की सिद्धि अवश्य माननी पडेगी। उस के बिना इस वाक्य से निराकांक्ष-बोध नहीं हो सकेगा, अतः उद्देश्यासिद्धि का आपादान करना युक्त नहीं होगा। विशिष्ट के अप्रसिद्ध होने पर भी वैज्ञानिक सम्बन्ध विशेष को मानकर "शशशृङ्गं नास्ति" इस वाक्य में जैसे प्रामाण्य होता है उसीतरह "पीतः शङ्खो नास्ति" इस वाक्य में भी वैज्ञानिक सम्बन्ध को मानकर ही प्रामाण्य का उपपादन शक्य है, क्योंकि यहाँ भी पीतशंखरूप विशिष्ट अप्रसिद्ध है, तब उस में नास्तित्व का विधान नहीं हो सकेगा। वैज्ञानिक सम्बन्ध मानने पर नास्तित्व का स्वविषयक ज्ञानविषयता सम्बन्ध पीतशंखरूप विशिष्ट में रहता है इसीलिए अप्रसिद्ध पीतशंख में उक्त सम्बन्ध से नास्तित्व का विधान हो सकता है, तब यह वाक्य प्रमाण बनता है। यदि यह कहा जाय कि–"शशशृङ्ग" और "पीतशंख," काल्पनिक है, इसलिए "नास्तित्व" भी उस में काल्पनिक ही होगा, तब "शशशृङ्गं नास्ति" "पीतशंखो नस्ति" इत्यादि वाक्यों से जन्यबोध प्रमाणरूप होवे, ऐसा सम्भव नहीं है, अतः प्रमाजनकत्वरूप प्रामाण्य इन वाक्यों में कैसे होगा ?"–परन्तु यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि काल्पनिक अर्थ भी दूसरे को प्रतिबोध करने के लिए व्यवहार से प्रमाण माना जाता है, जैसे कोई दुधाहारी बालक दूध के अभाव में रुदन करता है तो उस की माता चावल को धोकर उस पानी को दूध कहकर बालक को पिला देती है। बालक उस को सच्चा दूध मानकर पी लेता है और शान्त बन जाता है। वही काल्पनिक दूधरूप अर्थ ही बालकप्रतिबोधार्थक व्यवहार से प्रमाण बन जाता है, उसीतरह शशशृङ्ग, पीत शंख आदि अर्थ काल्पनिक होने पर भी व्यावहारिक प्रामाण्य उस में माना जायगा अतः "शशशृङ्गं नास्ति, पीतः शंखो नास्ति" इत्यादि वाक्यों का भी प्रामाण्य होने में कुछ बाध नहीं है। यदि यह कहा जाय कि–"आप ने तार्किकों की रीति को अपनाकर असत् विशिष्ट में वैज्ञानिक सम्बन्धापेक्षया "शखशृङ्गं नास्ति" इत्यादि वाक्य के प्रामाण्य का उपपादन किया यह ठीक नहीं, क्योंकि अपनी रीति से आप प्रामाण्य का उपपादन नहीं कर सके। दूसरे की रीति तो आप की दृष्टि में प्रमाण ही नहीं है, तब कैसे उस रीति का स्वीकार आप के लिये संगत होगा ?" परन्तु यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि स्याद्वादतंत्र के निष्णात आचार्यों ने भी तत् तत् नय प्रतिपादित अर्थों में रुचि विशेष का उपपादन करने के लिये उन उन नयस्थलों में अन्य दार्शनिकों की रीति के परिग्रह को भी इष्ट माना है, अतः यदि हम तार्किक रीति का अनुसरण कर के 'शशशृंग नास्ति' इत्यादि वाक्यों के प्रामाण्य का उपपादन करें तो कोई क्षति नहीं है।

[चारों निक्षेप ऋजुसूत्रनय को भान्य हैं]

(अस्यापी) जैसे "नैगमादि नयों को नामादि निक्षेप चतुष्टय अभिमत है वैसे ऋजु-सूत्रनय को भी नामनिक्षेपादि चारों निक्षेप मान्य हैं। "वादि सिद्धसेन" के मत का

सिद्धसेनमतानुसारिणः, तेषामुक्तसूत्रविरोधः। न चोक्त एवैतत्परिहार एतन्मतपरिष्कार इति वाच्यम्, नामादिवदनुपचरितद्रव्यनिक्षेपदर्शनपरत्वादुक्तसूत्रस्य तदनुपपत्तेः, अधिकमन्यत्र ॥४॥

आदेशान्तरे "यथार्थाभिधानं शब्दः" इति त्रयाणामेकं लक्षणम्। भावमात्राभिधानप्रयोजकोऽध्यवसायविशेष इत्येतदर्थः। तेन नातिप्रसङ्गादिदोषोपनिपातः।

अनुसरण करनेवाले आचार्यों का कथन यह है कि "ऋजुसूत्र" द्रव्यनिक्षेप को नहीं मानता है, इसलिए द्रव्य से भिन्न निक्षेपत्रय ही ऋजुसूत्र का अभिमत है,-परन्तु ऐसा उन का कथन संगत नहीं है, कारण, "उजुसुअस्स एगे अणुवउत्ते एग दव्वावस्सयं पुहत्त णेच्छइ" इस सूत्र का विरोध उन के मत में उपस्थित होगा। यह सूत्र "ऋजुसूत्र" में भी द्रव्यनिक्षेप का अभ्युपगम बताता है अतः उन वादीयों के मत से, ऋजुसूत्र यदि द्रव्यनिक्षेप को न मानेगा, तब इस सूत्र के साथ विरोध स्पष्ट होता है। यदि ऐसा कहा जाय कि "वादी सिद्धसेन के मत का परिष्कार पूर्व में किया गया है, वहाँ इस विरोध का परिहार भी किया गया है कि ऋजुसूत्र अनुपयोगांश को लेकर वर्तमान आवश्यक पर्याय में द्रव्य का उपचार मानता है, इसलिए उपचरित द्रव्यनिक्षेप का अभ्युपगम ऋजुसूत्र को है। उक्त सूत्र का ऐसा तात्पर्य मान लेने पर विरोध नहीं होता है क्योंकि उपचरित द्रव्य का अभ्युपगम होने पर भी ऋजुसूत्र को मुख्य द्रव्य का अभ्युपगम उक्त सूत्र से सिद्ध नहीं होता है"-परन्तु यह कहना भी ठीक नहीं है क्योंकि ऋजुसूत्र को जैसे अनुपचरित नामादि निक्षेपत्रय मान्य है, वैसे ही अनुपचरित द्रव्यनिक्षेप भी मान्य है, इस तथ्य का प्रदर्शन उक्त सूत्र से होता है, अतः 'उपचरित द्रव्यनिक्षेप का प्रदर्शन उस सूत्र से होता है' ऐसा मानकर विरोध का परिहार नहीं किया जा सकता। इसलिए उक्त सूत्र का विरोध वादीसिद्धसेन के मत में रहता ही है, अतः उन के मातानुसारी आचार्यों का कथन संगत नहीं है। इस विषय में अधिक चर्चा अन्य ग्रन्थ में की गई है, अतः जिज्ञासु उन ग्रन्थों के द्वारा ही विशेष ज्ञान प्राप्त कर सकेंगे।

[शब्दनय के निर्वचन में एक मत]

(आदेशान्तरे) तत्त्वार्थसूत्रकार साम्प्रत, समभिरूढ और एवम्भूत इन तीनों नयों का "शब्दनय" में ही अन्तर्भाव मानते हैं, उस मत के अनुसार शब्दनय का लक्षण ग्रन्थकार बताते हैं। वही मत "आदेशान्तर" शब्द से यहाँ विवक्षित है। उस मत के अनुसार नयों के पाँच ही भेद माने गए हैं, नैगम, संग्रह व्यवहार, ऋजुसूत्र और शब्द। एक आदेश (मत) ऐसा भी है जिस में नय के सात भेद माने गए हैं-नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, साम्प्रत, समभिरूढ और एवम्भूत। उस आदेश की अपेक्षा से भिन्न आदेशानुसार शब्दनय का लक्षण पहले दिया जाता है। "यथार्थाभिधानं शब्दः" (१-३५) तत्त्वार्थसूत्र के भाष्य में यह लक्षण बताया गया है, उसी लक्षण का उद्धरण इस ग्रन्थ में किया है। लक्षणान्तर्गत यथार्थपद से नाम, स्थापना, द्रव्य इन तीनों निक्षेपों से अतिरिक्त भाव घटादिरूप अर्थ यहाँ विवक्षित है। शब्दनय वर्त्तमान एवं आत्मीय भाव घट को ही मानता

तत्रापि (नामादिषु) प्रसिद्धपूर्वाच्छब्दादर्थप्रत्ययः साम्प्रत इति साम्प्रतलक्षणम् । प्रतिविशिष्टवर्त्तमानपर्यायापन्नेषु नामादिष्वपि गृहीतसङ्केतस्य शब्दस्य भावमात्र-

---

है, अतीतानागत परकीय को नहीं मानता, इसलिए वर्त्तमान आत्मीय भावघट ही इस की दृष्टि में यथार्थ है, तद्वाचक शब्द यथार्थ अभिधान है, तद्विषयक अध्यवसाय ही "शब्द-नय" पद से कहा जाता है । इसलिए यथार्थाभिधान विषयक अध्यवसाय यही शब्दनय का लक्षण फलित हुआ । सूत्र में जो 'शब्द' पद है, उस से "शब्दनय" रूप लक्ष्य का निर्देश किया गया है । "आकरग्रन्थों" में शब्द, समभिरूढ और एवम्भूत ये जो तीन भेद शब्दनय के बताये गए हैं, उन तीनों का यह एक ही लक्षण है । ग्रन्थकार ने "एक" पद का प्रयोग किया है, उस का अभिप्राय यह है कि एक ही लक्षण के लक्ष्य साम्प्रत, समभिरूढ और एवम्भूत-ये तीनों भेद है, अतः इन तीनों भेदों का अन्तर्भाव शब्दनय में हो जाता है । इसी दृष्टि से आदेशान्तर में नयों की संख्या पाँच ही होती है । यहाँ यह शङ्का उठती है-"यथार्थाभिधान तो नैगमादि नयों में भी होता ही है, अतः उक्त लक्षण की अतिव्याप्ति नैगमादि नयों में प्रसक्त होती है, तब तो "शब्दनय" का यह लक्षण निर्दोष कैसे माना जाय ?"-इस का समाधान करने के लिए ग्रन्थकार भाष्योक्त लक्षण का अर्थ प्रदर्शित करते हैं कि भावमात्र के अभिधान का प्रयोजक जो अध्यवसाय विशेष वही "शब्दनय" का लक्षण है । भाष्योक्त लक्षण वाक्य का आशय इसी लक्षण में है । अब नैगमादि नयों में अतिप्रसंगरूप दोष नहीं आता है क्योंकि नैगमादिनय नाम, स्थापना, द्रव्य के अभिधान का प्रयोजक अध्यवसायविशेषरूप भी हैं, इसलिए शब्दनय का यह लक्षण उन नयों में नहीं जाता है । ग्रन्थकार ने इस निष्कृष्ट लक्षण में "भाव" शब्द के बाद जो "मात्र" पद का प्रयोग किया है, उस का अभिप्राय नैगमादि नयों में जो भाष्योक्तलक्षण की आपाततः अतिव्याप्ति आती है, उस के निवारण में ही है । "साम्प्रतादि" भेदों में अव्याप्ति भी नहीं होती है, क्योंकि साम्प्रतादि भी भावमात्र का ही अवबोधन करते हैं ऐसा सूचन ग्रन्थ में "अतिप्रसंग" पद के बाद "आदि" पद के उपादान से किया है ।

[साम्प्रतनय का लक्षण परिचय]

(तत्रापी) शब्दनय के तीन अवान्तरभेद शास्त्र में बताए गये हैं । साम्प्रत, समभिरूढ और एवम्भूत, उन में से प्रथम भेद का लक्षण प्रकृतग्रन्थ से बताते हैं । यह लक्षण तत्त्वार्थ-सूत्र (१-३५) के भाष्य में कथित है, उसी का उद्धरण यहाँ पर किया गया है । लक्षण-घटक "नामादि" पद से "नाम, स्थापना, द्रव्य, भाव" इन चारों का ग्रहण किया गया है । प्रतिविशिष्टपर्यायरूप जो नाम, स्थापना द्रव्य और भावरूप घटादिवस्तु, उस में सञ्ज्ञा-सञ्ज्ञि सम्बन्ध-ग्रहण काल में अभिधानरूप से-अर्थात् घट शब्द नामघट का वाचक है, स्थापनाघट का वाचक है, द्रव्यघट का वाचक है, भावघट का वाचक है-इस रूप से जिस की प्रसिद्धि पूर्व नयों में हो चुकी है, ऐसे शब्द अर्थात् नाम से होने वाला जो अर्थप्रत्यय अर्थात् विज्ञान या अध्यवसाय वही साम्प्रतनय का लक्षण है । भावमात्र ही शब्द का वाच्य उसे अभीष्ट है क्योंकि भाव से ही सभी अभिलषित कार्य की सिद्धि होती है ।

बोधकत्वपर्यवसायीति तदर्थः। तथात्वं च भावातिरिक्तविषयांश उक्तसङ्केतस्याऽग्राम्याग्राहकतया निर्वहति। तज्जातीयाध्यवसायत्वं च लक्षणमिति न क्वचिदनीदृशस्थलेऽव्याप्तिः समभिरूढाद्यतिव्याप्तिश्च अध्यवसाये विषये वा तत्तदन्यत्वविशेषणदानान्निराकरणीया।

ग्रन्थकार इस लक्षण का सारभूत अर्थ यह बताते हैं कि "नाम" का जो वर्तमान पर्याय, एवं स्थापना द्रव्य और भाव का जो वर्तमान पर्याय ये सभी प्रत्येक रूप में विशिष्ट हैं अर्थात् एकदूसरे से भिन्न हैं। इसतरह के "नामादि" में भी जिन का संकेत गृहीत है अर्थात् 'इस का वाचक यह शब्द है' इसतरह जिस शब्द के वाच्यवाचकभावरूप संकेत का ज्ञान संज्ञा-संज्ञि सम्बन्धकाल में हो चुका है उस शब्द का भावमात्र की बोधकता में पर्यवसान जिस अभिप्राय विशेष से होता है वह अभिप्राय विशेष ही साम्प्रतनय का लक्षण है। इस अर्थवर्णन से यह भाव निकलता है कि वर्तमान नामादि में शब्द के संकेत का ज्ञान भले हो, तथापि साम्प्रतनय की दृष्टि से वह शब्द केवल वर्तमान भाव का ही बोधक होता है। वर्तमान नाम, वर्तमानस्थापना और वर्तमानद्रव्य का बोधक नहीं होता है क्योंकि नामादि में जो संकेत ग्रह पूर्व में हुआ हैं, उस में अप्रामाण्य बुद्धि का जनक "साम्प्रतनय" होता है। इस हेतु से ही शब्द का वर्तमानभावमात्रबोधकता में पर्यवसान साम्प्रतनय मानता है।

[साम्प्रतनय के लक्षण की अव्याप्ति में आशंका]

यहाँ यह प्रश्न उठ सकता है कि भाष्योक्तलक्षण का निष्कृष्ट अर्थ जो आपने बताया है, उस से साम्प्रतनय का लक्षण यह सिद्ध होता है कि जिस अभिप्राय विशेष से वर्तमानभावमात्र बोधकता में शब्द का पर्यवसान हो वही साम्प्रतनय है। किंतु ऐसा लक्षण करने पर ऐसे स्थलों में अव्याप्ति का प्रसंग होगा जहाँ कोई अध्यवसायविशेष भाव से अधिक कालादि भेद से अर्थभेद की बोधकता को भी शब्द में स्वीकार करेगा। आशय यह है कि शब्दनय 'काल, कारक, लिंग, संख्या, पुरुष' आदि के भेद से अर्थ का भेद प्रदर्शित करता है, जैसे "बभूव, भवति, भविष्यति" इन तीनों शब्दों में भवनरूप क्रिया को वह एक नहीं मानता है किन्तु वर्तमान, भूत और भविष्यत् काल के भेद से तीनों शब्दों से भिन्न-भिन्न अर्थ का बोध मानता है। एवं, "घटः अस्ति, घटं पश्यति" इन दोनों वाक्यों में घट शब्द का प्रयोग है, प्रथमवाक्यगत "घट" कर्त्ता है, द्वितीयवाक्यगत "घट" कर्म है। यदि निर्विशेष ही घट दोनों वाक्यों में विवक्षित होगा, तो प्रथमवाक्यगत घट में जो कर्तृत्व का व्यवहार होता है और द्वितीयवाक्यगत घट में जो कर्मत्व का व्यवहार होता है वह न होगा। इसलिए इन दोनों वाक्यों से बोधित घटद्वय में कुछ विशेष अवश्य मानना चाहिए, जिस से कर्तृत्व-कर्मत्व व्यवहार उपपन्न हो सके, वह विशेष या भेद कारककृत है। इसीतरह शब्दनय में "तटः, तटी, तटम्" इन तीनों पदों से बोधित तट भिन्न-भिन्न है। यहाँ तट का भेदक क्रमशः पुंस्त्व, स्त्रीत्व, नपुंसकत्वरूप लिंग हैं। "निम्बाम्रकदम्बाः वनम्" इस वाक्य के पूर्वपद में बहुवचन का प्रयोग

है, इसलिए निम्बादि पदार्थ में बहुत्व संख्या भासित होती है और "वनम्" इस उत्तर पद में एकवचन का प्रयोग है, इसलिए वनरूप अर्थ में एकत्व संख्या प्रतिपादित है। सामान्यतः दोनों पदों का अर्थ एक होने पर भी वचन के भेद से या संख्या के भेद से दोनों पदों का अर्थ भिन्न-भिन्न है, ऐसा साम्प्रतनय मानता है। "स पचति, त्वं पचसि, अहं पचामि" इन वाक्यों में "स, त्वं, अहं" इन पदों में बोधित पुरुष भिन्न-भिन्न है, इन पुरुषों के भेद से भिन्न-भिन्न पाकक्रिया तीनों वाक्यों से बोधित होती है, यह साम्प्रत की मान्यता है। "घटः, कुम्भः अस्ति" यहाँ काल, कारक, लिंग, संख्या और पुरुष सब समान होने से अर्थ का भेद नहीं है। साम्प्रतनय की इसतरह की मान्यता के अनुसार कुछ अभिप्रायविशेष ऐसे जरूर होंगे जो शब्द का काल-कारक-लिंगादि विशिष्ट अर्थ की बोधकता में तात्पर्य मानेंगे। वे काल कारकादि भावमात्र नहीं किंतु उस से भी कुछ अधिक ही हैं, इसलिए "शब्दनिष्ठ भावमात्र बोधकता पर्यवसायी अध्यवसायत्वम्' इस लक्षण की अव्याप्ति वैसे स्थलों में जरूर होगी, अतः उक्त निष्कृष्ट अर्थ का वर्णन संगत नहीं लगता है।

इस प्रश्न के समाधान में ग्रन्थकार बताते हैं कि "तज्जातीयाध्यवसायत्वम्" ऐसा लक्षण करेंगे, तब अव्याप्ति नहीं होगी। तात्पर्य, यह लक्षण जातिघटित बनाया गया है, अतः "शब्दनिष्ठभावमात्रबोधकत्वपर्यावसायी-अध्यवसायविशेष में वृत्ति हो और नयत्व का व्याप्य हो ऐसे जातिविशेष से विशिष्टाध्यवसायत्व" ऐसा लक्षण यहाँ विवक्षित किया है। "घटः, कुम्भः, कुटः" ऐसे स्थलों में अर्थ का भेद न होने के कारण "घटादि" शब्दों की भावमात्रबोधकता रहती है, इसलिए यहाँ "भावमात्रबोधकता पर्यवसायी-अध्यवसाय" है। इस अध्यवसाय में "साम्प्रतत्व" जाति रहती है, जो "नयत्व" जाति की अपेक्षा से व्याप्य भी है, यह साम्प्रतत्व जाति उन अध्यवसायों में भी है, जिन अध्यवसायों से भावातिरिक्त "काल, कारक, लिंगादि भेद की बोधकता में भी शब्द का तात्पर्य रहता है। अतः तादृश जाति विशिष्ट उन अभिप्रायों का भी संग्रह हो जाता है, इसलिए कहीं भी अव्याप्ति का सम्भव नहीं रहता है।

[शब्द नय के लक्षण की समभिरूढादिमें अतिव्याप्ति का वारण]

यदि यह कहा जाय कि-समभिरूढ और एवम्भूतनय भी अध्यवसायविशेषरूप ही हैं और उनमें शब्दगत भावमात्र बोधकतापर्यवसायीत्व भी रहता है, इसलिए वहाँ अतिव्याप्ति का प्रसंग इस लक्षण में आवेगा, क्योंकि "शब्दगत भावमात्र बोधकता पर्यवसायी" कुछ अध्यवसाय उन नयों में भी हैं, वैसे अध्यवसायों में समभिरूढत्व और एवम्भूतत्व जाती है। ये दोनों जातियाँ भी नयत्वव्याप्य हैं, और इन जातियों से युक्त समभिरूढ और एवम्भूत ये दोनों नय होते हैं। इसरीति से "साम्प्रतनय" का लक्षण वहाँ भी घट जाता है।"-इस का समाधान ग्रन्थकार इसतरह बताते हैं कि शब्दनय भावमात्र बोधक होता है, इसलिए शब्दनय के अवान्तरभेद जैसे "साम्प्रत" है, वैसे ही समभिरूढ और एवम्भूतनय भी हैं, अतः अतिव्याप्ति का सम्भव है। किंतु समभिरूढत्वेन अभिमत अध्यवसाय भिन्नत्व तथा एवम्भूतत्वेन अभिमत अध्यवसायभिन्नत्व यह विशेषण "साम्प्रतनय"

सम्प्रदायेऽपि 'विशेषिततरऋजुसूत्राभिमतार्थग्राही अध्यवसायविशेष' इति 'शब्दः' इत्यापादितसंज्ञान्तरस्याऽस्य लक्षणम् । "इच्छइ विसेसियतरं, पच्चुप्पण्णं णओ

के लक्षण में यदि लगा दिया जायगा, तब अतिव्याप्ति का निराकरण हो जायगा । इस स्थिति में "साम्प्रतनय" का लक्षण यह होगा कि समभिरूढाध्यवसाय से भिन्न और एवम्भूताध्यवसाय से भिन्न ऐसा जो शब्दनिष्ठभावमात्रबोधकतापर्यवसायी अध्यवसाय, उस में वृत्ति जो नयत्वव्याप्य जाति, उस जातिवाला अध्यवसाय साम्प्रत नय है । शब्द में भावमात्रबोधकता का पर्यवसान जिस समभिरूढाध्यवसाय और एवम्भूताध्यावसाय से होता है, उन से भिन्न शब्दनिष्ठ भावमात्रबोधकता पर्यवसायी-अध्यवसाय केवल साम्प्रतत्वेन अभिमत अध्यवसाय ही होगा, समभिरूढ और एवम्भूत नहीं होगा, इसलिए अतिव्याप्ति का प्रसंग नहीं आयेगा । ग्रन्थकार ने "समभिरूढ और एवम्भूत" में अतिव्याप्ति का निवारण करने के लिए एक दूसरा भी प्रकार बताया है। वह यह है कि "समभिरूढाध्यवसाय" का जो विषय और "एवम्भूताध्यवसाय" का जो विषय उस से "साम्प्रत" का विषय भिन्न होता है, क्योंकि "ऋजुसूत्राभिमत विषय की अपेक्षा से "साम्प्रत" का विषय अल्प होता है तथा समभिरूढ से अभिमत विषय की अपेक्षा से एवम्भूत का विषय और भी अल्प होता है । इसलिए साम्प्रत के विषय में, समभिरूढ और एवम्भूत के विषयों का भेद यदि विशेषणरूप में लगा देंगे, तो भी अतिव्याप्ति का प्रसंग नहीं आयेगा । इस स्थिति में "साम्प्रत" का लक्षण यह होगा कि समभिरूढ और एवम्भूत के विषय से भिन्न विषयक हो ऐसा जो शब्दनिष्ठभावमात्र बोधकता पर्यवसायी-अध्यवसाय, उस में वृत्ति नयत्वव्याप्य जातिवाला अध्यवसाय साम्प्रतनय है । इस लक्षण में अतिव्याप्ति नहीं होगी क्योंकि समभिरूढ के विषय में स्वभिन्नत्व नहीं रहता है और "एवम्भूत" के विषय में भी एवम्भूतविषयभिन्नत्व नहीं रहता है । साम्प्रत के विषय में तो "समभिरूढ विषय भिन्नत्व और एवम्भूतविषयभिन्नत्व" रहता है, इसलिए साम्प्रताध्यवसाय में लक्षण जायेगा और समभिरूढ तथा एवम्भूत में लक्षण नहीं जायेगा ।

[साम्प्रदायिक मतानुसार साम्प्रतनय का लक्षण]

(सम्प्रदायेऽपि) प्रकृत सन्दर्भ से ग्रन्थकार यह बताना चाहते हैं कि "साम्प्रतनय" का जो लक्षण परिष्कृत कर के बताया गया है, उसी अभिप्राय का लक्षण सम्प्रदाय मत में भी है । भेद इतना पडता है कि उक्त लक्षण में लक्ष्य का निर्देश "साम्प्रत" पद से किया है और सम्प्रदाय में जो "साम्प्रत" का लक्षण है, उस में "शब्द" इस सामान्य नाम से "साम्प्रतनय" रूप लक्ष्य का निर्देश किया है अर्थात "साम्प्रतनय" का ही "शब्द" इस संज्ञान्तर से व्यवहार किया है । यहाँ सम्प्रदाय शब्द से जिनभद्रक्षमाश्रमणप्रभृति प्राचीनतम आचार्यों का मत विवक्षित है। इन के मत में द्रव्यार्थिक के नैगम, संग्रह, व्यवहार और ऋजुसूत्र ये चार भेद माने गये हैं, तथा पर्यायार्थिकनय के शब्द, समभिरूढ और एवम्भूत ये तीन भेद माने गये हैं, उन के मत में साम्प्रतनय का "शब्द" पद से ही व्यवहार किया गया है । सम्प्रदायानुसारी लक्षण विशेषिततर ऋजुसूत्राभिमतार्थ ग्राही

सद्दो" ॥त्ति [अनुयोगद्वार–१५२] सूत्रम् ॥ अत्रापि तरप्रत्ययमहिम्ना विशेषित–तमाधोवर्तिविषयग्रहणान्न समभिरूढाद्यतिव्याप्तिरिति स्मर्तव्यम् ।

अध्यवसायविशेषरूप है। इस का अभिप्राय यह है कि ऋजुसूत्र प्रत्युत्पन्न अर्थात् वर्तमान अर्थ का ग्राही है, साम्प्रत भी वर्तमान अर्थ को ही मानता है और परकीय तथा अतीत–अनागत अर्थ को जैसे "ऋजुसूत्र" नहीं मानता है वैसे साम्प्रत भी नहीं मानता है। –इतना साम्य होने पर भी ऋजुसूत्र लिंगभेद होने पर भी वस्तु को अभिन्न मानता है जैसे "तटः, तटी, तटम्" यहाँ पुंस्त्व, स्त्रीत्व, नपुंसकत्व रूप लिंग का भेद होने पर भी "तट" रूप अर्थ तो एक ही है, ऐसा उस का मत है। तथा एकवचन, बहुवचन के भेद होने पर भी "गुरुः, गुरवः" इत्यादि स्थलों में गुरु आदि अर्थ को वह एक ही मानता है। तथा नाम, स्थापना, द्रव्य और भावरूप इन चारों निक्षेपों को ऋजुसूत्र मानता है।–साम्प्रतनय लिंगभेद से और वचन आदि के भेद से अर्थ का भेद मानता है। अर्थ में लिंगादि के भेद रहने पर अर्थ में एकत्व नहीं मानता है, इस का विवरण पूर्व में सविस्तर किया जा चुका है। तथा "नामादि" निक्षेपों में से भी "साम्प्रतनय" भाव-निक्षेपमात्र को मानता है, शेष तीन निक्षेपों को नहीं मानता है, यही "ऋजुसूत्र" की अपेक्षा से "साम्प्रत" में विशेषता है, यह विशेषता साधारण नहीं किन्तु अतिशयित विशेषता है, इसलिए विशेषितर ऋजुसूत्राभिमत अर्थ का ग्राही साम्प्रतनय होता है। पूर्वलक्षण में भावमात्रबोधकता में शब्द का पर्यवसान जो कहा गया है, उस का भी आशय वही है जो "विशेषिततर" विशेषण लगाने पर निकलता है। अतः पूर्वोक्त लक्षण में साम्प्रदायिक लक्षण से समर्थन प्राप्त हो जाता है।

[विशेषिततर प्रत्युत्पन्न अर्थग्राही शब्दनय]

इस को अधिक समर्थन करने के लिए विशेषावश्यकसूत्र का प्रमाणरूप से यहाँ उद्धरण हैं–"* इच्छइ विससियतरं पच्चुप्पण्णं णओ सद्दो॥ त्ति॥" (२१८४) यही सूत्र साम्प्रदायिक लक्षण में प्रमाण है।

सूत्र में प्रत्युत्पन्न शब्द से ऋजुसूत्राभिमतअर्थग्राहित्व साम्प्रतनय में प्राप्त होता है, जो साम्प्रदायिकलक्षण में प्रविष्ट है। विशेषिततर शब्द तो साक्षात् ही सूत्र तथा साम्प्रदायिक लक्षण में उक्त है, इसलिए यह सूत्र साम्प्रदायिक लक्षण में प्रमाणरूप है। सम्प्रदायमतानुसार साम्प्रतनय में "शब्द" इस संज्ञान्तर का जो व्यवहार किया गया है, वह भी सूत्रानुसार ही है। अपनी इच्छानुसार कल्पित नहीं है, क्योंकि सूत्र में भी "साम्प्रतनय" के लिए "शब्द" पद से व्यवहार किया गया है, अतः सूत्र से प्रमाणित साम्प्रदायिक लक्षण के द्वारा अपने लक्षण का समर्थन करना यह सँगत ही है। पूर्वोक्त लक्षण में अध्यवसाय अथवा विषय में तत् तत् अन्यत्व विशेषण लगाकर "समभिरूढ और एवंभूत में अतिव्याप्ति का वारण होता है, यह कहा जा चुका है। सम्प्रदायानुसारी लक्षण में तत्तद् अन्यत्व विशेषण लगाकर अतिव्याप्ति वारण करने की आवश्यकता नहीं है क्योंकि

* इच्छति विशेषिततरं प्रत्युत्पन्नं नयः शब्दः।

"विशेषिततर" शब्द में जो "तर" प्रत्यय का ग्रहण है, उसी की महिमा से "समभिरूढ" और "एवंभूत" में अतिव्याप्ति का वारण हो जाता है ।

[साम्प्रत नय में विशेषिततर अर्थ ग्राहित्व की उपपत्ति]

आशय यह है कि ऋजुसूत्र से अभिमत भावरूप अर्थ के ग्राही साम्प्रत आदि तीन नय हैं । जो भाव अतीत, अनागत और परकीय न हो उन्हीं भावों में से "विशेषितर भाव" का ग्राही "साम्प्रतनय" होता है, परन्तु साम्प्रत को वह भाव, 'लिंग, वचन' आदि के भेद से भिन्न भिन्न अभिमत है, इसलिए "विशेषिततरार्थग्राही" साम्प्रत नय हुआ । एवंभूत नय विशेषिततर ऋजुसूत्राभिमत अर्थ का ग्राही नहीं है किन्तु 'विशेषिततम' अर्थ का ग्राही है । इस हेतु से "साम्प्रतनय" के लक्षण की अतिव्याप्ति समभिरूढ में नहीं होती है । "एवंभूतनय" तो "समभिरूढ" से अभिमत जो "विशेषिततम" अर्थ उस की अपेक्षा से भी अतिशयित विशेषिततम अर्थ का ग्राही है । अतः विशेषिततरार्थ-ग्राहित्व जो साम्प्रत में है वह एवंभूत में नहीं है, इसलिए अतिव्याप्ति का सम्भव नहीं है । आशय यह है कि ऋजुसूत्र ने "तटः, तटी, तटम्" यहाँ लिंग होने पर भी "तट" स्वरूप भाव को एक ही माना है, परन्तु "साम्प्रतनय" लिंग भेद होने के कारण तटरूप भाव को भिन्न-भिन्न मानता है, यही ऋजुसूत्राभिमत अर्थ की अपेक्षा से साम्प्राताभिमत अर्थ में विशेषिततरत्व है । एवं साम्प्रतनय 'घटः, कुटः, कुम्भः' यहाँ समान लिंग और समान वचन होने से तीनों शब्दों का वाच्य अर्थ एक ही मानता है किन्तु समभिरूढ यहाँ एक अर्थ नहीं मानता है किन्तु विशिष्टचेष्टायुक्त अर्थ को ही "घट" शब्द का वाच्य मानता है, क्योंकि "घट् चेष्टायाम्" इस धातु से 'घट' शब्द की सिद्धि होती है, अतः घटशब्दवाच्य अर्थ में विशिष्टचेष्टावत्त्वरूप प्रवृत्तिनिमित्त रहता है । "कुट" शब्द "कुट कौटिल्ये" धातु से बनता है, इसलिए कौटिल्यरूप प्रवृत्तिनिमित्त, कुटशब्दवाच्य अर्थ में रहता है । "उम्भ पूर्णे" इस धातु से 'कु' उपपद लगाने पर "कुम्भ" शब्द बनता है, अतः कुत्सितपूरण योगित्व रूप प्रवृत्तिनिमित्त कुम्भ शब्द वाच्य अर्थ में रहता है । इसतरह समभिरूढ को प्रवृत्तिनिमित्त के भेद से 'घट, कुट, कुम्भ" इन तीनों शब्दों के वाच्य अर्थ भिन्न भिन्न अभिप्रेत हैं । तथा समभिरूढ के मत से "घट, कुट, कुम्भ" ये तीनों शब्द पर्यायवाची नहीं माने जाते हैं, अतः साम्प्रत की अपेक्षा से भी सूक्ष्म अर्थ का ग्राही समभिरूढ माना जाता है, यही समभिरूढ के मान्य अर्थ में "विशेषिततमत्व" है । एवंभूत नय समभिरूढ से मान्य अर्थ की अपेक्षा से भी सूक्ष्म अर्थ का ग्राही है, क्योंकि समभिरूढ विशिष्ट चेष्टायुक्त घट को, जो गृह-कोणादि में रखा हुआ है- उस को घट शब्द का वाच्य मानता है, परन्तु एवम्भूतनय उस को घट शब्द वाच्य नहीं मानता है, किन्तु किसी नारी के मस्तक पर रखा हुआ जलाहरणादि क्रिया के लिए चेष्टमान घट को ही घटशब्द वाच्य मानता है । अतः "समभिरूढ" की अपेक्षा से भी अतिशयित "विशेषिततम" अर्थ को अर्थात् संकुचित अर्थ को "एवंभूत" मानता है, अतः विशेषित-तरार्थग्राहित्वरूप साम्प्रत का लक्षण उस में नहीं जाता है, इसलिए "एवम्भूतनय" में भी "साम्प्रतनय" के लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं होती है, यह समझना चाहिए ।

ऋजुसूत्राद्विशेषः पुनरस्येत्थं भावनीयः यदुत संस्थानादिविशेषात्मा भावघट एव परमार्थसन्, तदितरेषां तत्तुल्यपरिणत्यभावेनाऽघटत्वात् । 'घटव्यवहारादन्यत्रापि घटत्वसिद्धिरि'ति चेत् ? न, शब्दाभिलापरूपव्यवहारस्य संकेतविशेषप्रतिसन्धाननियन्त्रितार्थमात्रवाचकतास्वभावनियम्यतया विषयतथात्वेऽतन्त्रत्वात्, प्रवृत्त्यादिरूपव्यवहारस्य चाऽसिद्धेः । 'घटशब्दार्थत्वाऽविशेषे भावघटे घटत्वं नापरत्रेत्यत्र किं नियामकमि'ति चेत् ? अथक्रियैवेति गृहाण ।

[साम्प्रतनय में ऋजुसूत्र की अपेक्षा विशेषता]

(ऋजुसूत्रा०) ऋजुसूत्र की अपेक्षा से जो साम्प्रत में विशेष है, उस को इस तरह समझना चाहिए कि पृथुबुध्नोदरादि आकाररूप संस्थान से युक्त और जलाहरणादि क्रिया में समर्थ भावघट ही साम्प्रतनय की दृष्टि से परमार्थ सत् है । ऐसे ही भावघट को यह मानता है, जो जलाहरणादि क्रिया कर सके । ऐसे ही भावघट में "घट" शब्द का प्रयोग उपपन्न होता है, क्योंकि चेष्टार्थक घट् धातु से घट शब्द बनता है, तथा जलाहरणादि क्रिया समर्थ भाव घट में ही घट शब्दार्थत्व भी उपपन्न होता है । जलाहरणादि क्रिया समर्थ भावघट से भिन्न नामादिघटों को यह घट नहीं मानता, क्योंकि भावघट की जो जलाहरणादि अर्थक्रियारूप परिणति है, तत्सदृश परिणति नामादि घटों में नहीं है, इसलिए नामादि घट इस की दृष्टि से अघट है । ऋजुसूत्र की दृष्टि से तो नाम, स्थापना, द्रव्य, भाव ये चारों प्रकार के घट परमार्थ माने गए हैं । साम्प्रत का अभिप्राय यह है कि ऋजुसूत्र जो नामादि घटों को घट मानता है वह अयुक्त है, क्योंकि ऋजुसूत्र से पूछा जाय कि तुम भी अतीत, अनागत और परकीय घटों को तो घट नहीं मानते हो, उस का क्या कारण ? इस का जवाब ऋजुसूत्र यही देगा कि अतीतानागतादि घटों से जलाहरणादि अर्थक्रिया की सिद्धि नहीं होती है, इसलिए उन को घट मानने में कोई प्रयोजन नहीं है । तब ऋजुसूत्र को यह कहा जा सकता है कि नामघटादि से भी कुछ प्रयोजन नहीं बनता है, इसलिए उन को घट मानना संगत नहीं है, अतः जलाहरणादिसमर्थ पृथुबुध्नोदरादिआकारविशिष्ट भावघट को ही मानना युक्त है, ऐसे ही घट को साम्प्रत मानता है । यही साम्प्रत में विशेषिततरार्थग्राहित्व है और यही ऋजुसूत्र की अपेक्षा से साम्प्रत की विशेषता है ।

[व्यवहार से नामघटादि में घटत्वसिद्धि का निराकरण]

यदि यह शंका की जाय कि-'भावघट में जैसे "अयं घटः" ऐसा व्यवहार होता है, वैसे ही नामघट, स्थापनाघट और द्रव्यघट में भी "अयं घटः" ऐसा व्यवहार होता है, इसलिए घटत्वप्रकारक व्यवहाररूप हेतु से भाव घट को दृष्टान्त बना कर नामघटादि में "घटत्व" की सिद्धि अनुमान प्रमाण से जब होती है, तब नामघटादि में प्रमाणसिद्ध घटत्व का अपलाप करना "साम्प्रतनय" के लिये संगत नहीं है क्योंकि प्रामाणिक वस्तु का अपलाप कोई नहीं करता है ।'-इस शंका के समाधान में ग्रन्थकार बताते हैं कि

अत एवात्रानुपचरितं घटपदार्थत्वम्, अन्यत्र तूपचरितमिति गीयते विशेषः। अथवा ऋजुसूत्रस्य प्रत्युत्पन्नो विशेषितः कुम्भ एवाभिमतः, अस्य तु मते ऊर्ध्वग्रीवत्वादिस्वपर्यायैः सद्भावेनार्पितः कुम्भः 'कुम्भ' इति भण्यते। इदन्त्व—कुम्भत्वाद्यवच्छेदेन स्वशिष्यनिष्ठस्वपर्यायावच्छिन्नकुम्भत्वसत्ताबोधप्रयोजकप्रकृतवाक्येच्छारूपगुर्वर्पणया 'अयमूर्ध्वग्रीवत्वादिना कुम्भ एव' 'कुम्भः ऊर्ध्वग्रीवत्वादिना कुम्भ एवे'त्यादिवाक्यप्रयोगात्। इत्थमेवोद्देश्यसावधारणप्रतीतेर्वादान्तरोत्थापितविपरीता-

---

व्यवहार दो प्रकार का होता है, शब्दाभिलाप रूप व्यवहार संकेतविशेष के स्मरण से नियन्त्रित अर्थमात्रवाचकता स्वभाववाले शब्द से होता है, इसलिए शब्दगत तथाविध अर्थवाचकता स्वभाव ही "शब्दाभिलापरूपव्यवहार" का नियामक बनता है, अतः वह व्यवहार स्वविषय में जो वास्तविकता रहती है उस का नियमन नहीं कर सकता है। आशय यह है कि संकेत ग्रहणकाल में 'घट शब्द से घटरूप अर्थ बोधित होता है,' इसतरह का संकेतज्ञान होता है। इस संकेतज्ञान का अनुसन्धान करके ही प्रयोगकाल में प्रयोक्ता घट पद का प्रयोग करता है। संकेत तो सामान्यरूप से घट में होता है, इसलिए नाम घटादि में भी घटशब्दप्रयोगात्मक शब्दाभिलापरूप व्यवहार होता है, परन्तु उस घट का क्या स्वरूप है-इस का निर्णय शब्दप्रयोगरूप व्यवहार नहीं कर सकता है, इसलिए व्यवहारविषयीभूत नाम घटादि में घटत्व की सिद्धि व्यवहारमात्र से नहीं हो सकती है। जलाहरणादिरूप प्रयोजन यदि नामघटादि से सिद्ध होता, तब तो उस में घटत्व मान लेते, वह तो नामघटादि से होता नहीं है, किन्तु भावघट से ही होता है, अतः भावघट में ही घटत्व मानना युक्त है। नामघटादि में व्यवहारमात्र से घटत्व मानना युक्त नहीं है। जलाहरणादि के लिए नामघटादि में प्रवृत्ति होती नहीं है, इसलिए प्रवृत्तिरूप व्यवहार जो घटत्व का साधक है उस की असिद्धि होने के कारण भी नामघटादि में घटत्व सिद्ध नहीं हो सकता। यदि यह प्रश्न हो-'शब्दार्थत्व जैसे भावघट में रहता है, वैसे ही नामघटादि में भी रहता है। इस स्थिति में भावघट में घटत्व है, नामघटादि में घटत्व नहीं है, इस का नियामक क्या ?।'-इस का समाधान यही है कि भावघट में घटत्व का नियामक जलाहरणादि अर्थक्रिया ही है, भावघट से ही जलाहरणादि अर्थक्रिया होती है, नाम घटादि से तो जलाहरणादिरूप अर्थक्रिया नहीं होती है, इसलिए उन में घटत्व का अभाव है। इस प्रकार अर्थक्रिया को ही नियामक समझना चाहिए।

(अत एव) "भावघट" में तथा नामघटादि में घटशब्दार्थत्व यद्यपि समानरूप से रहता है, तथापि भावघट में घटशब्दार्थत्व अनुपचरित है=मुख्य है, क्योंकि भावघट में अर्थक्रियाकारित्व रहता है। नामघटादि में जलाहरणादिरूप अर्थक्रियाकारित्व नहीं रहता है, इसलिए उस में घटशब्दार्थत्व उपचरित अर्थात् आरोपित है, अतः नामादि घटों में घटत्व साम्प्रतनय की दृष्टि से नहीं रहता है, "ऋजुसूत्र" की दृष्टि से तो नाम घटादि में घटत्व रहता है, यही ऋजुसूत्र और साम्प्रत में भेद है। ऐसा प्राचीन आचार्यों का अभिप्राय है।

भिनिवेशनिरासस्य च सिद्धेः, इदमेव भङ्गान्तरेऽप्यर्पणप्रयोजनं बोध्यम् ॥१॥
(प्रथमभङ्गः)

[ऋजुसूत्र और साम्प्रतनय में विशेष अंतर]

(अथवा) ऋजुसूत्र की अपेक्षा से साम्प्रतनय में जो विशेषता है उस की भावना प्रकारान्तर से इसतरह है कि–व्यवहारनय भाव कुम्भ को मानता है, परंतु अतीत, अनागत, परकीय कुंभ को भी वह कुंभ मानता है, "ऋजुसूत्र" अतीत–अनागत परकीय कुंभ को कुंभ नहीं मानता है। किन्तु वर्त्तमान, स्वकीय कुंभ को ही कुंभ मानता है। अतः व्यवहार संमत अतीतादि कुंभ की अपेक्षा विशेषित कुंभ ऋजुसूत्र का विषय हुआ। सांप्रतनय वर्त्तमान स्वकीय कुंभों में भी गृहकोणादि में स्थित अर्थक्रियारहित कुंभ को कुंभ नहीं मानता, अतः ऋजुसूत्राभिमत कुंभ की अपेक्षा सांप्रतनयाभिमत कुंभ विशेषिततर सिद्ध होता है। इस प्रकार विशेषितार्थग्राहित्व ऋजुसूत्र में रहता है और विशेषिततरार्थग्राहित्व सांप्रत में रहता है–यही ऋजुसूत्र की अपेक्षा से सांप्रत में विशेषता है। यह भी ख्याल रखना चाहिए कि सांप्रतनय के मत में ऊर्ध्वग्रीवत्व, कपाल, उदर आदि कुंभ पर्यायों के द्वारा सत्त्वरूप से विशेषित कुम्भ ही कुम्भ माना जाता है। "ऋजुसूत्र" ऊर्ध्वग्रीवत्वादि स्वपर्यायों के द्वारा सत्त्वरूप से अविशेषित ही कुम्भ को कुम्भ मानता है, यह साम्प्रत और ऋजुसूत्र में भेद है, इसतरह की भावना "रिउसुत्तस्साऽविसेसिओ चेव" इस विशेषावश्यकभाष्य गाथा की बृहद्वृत्ति में "अविशेषितः" ऐसा पाठ मान कर की गयी है।

[सप्तभंगी के प्रथम भंग की निष्पत्ति]

ऊर्ध्वग्रीवत्व, कपाल, कुक्षि, बुध्नादि स्वपर्यायों से अवच्छिन्न सत्ता से विशेषित कुम्भ ही कुम्भ पद से वाच्य होता है इसीलिए "स्यादस्त्येव घटः" अथवा "स्यात् सन् घटः" यह सप्तभंगी का प्रथम भंग सिद्ध होता है, क्योंकि 'कुम्भपदार्थगत ऊर्ध्वग्रीवत्वादि स्वपर्यायावच्छिन्न कुम्भतत्त्व की इदंत्व–कुम्भत्वावच्छेदेन सत्ता का बोध शिष्य को हो' इस हेतु से प्रकृतवाक्य की विवक्षारूप अर्पणा गुरु को होती है, उस विवक्षारूप अर्पणा से ही गुरु शिष्य को उद्देश्य कर के 'यह ऊर्ध्वग्रीवत्वादि विशिष्ट कुम्भ ही कुम्भ है'–इस तरह के वाक्य का प्रयोग करता है अथवा 'ऊर्ध्वग्रीवत्वादि स्वपर्यायों से युक्त जो है वह कुम्भ ही है' ऐसा वाक्यप्रयोग गुरु करता है। इसी रीति से वाक्यप्रयोग करने पर उद्देश्यभूत शिष्य को सावधारण प्रतीति और ऋजुसूत्रादि सम्मत वादान्तर से नाम कुम्भादि में भी कुम्भत्व मानने का जो विपरीत कदाग्रह उत्पन्न होता है, उस का भी निरास हो जाता है, क्योंकि नामघटादि ऊर्ध्वग्रीवत्वादि स्वपर्यायों से विशिष्ट नहीं होते हैं, इसलिए "इदंत्व–कुम्भत्वावच्छेदेन ऊर्ध्वग्रीवत्वादि पर्यायविशिष्ट कुम्भ की ही सत्ता उक्त वाक्यों से सिद्ध होती है। द्वितीयादि भंगों में गुरु की तथाविध विवक्षारूप अर्पणा का प्रयोजन भी यही होता है कि शिष्य को सावधारण प्रतीति हो और वादान्तर से विपरीत अभिनिवेश का निरास हो। इसतरह साम्प्रतनय की दृष्टि से प्रथम भंग का उपपादन किया गया है। [इति प्रथमो भंगः]

पटादिगतैस्त्वक्त्राणादिभिः परपर्यायैरसद्भावेनार्पितोऽकुम्भो भण्यते, कुम्भे कुम्भत्वानवच्छेदकधर्मावच्छिन्नाकुम्भत्वसत्त्वात् । न चैवं कुम्भत्वानवच्छेदकप्रमेयत्वावच्छेदेनाप्यकुम्भत्वापत्तिः, नानाधर्मसमुदायरूपकुम्भत्वे प्रमेयत्वस्याप्यवच्छेदकत्वात् ॥२॥ (द्वितीयो भंगः)

[सप्तभंगी के द्वितीय भंग की निष्पत्ति]

[पटादि] "स्याद् नास्त्येव घटः" इस द्वितीय भंग का समर्थन इस प्रकार है। पटादि में त्वक्त्राण अर्थात् शरार की त्वचा का संरक्षण आदि पर्याय रहते हैं, वे पर्याय घट के नहीं हैं, परन्तु घट से भिन्न पटादि के हैं, अतः घट के लिए पट के त्वक्त्राणादि पर्याय परपर्याय कहे जाते हैं। उन त्वक्त्राणादि पर्यायों से युक्त पटादि की ही सत्ता रहती है, कुम्भ की सत्ता नहीं रहती है, इसलिए त्वक्त्राणादि पर्यायावच्छिन्न सत्ता का अभाव घट में रहता है। तादृश सत्ताभाव से विशेषित कुम्भ अकुम्भ कहा जाता है, अर्थात् सभी घट की त्वक्त्राणादि पर्यायों से असत्ता की विवक्षा रहने पर "असन् घटः" अथवा "स्याद् नास्त्येव कुंभः" यह द्वितीयभंग उपस्थित होता है। क्योंकि कुंभ में कुंभत्व के अनवच्छेदक जो त्वक्त्राणादि परपर्यायरूप धर्म उस से अवच्छिन्न अकुम्भत्व की सत्ता रहती है। आशय यह है कि "कुम्भत्व की सत्ता के अवच्छेदक कुम्भगत ऊर्ध्वग्रीवत्वादि कुम्भ के पर्याय ही होते हैं। पटादि के पर्यायभूत त्वक्त्राणादि कुम्भपदार्थ की सत्ता के अवच्छेदक नहीं होते हैं क्योंकि वे धर्म कुम्भसत्ता के व्यधिकरण होते हैं, इसलिए त्वक्त्राणादि परपर्यायावच्छिन्न कुम्भ की सत्ता नहीं होती है, अतः त्वक्त्राणादि परपर्यायावच्छिन्न अकुम्भत्व की ही सत्ता कुम्भ में रहती है। इसलिए "स्यान्नास्त्येव घटः" "असन् घटः" इत्यादि द्वितीय भंग के प्रयोग उस दशा में होते हैं।

[प्रमेयत्वावच्छेदेन अकुम्भत्व की आपत्ति का निरसन]

यदि यह कहा जाय कि-"जो धर्म जिस का अवच्छेदक होता है, वह धर्म उस के अभाव का अवच्छेदक होता है, इस नियम को मान कर ही कुम्भत्वानवच्छेदक त्वक्त्राणादि परपर्यायों को अकुम्भत्व का अवच्छेदक अर्थात् कुम्भत्वाभाव का अवच्छेदक मान कर कुम्भ में अकुम्भत्व की सत्ता को सिद्ध किया है। इस रीति से तो कुम्भ में प्रमेयत्वावच्छेदेन अकुम्भत्व की आपत्ति आवेगी क्योंकि जैसे त्वक्त्राणादि पर पर्याय कुम्भत्व के अनवच्छेदक होते हैं, वैसे ही प्रमेयत्व भी कुम्भत्व का अनवच्छेदक है, इसलिए अकुम्भत्व का अर्थात् कुम्भत्वाभाव का अवच्छेदक बन जायगा, तब प्रमेयत्वरूप से असद्भावविशेषितकुम्भ अकुम्भ कहा जायगा, इस स्थिति में प्रमेयत्व को लक्ष में रख कर "स्यान्नास्त्येव कुम्भः" यह द्वितीयभङ्ग का प्रसंग होगा जो इष्ट नहीं है"-परन्तु यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि कुम्भगत कुम्भत्व कोई एक धर्म जातिरूप या उपाधिरूप नहीं है किन्तु अनेकधर्मसमुदायरूप है। स्याद्वादमत में वस्तुमात्र अनन्त धर्मात्मक अभीष्ट है, अतः कुम्भ भी अनन्त धर्मात्मक ही है, इसलिए कुम्भगत कुम्भत्व अनेक धर्मसमुदायरूप होता है। अतः प्रमेयत्व भी कुम्भत्व का अवच्छेदक बनेगा क्योंकि प्रमेयत्व सर्वत्र रहता है, जब कुम्भत्व का

तथा सर्वोऽपि घटः स्वपरोभयपर्यायैः सद्भावाऽसद्भावाभ्यामर्पितोऽवक्तव्यो भण्यते, स्वपरपर्यायसत्त्वाऽसत्त्वाभ्यामेकेन केनापि शब्देन सर्वस्यापि तस्य युगपद्वक्तुमशक्यत्वात्।

अथैकपदवाच्यत्वं घटस्य स्वपर्यायावच्छिन्नत्वोपरागेणापि नास्तीति तदवच्छेदेनाप्यवाच्यतापत्तिः, वस्तुतः स्वपर्यायावच्छिन्नस्यैकपदवाच्यत्वेनावक्तव्यत्वाभावे च वस्तुतः कथञ्चिदुभयपर्यायावच्छिन्नस्याप्येकपदवाच्यत्वेन तथात्वापत्तेः, अन्यथा परपर्यायावच्छिन्नस्याप्यवक्तव्यत्वापत्तेः। "विधेयांशे एकपदजन्यस्वपरपर्यायोभयाव-

---

अवच्छेदक प्रमेयत्व होगा तब अकुम्भत्व का अवच्छेदक नहीं होगा क्योंकि यह भी एक नियम है कि जो जिस का अवच्छेदक होता है, वह तदभाव का अवच्छेदक नहीं होता है, इसलिए प्रमेयत्वावच्छेदेन कुम्भ में कुम्भत्व का सद्भाव ही अर्पित होता है। इस स्थिति में 'प्रमेयत्वरूपेण स्यान्नास्त्येव कुम्भः' इस द्वितीय भङ्ग का प्रसंग नहीं आता है॥ [द्वितीय भङ्ग]

[सप्तभंगी के तृतीय भंग की निष्पत्ति]

[तथा सर्वो] घट के स्वपर्याय कम्बुग्रीवत्वादि से घट में सद्भाव का अर्पण किया जाय और उसी काल में त्वक्त्राणादि परपर्याय से असद्भाव का अर्पण हो, इस स्थिति में स्वपर्याय से सत्त्वविशेषित और परपर्याय से असत्त्वविशेषित किसी भी घट का किसी भी एक शब्द से प्रतिपादन शक्य नहीं है, अतः सत्त्वविशेषित और असत्त्वविशेषित घट अवक्तव्य बन जाता है। इस स्थिति में "स्याद् अवक्तव्यो घटः" इस तृतीय भङ्ग का उत्थान होता है।

[सकलस्वपर्यायावच्छिन्न सत्त्वविशिष्ट घट के अवक्तव्यत्व की आशंका]

(अथैकपदे) यहाँ एक दीर्घ आशंका प्रस्तुत की गयी है।

स्वपर्यायावच्छिन्न सत्त्वविशेषित और परपर्यायावच्छिन्न असत्त्वविशेषित घट एक काल में किसी भी शब्द से प्रतिपादित हो सकता नहीं है, इस कारण यदि तृतीयभङ्ग का उत्थान माना जाय तो, घट के जितने पर्याय हैं, उन सकल पर्यायावच्छिन्न सत्त्वविशेषित घट का भी तो कथन किसी एक पद से सम्भव नहीं है, अतः सकल स्वपर्यायावच्छेदेन भी घट में अवाच्यत्व की आपत्ति होगी। इस स्थिति में जहाँ प्रथमभङ्ग का उत्थान होता है वहाँ भी तृतीयभङ्ग के उत्थान का प्रसंग होगा, अर्थात् स्वपर्यायावच्छिन्न सत्त्वविशेषित घट में भी "स्यादवक्तव्यो घटः" यह भङ्ग उपस्थित होगा।

[सकल पर्याय को उपलक्षण मानने से समाधान अशक्य]

यदि यह कहा जाय कि-"यद्यपि जितने घट के पर्याय हैं उन सकल पर्यायावच्छिन्नसत्त्वविशिष्ट घट का वाचक कोई पद नहीं है, तथापि घट में विधेयभूत सत्त्व में स्वपर्यायावच्छिन्नत्व को विशेषण न मानकर उपलक्षण मानेंगे, तब स्वसकलपर्यायावच्छिन्न-

च्छिन्नप्रकारकशाब्दबोधाऽविषयकत्वमेवाऽवक्तव्यत्वमिति न दोष" इति चेत् ? न, उभयपदजन्यस्याप्येकपदजन्यत्वाव्यभिचारात् । कुम्भनञ्पदाभ्यामकुम्भत्वबोधके द्वितीयभंगे परपर्यायावच्छेदेनाप्यवक्तव्यत्वोल्लेखापत्तेः । प्रकृतेऽप्येकेन तदुभय-आदि-साङ्केतिकपदेन बोधसम्भवाद् बाधाच्च ।

त्वोपलक्षित सत्त्वविशिष्ट घट घटात्मक एक शब्द से वाच्य होगा, इस में कोई बाधक नहीं दीखता है, अतः एक शब्दवाच्यत्व स्वपर्यायावच्छिन्नत्वोपलक्षित सत्त्वविशिष्ट घट में रहेगा, इसलिए उस स्थिति में "स्यादवक्तव्यो घटः" यह तृतीयभङ्ग नहीं प्रवृत्त होगा ।" –परन्तु यह कहना ठीक नहीं है । कारण, उसी रीति से स्वपरपर्यायावच्छिन्नत्व से उपलक्षित सत्त्वाऽसत्त्वविशिष्ट घट भी कथञ्चित् एकपद वाच्य बन जायगा, तब "अवक्तव्यत्व" घट में नहीं रहेगा, इसलिए स्वपर्यायावच्छिन्न सत्त्वविशेषित और परपर्यायावच्छिन्न असत्त्वविशेषित घट में भी "स्यादवक्तव्यो घटः" यह तृतीयभङ्ग प्रवृत्त नहीं होगा ।

यदि कहें कि–'स्वपर एतत् उभयपर्यायावच्छिन्नत्वविशिष्ट सत्त्वाऽसत्त्वोभयविशिष्ट घट तो किसी एकपदवाच्य नहीं हो सकता है, इसलिए तृतीयभंग की प्रवृत्ति होगी ।'– परन्तु यह कहना भी ठीक नहीं है । कारण, परपर्यायावच्छिन्नत्वविशिष्ट असत्त्वयुक्त घट भी किसी एक पद से वाच्य नहीं होता है, इसलिए उस में भी अवक्तव्यत्व आ जाने से द्वितीयभंग के स्थान में भी तृतीयभङ्ग का प्रसंग आएगा अर्थात् जहाँ "स्यान्नास्त्येव घटः परपर्यायैः" ऐसा द्वितीयभङ्ग होता है वहाँ "स्यादवक्तव्यो घटः परपर्यायैः" यह तृतीयभङ्ग प्रवृत्त हो जायगा ।

[अवक्तव्यत्वाभाव की आपत्ति का वारण अशक्य]

यदि यह कहा जाय कि–"उभयपर्यायावच्छिन्न वस्तु में भी कथञ्चित् एकपदवाच्यत्व ले कर अवक्तव्यत्वाभाव की आपत्तिरूप दोष जो दिया गया है वह युक्त नहीं है । कारण, विधेयांश विशेष्यक जो एकपद जन्य स्वपरपर्यायोभयावच्छिन्न प्रकारक शब्दबोध, तथाविधशाब्दबोधाऽविषयत्वरूप ही अवक्तव्यत्व हमें विवक्षित है । स्वपरपर्यायावच्छिन्न किसी भी रूप से घट किसी एकपद से जन्य शाब्दबोध का विषय नहीं होता है, अतः घट का स्वपर्याय जो कम्बुग्रीवत्वादि और परपर्याय जो त्वक्त्राणादि, एतदुभयावच्छिन्न घटत्वादि प्रकारक घटादि एकपदजन्य शाब्दबोध विषयता घटादिवस्तु में न रहने के कारण, तादृश शब्दबोधाऽविषयत्वरूप अवक्तव्यत्व घट में रहेगा, इसलिए अवक्तव्यत्वाभाव की आपत्ति नहीं आएगी । इसतरह "स्यादवक्तव्य घटः" इस तृतीयभंग की प्रवृत्ति भी होगी ।"–परन्तु यह कहना भी ठीक नहीं होगा । क्योंकि घट स्वपर्यायरूप से सत् है और परपर्यायरूप से असत् है, इसतरह सत् और असत् इन उभयपदजन्य स्वपरपर्यायावच्छिन्न शाब्दबोध का विषय घट होता है, यह तो आक्षेपकर्त्ता को भी मान्य है । तब उभयपदजन्यशाब्दबोध में भी एकपदजन्यत्व अवश्य रहता है, इस रीति से एकपद जन्य स्वपरपर्यायोभयावच्छिन्न शाब्दबोधविषयत्व ही घट में रह जाता है, अतः तथाविध

अथ स्वपरपर्यायोभयावच्छिन्नैकविधेयताकशाब्दबोधविषयत्वमेवाऽवक्तव्यत्वम्। द्वितीयभङ्गे च कुम्भनञ्पदाभ्यामपि तात्पर्यवशादेकविधेयकबोधस्यैवोद्देश्यत्वान्नातिप्रसङ्गः, उभयादिपदाच्च बुद्धिस्थशक्तादुभयविधेयकबोधस्यैवोद्देशान्न बाध इति

शाब्दबोधाऽविषयत्वरूप अवक्तव्यत्व का अभाव घट में रहेगा, इसलिए तृतीयभंग के अप्रवृत्तिप्रसंगरूप दोष का निवारण नहीं होता है।

[एक पद मात्र जन्यत्व की विवक्षा में भी आपत्ति]

यदि यह कहें कि-'शाब्दबोध में जो एकपदजन्यत्व विशेषण दिया गया है, उस विशेषणवाचकपद से एकपदमात्रजन्यत्व की ही विवक्षा है, इसलिए सत्-असत् पद द्वय से जन्य शाब्दबोध में एकपदमात्र जन्यत्व नहीं रहता है, अतः एकपदमात्रजन्य स्वपरपर्यायोभयावच्छिन्न प्रकारक शाब्दबोधाऽविषयरूप अवक्तव्यत्व घटादि में रहेगा। इसलिए तृतीयभंग की प्रवृत्ति में कोई बाधा नहीं होगी।'-परन्तु यह कहना भी ठीक नहीं होगा, क्योंकि परपर्यायेण "स्यान्नास्त्येव कुम्भः" यह द्वितीय भंग कुम्भ और नञ् इन दोनों पदों के द्वारा ही कुम्भ में परपर्यायावच्छेदेन अकुम्भत्व का बोध कराता है, इसलिए द्वितीयभंगजन्य शाब्दबोध में भी एकपदमात्र जन्यत्व नहीं रहता है, अतः द्वितीयभंग में भा एकपदमात्रजन्य परपर्यायावच्छेदेन अवक्तव्यत्व का उल्लेख हो जायगा। वस्तुस्थिति तो यह है कि परपर्यायावच्छेदेन कुम्भ, नास्तिपद जन्य अकुम्भत्वप्रकारक शाब्दबोध का विषय बनता है, इसीलिए अवक्तव्यत्व का उल्लेख उस भंग में नहीं होता है, उस की आपत्ति होगी। दूसरी बात यह है कि "पुष्पदन्त" पद का संकेत सूर्य और चन्द्र में एक ही है, उस एक संकेत से उक्त "पुष्पदन्त" पद से चन्द्र और सूर्य इन दोनों का बोध जैसे होता है, उसी तरह प्रकृत में भी सत्त्व और असत्त्व इन दोनों अर्थों में किसी एक पद का संकेत मानकर उस एकपदमात्रजन्य स्वपरपर्यायोभयावच्छिन्न विधेयभूत, सत्त्वासत्त्वोभयप्रकारक शाब्दबोधविषयता ही घटादि में रह जायगी, तब तो उक्त शाब्दबोधाऽविषयत्वरूप अवक्तव्यत्व का बाध हो जाने से भी तृतीयभंग की प्रवृत्ति नहीं होगी। अतः अवक्तव्यत्व का निर्वचन जो आप ने किया है, वह संगत नहीं है। -

[अवक्तव्यत्व का नये ढंग से निर्वचन से समाधानप्रयास]

(अथ स्वपरपर्याय) आशंकाकार के समक्ष यदि यह समाधान प्रस्तुत किया जाय कि-स्वपरपर्यायोभयावच्छिन्न एकविधेयक एकपदमात्र जन्य शाब्दबोधाऽविषयत्व को ही अवक्तव्यत्व शब्द से विवक्षित करेंगे, तब कोई दोष नहीं होगा क्योंकि प्रथमभंग में स्वपर्यायावच्छिन्न सत्त्वरूप एकविधेयक शाब्दबोध होता है, स्वपरपर्यायोभयावच्छिन्न एकविधेयक शाब्दबोध नहीं होता है, इसलिए वहाँ अवक्तव्यत्व का प्रसंग नहीं आता है। द्वितीयभंग में भी स्वपरपर्यायोभयावच्छिन्न एकविधेयक शाब्दबोध नहीं होता है, किन्तु परपर्यायावच्छिन्न असत्त्वरूप एकविधेयक शाब्दबोध ही होता है, इसलिए वहाँ भी अवक्तव्यत्व का प्रसंग नहीं आता है। तृतीयभग में तो स्वपर्यायावच्छिन्न सत्त्व और परपर्यायावच्छिन्न असत्त्व एतत् उभय विधेयक शाब्दबोध करना चाहते हैं, परन्तु वह किसी एक

चेत् ? न, अप्रसिद्धेः । विकल्पबलात्कथञ्चित् प्रसिद्धावप्यनापेक्षिकत्वेन तत्र स्यात्प्रयोगानुपपत्तेः । तथा चापेक्षिकविशेषविश्रान्तवक्तव्यत्वप्रतिपक्षावक्तव्यत्वासिद्धौ वक्तव्यत्वविषयस्याष्टमभङ्गस्यापत्तेः । अवक्तव्यत्वप्रतिपक्षस्य विशेषविश्रान्तत्वादेव नाष्टमभङ्गापत्तिरिति हि सम्प्रदाय इति चेत् ?

पद से सम्भव नहीं है और न एक विधेयक भी होगा, अतः उक्त शाब्दबोधाऽविषयत्वरूप अवक्तव्यत्व के रहने से तृतीयभंग की प्रवृत्ति होने में कोई बाधा नहीं होती है। द्वितीयभंग में जो परपर्यायावच्छेदेन अवक्तव्यत्वोल्लेख की आपत्ति पूर्वलक्षण में लगाई गई थी वह भी इस लक्षण में नहीं आती है, क्योंकि अस्तित्व-नास्तित्व एतत् उभयविधेयकबोध ही तृतीयभंग को अभीष्ट है, वह तो द्वितीयभंग में नहीं रहता है। अतः अवक्तव्यत्व का उल्लेख द्वितीय भंग में नहीं प्राप्त होता है। उभय अर्थ में सांकेतिक एकपदजन्यबोध को लेकर जो बाध दोष पूर्वलक्षण में दिया गया था उसका भी प्रसंग नहीं आता है, क्योंकि अस्तित्व और नास्तित्व इन दोनों में संकेतित उभयादि एकपद से जो शाब्दबोध होता है, वह उभयविधेयक ही होता है। तादृश पद जन्य शाब्दबोध विषयभूत विधेयता, अस्तित्व और नास्तित्व में भिन्न भिन्न रहती है, इसलिए वह शाब्दबोध स्वपरपर्यायोभयावच्छिन्न एकविधेयक नहीं होता है अतः विवक्षित शाब्दबोधाऽविषयत्वरूप अवक्तव्यत्व वहाँ रहता ही है, इसलिए बाध का सम्भव ही नहीं होता है।

[अप्रसिद्धि दोष से नए निर्वचनवाला प्रयास निष्फल]

परन्तु यह समाधान भी युक्त नहीं है। कारण, स्व और पर एतत् उभयपर्यायावच्छिन्न कोई एक धर्म तो मिलता ही नहीं है। घटादि में स्वपर्यायावच्छिन्न सत्त्वधर्म रहता है, परन्तु वह परपर्यायावच्छिन्न नहीं है और परपर्यायावच्छिन्न असत्त्वधर्म जो घटादि में है वह स्वपर्यायावच्छिन्न नहीं है, इसीलिए उभयपर्यायावच्छिन्न कोई भी एक धर्म प्रसिद्ध नहीं होता है। अतः तथाविध एकधर्म विधेयक शाब्दबोध भी अप्रसिद्ध हो जाता है, इसलिए तथाविध शाब्दबोध विषयत्वरूप अवक्तव्य की भी अप्रसिद्धि हो जाती है। इस हेतु से तृतीयभंग की प्रवृत्ति का सम्भव कहीं भी नहीं होगा।

यदि कह कहें कि–'प्रमाण से जो वस्तु सिद्ध नहीं होती है वह भी विकल्पसिद्ध मानी जाती है। इस नियम के अनुसार उक्त अवक्तव्यत्व प्रमाणसिद्ध न होने पर भी विकल्पसिद्ध तो होगा ही, उसी को लेकर तृतीयभङ्ग की प्रवृत्ति होगी'–परन्तु यह कहना भी संगत नहीं है क्योंकि विकल्पसिद्ध वस्तु को किसी की अपेक्षा नहीं रहती है। अत एव वह निरपेक्ष मानी जाती है और "स्यात्" पद अपेक्षा को सूचित करता है, इस लिए विकल्पसिद्ध अवक्तव्यत्ववाचक अवक्तव्य शब्द के साथ स्यात् पद का प्रयोग नहीं हो सकेगा, तब "घटः स्यादवक्तव्य एव" इसतरह के तृतीयभङ्ग का उल्लेख नहीं हो सकेगा।

[निरपेक्ष वक्तव्यत्व के अष्टमभंग की आपत्ति]

यदि यह प्रश्न किया जाय कि "स्यात्" पद का प्रयोग भले ही न हो तो भी 'यह अवक्तव्य ही है; इस रूप से ही तृतीयभङ्ग की प्रवृत्ति होगी तो क्या हर्ज है ?'–तो

न, प्रकृतविधिनिषेधसंसर्गावच्छिन्नैकविधेयताकशाब्दबोधाविषयत्वरूपस्याऽवक्तव्यत्वस्य स्वपरपर्यायोभयावच्छेदेन तृतीयभंगादुपस्थित्या दोषाभावाद्, अवच्छिन्नान्तोपानादवक्तव्यत्वैकविधेयतामादाय न बाध इति दिक् ॥३॥ [तृतीयो भंगः]

इस का समाधान यह है कि निरपेक्ष अवक्तव्यत्व को लेकर यदि "स्यात्" पद से रहित "अयं अवक्तव्य एव" इस रीति से तृतीयभङ्ग की प्रवृत्ति का समर्थन किया जायगा तो निरपेक्ष वक्तव्यत्व को लेकर तद्बोधक "अयं वक्तव्य एव" इस रीति से आठवें भङ्ग की भी प्रवृत्ति का प्रसंग आयेगा, जो किसी आचार्य ने नहीं माना है, इसलिए अप्रमाणिक है। इस का कारण यह है कि, आपेक्षिक वक्तव्यत्व अस्तित्वादिरूप किसी विशेष में ही विश्रान्त रहता है, उस का प्रतिपक्ष अर्थात् विरोधी तो आपेक्षिक अवक्तव्यत्व ही हो सकता है, उस की पूर्वोक्त रीति से अप्रसिद्धि ही है क्योंकि स्वपरपर्यायावच्छिन्न कोई भी एक धर्म मिलता नहीं है। इसलिए स्वपरपर्यायावच्छिन्न एकधर्मनिष्ठविधेयताबोध ही अप्रसिद्ध हो जाता है, तब तथाविधबोधविषयत्व भी अप्रसिद्ध होगा और तथाविधबोधविषयत्वाभावरूप अवक्तव्यत्व भी अप्रसिद्ध हो जाता है। तब तो, विकल्प के आधार पर प्रसिद्ध किये गए निरपेक्ष वक्तव्य को लेकर ही तृतीयभङ्ग का समर्थन किया जा सकता है, इस स्थिति में निरपेक्ष अवक्तव्यत्व का प्रतिपक्ष निरपेक्ष वक्तव्यत्व ही होगा, अतः निरपेक्ष वक्तव्यत्व विषयक अष्टमभङ्ग का प्रसंग प्रस्तुत अवक्तव्यत्व का लक्षण मानने पर आयेगा।

[अष्टमभंग की आपत्ति का प्रतिकार अशक्य]

यदि यह कहा जाय कि–'आपेक्षिक अवक्तव्यत्व पक्ष में भी आपेक्षिक वक्तव्यत्व विषयक अष्टमभङ्ग का प्रसंग जैसे नहीं है, उसीतरह निरपेक्ष अवक्तव्यत्व पक्ष में भी अष्टमभङ्ग का प्रसंग नहीं होगा।'–परन्तु यह कहना भी ठीक नहीं है। कारण, आपेक्षिक अवक्तव्यत्व से आपेक्षिक वक्तव्यत्व का ही निरास किया जाता है, वह आपेक्षिक वक्तव्यत्व कथञ्चित् अस्तित्व–कथञ्चित् नास्तित्वादिरूप है, जिस का प्रतिपादन "स्यादस्त्येव घटः" "स्यान्नास्त्येव घटः" इत्यादि भङ्गों से हो ही जाता है, इसलिए तद्बोधक अष्टमभङ्ग की आवश्यकता नहीं रहती है, अतः आपेक्षिक अवक्तव्यत्व पक्ष में अष्टमभङ्ग के होने का अवसर ही नहीं आता है। निरपेक्ष अवक्तव्यत्व का प्रतिपक्ष जो निरपेक्ष वक्तव्यत्व है वह कहीं भी विश्रान्त (अवस्थित) नहीं है। अतः प्रस्तुत अवक्तव्यत्व के निर्वचन में अष्टम भंगप्राप्तिस्वरूप दोष दुर्निवार है। यहाँ तक पूर्वपक्षी की आशंका प्रस्तुत है।

[दीर्घ आशंका का समाधान तृतीय निर्वचन के स्वीकार से]

[न, प्रकृत] पूर्वपक्षी ने तृतीयभङ्ग का सम्भव नहीं हो सकता है, इस आशंका को प्रस्तुत किया। उस का समाधान सिद्धान्ती यह प्रस्तुत करते हैं कि पूर्व में जो दो प्रकार के अवक्तव्यत्व के निर्वचन किए गए हैं, उन में सदोषत्व का समर्थन पूर्वपक्षी ने किया है, वे दोष तृतीयप्रकार के अवक्तव्यत्व का जो निर्वचन किया जाता है, उस में संभवित नहीं होते हैं। प्रकृत विधि निषेध संसर्गावच्छिन्न एकविधेयता के शाब्दबोधाऽविषयत्वरूप

एकस्मिन् देशे स्वपर्यायसत्त्वेनापरस्मिंश्च परपर्यायाऽसत्त्वेन विवक्षितो घटोऽघटश्च भण्यते । एकस्मिन् धर्मिणि देशभेदेन भिन्नतया विवक्षिते एकवाक्यादुभयबोधतात्पर्येण तथाबोधात् ॥४॥ [चतुर्थो भंगः]

अवक्तव्यत्व का निर्वचन यह तृतीय प्रकार का निर्वचन है । तृतीयभङ्ग का असम्भव जो बताया है, वह इस निर्वचन में लागू नहीं होगा । कारण, "घटः स्वपर्यायेण अस्ति परपर्यायेण नास्ति" इन भङ्गों में प्रथम भङ्ग से अस्तित्व का विधान होता है, वही प्रकृत विधि है । तथा द्वितीयभङ्ग से जो अस्तित्व का निषेध होता है वही प्रकृत निषेध है । तृतीय भङ्ग में जो अवक्तव्यत्व निष्ठ विधेयता है उस में प्रकृतविधि निषेध अर्थात् अस्तित्व, नास्तित्व, उस का संसर्ग नहीं रहता है, इसलिए तृतीयभङ्गीय जो अवक्तव्यत्वनिष्ठविधेयता वह प्रकृतविधिनिषेधसंसर्गावच्छिन्न नहीं होती है, किन्तु अवक्तव्यत्वनिष्ठ एकविधेयता से भिन्न विधेयताओं में प्रकृतविधिनिषेधसंसर्गावच्छिन्नत्व रहेगा, अतः तथाविध विधेयताकशाब्दबोधविषयता घट में नहीं रहेगी, इसलिए तथाविध शाब्दबोधाऽविषयत्वरूप अवक्तव्यत्व स्वपरपर्यायोभयावच्छेदेन घट में रह जायगा । अतः "स्यादवक्तव्यः घटः" इस तृतीयभङ्ग की उपस्थिति होने में कोई बाधक नहीं होगा । यहाँ "स्यात्" पद का प्रयोग होने से आपेक्षिक अवक्तव्यत्व का प्रतिपक्ष कथञ्चिदवक्तव्यत्व, कथञ्चिदस्तित्व और कथञ्चिद् नास्तित्वरूप विशेष में ही विश्रान्त होगा जिस का प्रथमभङ्ग और द्वितीयभङ्ग में ही अन्तर्भाव हो जाता है, इसलिए वक्तव्यत्वविषयक अष्टमभङ्ग की आपत्ति भी नहीं होती है । [तृतीय भंग]

[सप्तभंगी का चतुर्थभंग]

[एकस्मिन्] चतुर्थभङ्ग का निरूपण इस प्रकार है । जब घटादि वस्तु के एक भाग में स्वपर्याय कम्बुग्रीवादिरूप से अस्तित्व की विवक्षा होती है और अपरदेश में अर्थात् अन्य अवयव में त्वक्त्राणादि अपरपर्याय से नास्तित्व की विवक्षा होती है, तब अवयव और अवयवी में कथञ्चिद् अभेद होने से अवयवगत अस्तित्व-नास्तित्व का अवयवी में व्यपदेश मानकर कथञ्चित् घट और अघट उभय कहा जाता है । उस स्थिति में "स्यादस्ति घटः स्यान्नास्ति च घटः" इस चतुर्थ भङ्ग की प्रवृत्ति होती है । इस का कारण यह है कि अवयवभेद से अवयवी में कथंचित् भिन्नता की विवक्षा करने पर एक ही अवयवी में "स्यादस्ति घटः, स्यान्नास्ति घटः" इस एक वाक्य से ही घटत्व-अघटत्व यह उभय बोध में तात्पर्य होने से कथञ्चित् यह घट है और कथञ्चित् यह अघट है, ऐसा बोध होता है । अवयव के द्वारा अवयवी में अवयव के धर्मों का व्यपदेश "कुण्ठो देवदत्तः" इत्यादि स्थल में प्रसिद्ध है । देवदत्त के हस्तरूप अवयव में कुण्ठत्व धर्म रहने पर देवदत्त समूचे अवयवी में कुण्ठत्व व्यवहार होता है । देवदत्त के नेत्र में काणत्व होने पर देवदत्तरूप समूचे अवयवी में काणत्वव्यवहार "देवदत्तः काणः" इस रूप में होता है, इसी रीति से घट के एक अवयवगत सत्त्वधर्म को लेकर "स्यादस्ति घटः" इस रूप से घट में सत्त्व व्यवहार तथा घटत्व व्यवहार होता है । एवम्, अपर अवयवगत पररूपेण असत्त्व धर्म को लेकर

एकस्मिन् देशे स्वपर्यायैः सत्त्वेनार्पितोऽन्यत्र तु देशे स्वपरोभयपर्यायैः सत्त्वाऽसत्त्वाभ्यामर्पितः—कुम्भोऽवक्तव्यश्च भण्यते । देशभेदेनैकत्र सत्त्वाऽवक्तव्यत्वोभयबोधनतात्पर्यैकवाक्येन तथाबोधात् ॥५॥ [पञ्चमो भंगः]

घट में "नास्ति घटः" इस रूप से असत्त्व व्यवहार तथा "अयमघटः" इस रूप से अघटत्व व्यवहार भी होता है । यहाँ घट में जो "सत्त्वासत्त्व" दोनों का बोध होता है, वह क्रमिकबोध होता है और सत्त्वासत्त्व दोनों में प्राधान्य रहता है । यदि सत्त्व और असत्त्व की एक साथ प्रधान रूप से विवक्षा मानी जाएगी, तब अवक्तव्यत्व प्रतिपादक तृतीयभङ्ग में ही पर्यवसान हो जायगा, इसलिए क्रमिक विवक्षा मानना तो आवश्यक है । एवम्, एक घटरूप अवयवी में सत्त्व और असत्त्व या घटत्व–अघटत्व की विवक्षा विभागशः नहीं किंतु साक्षात् होगी, तो भी अवक्तव्यत्वबोधक तृतीयभङ्ग में पर्यवसान हो जायगा, इसलिए विभागशः दोनों धर्मों की विवक्षा आवश्यक है। विरुद्ध धर्मविशिष्ट अवयवों के द्वारा अवयवी का विभाग करके अवयवगत विरुद्धधर्मों का अवयवी में क्रमिक विवक्षा कर के व्यपदेश करने पर तृतीयभङ्ग में पर्यवसान नहीं होता है, अतः जैसे एक ही पुरुष में बालपर्याय से बालत्वबोध और कुमारपर्याय से अबालत्व का बोध होता है, उसी तरह घट में स्वपर्याय से अस्तित्व विवक्षित होने से घट कहा जाता है और परपर्याय से नास्तित्व विवक्षित होने से अघट भी कहा जाता है । [इति चतुर्थो भङ्गः] ॥८॥

[सप्तभंगी के पंचम भंग की निष्पत्ति]

[एकस्मिन्]=जहाँ कुम्भ के एक अवयव में कुम्बुग्रीवादि स्वपर्यायों से सत्त्व की विवक्षा हो और अन्य अवयव में स्वपर्याय कम्बुग्रीवादि और परपर्याय त्वक्त्राणादि इन दोनों से सत्त्व और असत्त्व इन दोनों की एक साथ विवक्षा हो, वैसे स्थल में कुम्भ कथञ्चित् कुम्भ और कथञ्चित् अवक्तव्य कहा जाता है, क्योंकि देश भेद से एक ही कुम्भ वस्तु में सत्त्व–अवक्तव्यत्व इन दोनों का बोध हो, इस तात्पर्य से "स्यादस्ति कुम्भः स्यादवक्तव्यश्च" इस पञ्चम भङ्गात्मक वाक्य का प्रयोग होता है । अतः एक वस्तु में देशभेद से सत्त्व-अवक्तव्यत्व एतदुभयप्रकारक बोध होता है । यहाँ यह ध्यान में रहना चाहिए कि जिस देश में अस्तित्व की विवक्षा रहती है वहाँ अस्तित्व, अवक्तव्यत्वस्वभाव से अनुविद्ध ही रहता है और अपर देश में जो अस्तित्व–नास्तित्व इन दोनों की युगपत् विवक्षा से अवक्तव्यत्व रहता है, वहाँ भी अवक्तव्यत्व अस्तित्वानुविद्ध ही रहता है । इस स्थिति में पञ्चमभङ्ग की प्रवृत्ति होती है ।

यहाँ पर यह आशंका उठती है कि स्वपर्यायों से अस्तित्व की विवक्षा जैसे प्रथम भङ्ग में होती है, वैसे पञ्चमभङ्ग में भी होती है, अतः पञ्चमभङ्ग को प्रथमभङ्गरूप क्यों नहीं माना जाय ? तथा अस्तित्व, नास्तित्व एतत् उभयरूप से युगपद् विवक्षा तृतीयभंग में भी रहती है, इसलिए तृतीयभंग में पञ्चमभंग का अतिप्रसंग आता है । इस का समाधान यह है कि प्रथमभंग में "अस्तित्व" अवक्तव्यत्वानुविद्ध नहीं रहता है और तृतीयभंग में अवक्तव्यत्व अस्तित्वानुविद्ध नहीं रहता है । पञ्चमभंग में अस्तित्व अवक्त-

एकदेशे परपर्यायैरसद्भावेनार्पितोऽन्यस्मिंस्तु स्वपरपर्यायैः सत्त्वाऽसत्त्वाभ्यामेकेन शब्देन वक्तुमभिप्रेतो—अकुम्भोऽवक्तव्यश्च भण्यते। देशभेदेनैकत्राऽसत्त्वाऽवक्तव्यत्वोभयबोधनतात्पर्यकवाक्येण तथाबोधात् ॥६॥ (षष्ठो भंगः)

व्यत्वानुविद्ध रहता है और अवक्तव्यत्व अस्तित्वानुविद्ध रहता है, इसलिए पञ्चमभंग को केवल प्रथमभंग और केवल तृतीयभंग नहीं कह सकते हैं। यदि यह प्रश्न हो कि प्रथम और तृतीयभंग में भी अस्तित्व को अवक्तव्यत्व से अनुविद्ध क्यों नहीं माना जाता है ? तो यह प्रश्न ठीक नहीं है क्योंकि वक्ता को वैसा ही वाक्यप्रयोग करना चाहिए जैसा बोध श्रोता को अभीष्ट हो। प्रथमभंग के श्रोता को अवक्तव्यत्व से अननुविद्ध अस्तित्व का बोध अभीष्ट रहता है, इसलिए अवक्तव्यत्व से अननुविद्ध अस्तित्व का बोध जिस से हो, ऐसे ही वाक्य का प्रयोग वक्ता करता है, वही वाक्य प्रथमभंग रूप होता है और जहाँ पर अस्तित्व से अननुविद्ध अवक्तव्यत्व का बोध श्रोता को अभीष्ट रहता है, वहाँ पर वक्ता भी अस्तित्व से अननुविद्ध अवक्तव्यत्वबोधक वाक्य का प्रयोग करता है, वही वाक्य केवल तृतीयभंगरूप बनता है। पञ्चमभंग में इस से विपरीत स्थिति होती है क्योंकि वस्तु सभी अनन्तधर्मात्मक हैं, अतः वस्तु में देशभेद से अवक्तव्यत्वानुविद्ध अस्तित्व का बोध और अस्तित्वानुविद्ध अवक्तव्यत्व का बोध श्रोता को जब अभीष्ट होता है तब वक्ता को भी श्रोता के अनुरोध से वैसे ही वाक्य का प्रयोग करना आवश्यक हो जाता है जिस से अवक्तव्यत्वानुविद्ध अस्तित्व का और अस्तित्वानुविद्ध अवक्तव्यत्व का बोध हो, वही वाक्य पञ्चमभंगरूप होता है, जिस का आकार "कुम्भः स्यादस्त्येव, स्यादवक्तव्य एव" यह है ॥ इति पञ्चमो भंगः ॥ ५॥

[सप्तभंगी के छट्ठे भंग की निष्पत्ति]

[एकदेशे] छट्ठे भंग का निरूपण इस प्रकार है। जब कुम्भ के एकदेश में त्वक्त्राणादि परपर्यायों से असत्त्व की विवक्षा होवे और अन्य अवयव में स्वपर्याय के द्वारा सत्त्व तथा परपर्याय के द्वारा असत्त्व को एक शब्द से कहने की इच्छा वक्ता को हो उस स्थिति में उन अवयवों के द्वारा कुम्भरूप एक अवयवी अकुम्भ और अवक्तव्य कहा जाता है। कारण, अवयव के भेद से एक अवयवी में असत्त्व और अवक्तव्यत्व का बोध हो जाता है। वह वाक्य "घटः स्यान्नास्त्येव स्यादवक्तव्य" इस प्रकार का होता है, इसी को षष्ट भंग कहते है। यहाँ भी यह ध्यान रखना चाहिए कि एकदेश में जो असत्त्व की विवक्षा होती है, वह असत्त्व अवक्तव्यत्व से अनुविद्ध रहता है और अपर अवयव में जो अवक्तव्यत्व रहता है वह असत्त्वानुविद्ध रहता है, इसीलिए केवल द्वितीयभंग की व्यावृत्ति हो जाती है, क्योंकि द्वितीयभंग से जो "नास्तित्व" बोधित होता है वह अवक्तव्यत्व से अनुविद्ध नहीं रहता। तृतीय भंग की भी व्यावृत्ति इसी हेतु से होती है कि तृतीयभंग से जो एक शब्द के द्वारा सत्त्वासत्त्व की युगपत्विवक्षा से अवक्तव्यत्व का जो बोध होता है, वह नास्तित्व से अनुविद्ध नहीं रहता। कारण, श्रोता को नास्तित्व से अननुविद्ध अवक्तव्यत्व का बोध होना ही अभीष्ट है, इसलिए वक्ता भी नास्तित्व से अननुविद्ध अवक्तव्यत्वबोधक

तथैकस्मिन् देशे स्वपर्यायैः सद्भावेनार्पितोऽन्यस्मिंस्तु परपर्यायैरसद्भावेनार्पितोऽपरस्मिंस्तु स्वपरोभयपर्यायैः सद्भावाऽसद्भावाभ्यामेकेन शब्देन वक्तुमिष्टः 'कुम्भोऽकुम्भोऽवक्तव्यश्च' भण्यते । देशभेदेनैकत्र त्रयबोधनतात्पर्यकवाक्येन तथाबोधादिति विशेषः ॥७॥ [सप्तमो भंगः]

जो वाक्य हो उसी का प्रयोग करता है । षष्ठभंग की स्थिति इस से विपरीत होती है क्योंकि श्रोता को अवक्तव्यत्व से अनुविद्ध "नास्तित्व" और नास्तित्व अनुविद्ध अवक्तव्यत्व का बोध होना इष्ट रहता है, इसलिए वक्ता को भी उसीतरह का बोध जिस से हो वैसे ही वाक्य का प्रयोग करना आवश्यक रहता है । यही षष्ठभंग का अभिप्राय है। (इति षष्ठो भंगः) ॥६॥

[सप्तभंगी के सप्तम भंग की निष्पत्ति]

(तथैकस्मिन्) सप्तमभङ्ग का निरूपण इस प्रकार है । जैसे, चतुर्थ, पञ्चम, षष्ठ भंगों में भिन्न-भिन्न अवयवों में सत्त्वादि की विवक्षा कर के अवयवों के द्वारा एक अवयवी में उन धर्मों का आरोप करके चतुर्थादिभंग का समर्थन किया गया है, उसीतरह, अवयवी के एक अवयव में स्वपर्याय द्वारा सत्त्व की विवक्षा, दूसरे अवयव में परपर्याय द्वारा असत्त्व की विवक्षा हो, तथा तीसरे अवयव में स्वपर्याय के द्वारा सत्त्व एवं परपर्याय के द्वारा असत्त्व इन दोनों को एक शब्द से कहने की इच्छा हो, उस स्थिति में कुम्भरूप एक अवयवी 'कुम्भ, अकुम्भ और अवक्तव्य' कहा जाता हैं । देशभेद से एक ही अवयवी में सत्त्व, असत्त्व और अवक्तव्यत्व एतत्त्रितय प्रकारक बोध अथवा कुम्भत्व, अकुम्भत्व और अवक्तव्यत्व त्रितय प्रकारक बोध होता है । वह वाक्य "कुम्भः स्यादस्त्येव स्यान्नास्त्येन, स्यादवक्तव्य एव" इस प्रकार का होता है, अथवा "अयं स्यात् कुम्भ एव, स्यात् अकुम्भ एव, स्यादवक्तव्य एव" इस प्रकार का होता है । यही सप्तमभंग का स्वरूप है । इसतरह की सप्तभंगी की प्रवृत्ति "साम्प्रतनय" में होती है, इसलिए "साम्प्रतनय" विशेषिततर अर्थ का ग्राहक माना जाता है, इसतरह "ऋजुसूत्र" में उक्त सप्तभंगा की प्रवृत्ति नहीं होती है इसलिए ऋजुसूत्र अविशेषित अर्थ का ग्राही होता है । यही ऋजुसूत्र की अपेक्षा से साम्प्रतनय में विशेषता समझनी चाहिए । यहाँ भी वह ध्यान रखना चाहिए कि अवयवी के किसी एक देश में जो सत्त्व की विवक्षा रहती है वह सत्त्व, असत्त्व और अवक्तव्यत्व दोनों से अनुविद्ध रहता है । एवम्, दूसरे अवयव में अपरपर्याय से विवक्षित असत्त्व भी सत्त्व और अवक्तव्यत्व से अनुविद्ध होता है । एवम् अन्य तृतीय अवयव में एकशब्द से सत्त्वासत्त्व इन दोनों की विवक्षा होने से वैसा शब्द न होने के कारण जो अवक्तव्यत्व की विवक्षा रहती है, वह अवक्तव्यत्व भी सत्त्व और असत्त्व इन दोनों से अनुविद्ध हा बोधित होता है । कारण यह है कि बोद्धा का परस्पर अनुविद्ध सत्त्व, असत्त्व और अवक्तव्यत्व एतत् त्रितय प्रकारकबोध का इच्छा रहती है । अतः उस के अनुरोध से वक्ता को भी तथाविधबोधजनक वाक्य का प्रयोग करना पडता है, इसलिए

तथा च बभाषे भाष्यकारः—* अहवा पच्चुप्पन्नो, रिउसुत्तस्साविसेसिओ चेव । कुम्भो विसेसियतरो, सब्भावाईहिं सद्दस्स ॥२२३१॥ सब्भावाऽसब्भावोभयप्पिओ सपरपज्जओभयओ । कुंभाऽकुंभाऽवत्तव्वोभयरूवाइभेओ सो ॥२२३२॥ त्ति" ॥ अत्र कुम्भाकुम्भेत्यादि गाथार्धेन षड्भंगाः साक्षादुपात्ताः सप्तमस्त्वादिशब्दात् । तथाहि [१] कुम्भोऽ[२]कुम्भोऽ[३]वक्तव्यः, [४]कुम्भश्चाकुम्भश्च, [५]कुम्भश्चावक्तव्यश्चाकुम्भश्चावक्तव्यश्चेति त्रिविध उभयरूप आदिशब्दसंगृहीतश्च [७]कुम्भोऽकुम्भोऽवक्तव्यश्चेति सप्तभेदो घट इति ॥

यहाँ प्रथमभंग से लेकर षष्ठभंग पर्यन्त किसी भंग को अवकाश मिलने का प्रसंग नहीं रहता है क्योंकि परस्परानुविद्ध सत्त्व, असत्त्व और अवक्तव्यत्वप्रकारकबोध पूर्व के किसी भंग से नहीं होता है, इसलिए सप्तमभंग की प्रवृत्ति होती है । इति सप्तमो भंगः ॥७॥

(तथा च बभाषे) साम्प्रतनय सप्तभंगों का स्वीकार करता है । ऋजुसूत्र के मत में सप्तभंगों का सम्भव नहीं है; यही ऋजुसूत्र की अपेक्षा से साम्प्रत में विशेष है, ऐसा ग्रन्थकार ने प्रतिपादन किया है । स्वप्रतिपादित इस अर्थ में समर्थन के लिए विशेषावश्यक भाष्यकार की दो गाथाओं को प्रमाणरूप से उद्धृत किया है–उन का तात्पर्य इस प्रकार है—

[भाष्यकार के शब्दों में सप्तभंगी का निर्देश]

ऋजुसूत्र नय नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव इन चारों वर्त्तमान घटों को मानता है । परन्तु "शब्दनय" पृथुबुध्नोदरादि आकार से युक्त जलाहरणादि क्रिया के योग्य वर्त्तमान भावघट मात्र को मानता है, इसलिए ऋजुसूत्र की अपेक्षा से विशेषिततर अर्थ का ग्राही शब्दनय है, यही शब्दनय में विशेषता है, परन्तु दूसरे प्रकार के भी शब्दनय में ऋजुसूत्र की अपेक्षा विशेष हो सकता है, इस अभिप्राय से भाष्य में 'अथवा' पद दिया है । वह दूसरा प्रकार यह है कि ऋजुसूत्र प्रत्युत्पन्न सत्त्वाऽसत्त्वादि से अविशेषित कुम्भ को ही सामान्यतः कुम्भ मानता है, परन्तु "शब्दनय" तो सद्भाव आदि से विशेषिततर कुम्भ को ही कुम्भ मानता है, इसलिए कुम्भ, अकुम्भ, अवक्तव्य आदि भेदों से युक्त कुम्भ को मानने से सप्तभंगों का प्रवृत्ति "शब्दनय" में होती है । स्वपर्यायों से सद्भाव विशेषित घट होता है, अतः "स्यादस्ति घटः" यह प्रथमभंग होता है । त्वक्त्राणादि परपर्यायों के द्वारा असद्भाव से विशेषित कुम्भ कुम्भरूप नहीं होता है, इस विवक्षा से "स्यात् नास्ति घटः" इस द्वितीयभंग की प्रवृत्ति होती है । तथा सभी स्वपर्याय कम्बुग्रीवादि के द्वारा सत्त्व से विशेषित और परपर्यायों के द्वारा असत्त्व से विशेषित कुम्भ की जब किसी एक सांकेतिक शब्द से विवक्षा होती है, तब कुम्भ अवक्तव्य होता है । उस स्थिति में "स्यात् कुम्भः अवक्तव्यः" इस तृतीयभंग का प्रवृत्ति होती है । जब क्रमिक सत्त्व विशेषित और असत्त्व विशेषित कुम्भ की विवक्षा होती है, तब "अयं स्यात्

---

* अथवा प्रत्युत्पन्न ऋजुसूत्रस्याविशेषित एव । कुम्भोऽविशेषिततरः सद्भावादिभिः शब्दस्य ॥२२३१॥ सद्भावाऽसद्भावोभयार्पितः स्वपरपर्यायोभयतः । कुम्भाऽकुम्भाऽवक्तव्योभयरूपादिभेदः सः ॥२२३२॥

अत्र च सकलधर्मिविषयत्वात्त्रयो भंगा अविकलादेशाः, चत्वारश्च देशावच्छिन्न-धर्मिविषयत्वाद्विकलादेश इति। यद्यपीदृशसप्तभंगपरिकरितं सम्पूर्णं वस्तु स्याद्वादिन

कुम्भः अकुम्भश्च" इस चतुर्थभंग की प्रवृत्ति होती है। इन में से तीन भंग एकरूप होते हैं, अर्थात् कुम्भत्व, अकुम्भत्व और अवक्तव्यत्वरूप एक-एक धर्मप्रकारक बोध को उत्पन्न करते हैं। चतुर्थ, पञ्चम और षष्ठ ये तीन भंग उभयरूप होते हैं। अर्थात् धर्मद्वयप्रकारक बोध को उत्पन्न करते हैं। उन में से प्रथम उभयरूप भंग चतुर्थभंगात्मक है, जिस का स्वरूप प्रदर्शित कर दिया गया है। द्वितीय उभयरूपभंग पञ्चमभंगरूप है। वस्तु के एक-देश में स्वपर्याय द्वारा सत्त्व की विवक्षा हो और दूसरे देश में स्वपर्याय और परपर्यायों के द्वारा सत्त्व और असत्त्व इन दोनों की युगपद् विवक्षा हो तो, "अयं स्यात्कुम्भः, स्यादवक्तव्यश्च" यह पञ्चमभंग प्रवृत्त होता है। इस में वह कुम्भ भी होता है और अवक्तव्य भी होता है। क्योंकि इस भंग से कुम्भत्व और अवक्तव्यत्व एतद् उभयप्रकारक बोध होता है, इसलिए यह भंग उभयरूप कहा जाता है। तथा वस्तु के एकदेश में परपर्यायों के द्वारा असत्त्व की विवक्षा हो और परपर्यायों के द्वारा युगपद् सांकेतिक किसी एक शब्द से सत्त्व और असत्त्व विवक्षा हो तो, "अयं स्याद् अकुम्भः, स्यात् अवक्तव्यश्च" यह षष्ठभंग प्रवृत्त होता है, इस भंग से भी अकुम्भत्व और अवक्तव्यत्व एतद् उभयप्रकारक बोध होता है, इसलिए उभयरूप माना जाता है। इसतरह पूर्वोक्त द्वितीय गाथा के उत्तरार्द्ध से छः भंगों का साक्षात् कथन किया गया है, जिन में प्रथम तीन एक एक धर्मप्रकारक बोध के जनक होते हैं और अवशिष्ट तीन दो दो धर्म प्रकारक बोध करते हैं। सप्तमभंग का संग्रह "आदि" पद से किया है। वस्तु के एक अवयव में स्वपर्यायों के द्वारा सत्त्व की विवक्षा, दूसरे अवयव में परपर्यायों के द्वारा असत्त्व की विवक्षा हो और तीसरे अवयव में स्वपर्याय और परपर्यायों के द्वारा युगपत् सांकेतिक किसी एक शब्द से सत्त्व-असत्त्व की विवक्षा हो तो अवयवों के द्वारा अवयवी सत्, असत् और अवक्तव्य होता है। इस स्थिति में "अयं स्यात् कुम्भः, स्याद् अकुम्भः, स्याद् अवक्तव्यश्च" यह सप्तमभंग प्रवृत्त होता है। इस भंग में घटत्व अघटत्व और अवक्तव्यत्व एतत् धर्मत्रयप्रकारक बोध होता है क्योंकि घट एकदेश में घटत्व से युक्त प्रतीत होता है, दूसरे देश में अघटत्व से युक्त प्रतीत होता है और तीसरे देश में अवक्तव्यत्व से युक्त प्रतीत होता है, इस तरह घट के सात भेद सिद्ध होते हैं, क्योंकि [1]कुम्भत्व, [2]अकुम्भत्व, [3]अवक्तव्यत्व, [4]कुम्भत्वाऽकुम्भत्व, [5]कुम्भत्व-अवक्तव्यत्व, [6]अकुम्भत्व-अवक्तव्यत्व [7]कुम्भत्व-अकुम्भत्व-अवक्तव्यत्व" ये सात धर्म घट में सप्तभङ्गी प्रयोग के द्वारा सिद्ध होते हैं।

[सकलादेश, विकलादेश, स्याद्वाद और नय]

[अत्र च सकल]=इन सातों भङ्गों में प्रथम, द्वितीय और तृतीय भङ्ग अविकलादेश कहे जाते हैं क्योंकि एक-एक धर्मस्वरूप से इन भंगों से अखण्डधर्मि घटादि का ही विधान किया जाता है, इसलिए ये तीनों भंग सकलधर्मिविषयक होते हैं, अतः इन का सकलादेश या अविकलादेश शब्द से व्यवहार किया जाता है। चतुर्थ आदि चार भंगों में

एव सङ्गिरन्ते, तथापि ऋजुसूत्रकृताभ्युपगमापेक्षया एतदन्यतरभंगाधिक्याभ्युपगमाच्छब्दनयस्य विशेषिततरत्वमदुष्टमिति सम्प्रदायः ॥

देशभेद से भिन्न भिन्न धर्मद्वय या धर्मत्रयरूप से धर्मि का विधान होता है, इसलिए ये चारों भंग देशावच्छिन्नधर्मिविषयक होते हैं क्योंकि इन भंगों में अवयवों के द्वारा अवयवी में धर्मद्वयात्मकत्व या धर्मत्रयात्मकत्व निश्चित किया जाता है, इसीलिए ये भंग विकलादेश या देशादेश शब्द से व्यवहृत होते हैं ।

"प्रमाणनयतत्वालोकालंकार" ग्रन्थ के कर्त्ता आचार्य के मत से यह सप्तभंगी प्रत्येक भंग में सकलादेशरूप और विकलादेशरूप मानी गई है । उन का अभिप्राय यह है कि वस्तुमात्र अनन्त धर्मात्मक है और वस्तु में अनन्तधर्म प्रमाण से सिद्ध हैं उन धर्मों से उक्त धर्मि भी प्रमाण से सिद्ध हैं । उन अशेष धर्मात्मक वस्तु का उन अनन्त धर्मों से कालादि अष्टक की अपेक्षा से अभेद मानकर अर्थात् धर्म-धर्मी का अभेद मान कर एक साथ बोध जिस वाक्य से होता है वह वाक्य सकलादेश कहा जाता है । अथवा भिन्न स्वरूप उन धर्म और धर्मी को कालादि सापेक्ष उपचार=लक्षणा से अभेद मानकर एक काल में जिस वाक्य से बोध होता है, वह वाक्य सकलादेश कहा जाता है, ऐसा बोध प्रमाणसाध्य होता है, इसलिए प्रमाणवाक्य को सकलादेश कहते हैं । "द्रव्यार्थिकनय" से सत्तादि से अभिन्न अनन्त धर्मात्मक वस्तु में सत् आदि पद की शक्ति का ज्ञान होता है । कालादि अष्टक के द्वारा जो भेद का प्रतिसन्धान होता है उस से उपस्थित बाध का प्रतिरोध होना ही अभेद की प्रधानता कही जाती है । पर्यायार्थिकनय से 'सत्' आदि पद की शक्ति का ज्ञान अन्यापोह में अर्थात् तत्तत् व्यक्ति में होता है, उस से अभेद का बोध नहीं हो सकता है । अनेक धर्मात्मक वस्तु का अभेद करने में ही प्रमाणवाक्य का तात्पर्य होता है । इस तात्पर्य की उपपत्ति, जब तक सत् आदि पद की लक्षणा अभेद में न होगी, तब तक सिद्ध नहीं होती है, इसलिए अभेद में लक्षणा करना आवश्यक होता है, उसी लक्षण को अभेदोपचार भी कहते हैं । इस अभेदोपचार से भी वस्तु के समस्त धर्मों का ज्ञान एक काल में होता है। इसतरह दो प्रकार अभेद या अभेदोपचार से प्रत्येक भंग सकलादेश कहा जाता है । जिस समय वस्तु के अनन्त धर्मों में प्रधानरूप से भेद अथवा भेदोपचार रहता है उस समय तक शब्द से वस्तु में अनन्त धर्मों का एक काल में प्रतिपादन नहीं हो सकता है, इस हेतु से उन अनन्त धर्मों का क्रम से ही प्रतिपादन होता है। अतः क्रम से वस्तु के अनेक धर्मों का प्रतिपादन जिस वाक्य से होता है, वह वाक्य "विकलादेश" कहा जाता है । "विकलादेश" नय वाक्य को कहते हैं । जब अस्तित्वादि वस्तुधर्मों में कालादि के भेद से भेदविवक्षा रहती है, उस समय किसी भी शब्द की अनेक अर्थ के बोध कराने में शक्ति नहीं रहती है इसलिए विकलादेश अर्थात् नय वाक्य उन अर्थों का पृथक् बोध कराता है । इस प्रकार सकलादेशरूप सप्तभंगी को प्रमाणवाक्य और विकलादेशरूप सप्तभंगी को नयवाक्य कहते हैं ।

कालादि अष्टक इस प्रकार हैं, काल, आत्मरूप, अर्थ, सम्बन्ध, उपकार, गुणिदेश, संसर्ग और शब्द, जिन से प्रमाणवाक्य से अभेद विवक्षा करके बोध होता है और

नयवाक्य से भेद विवक्षा करके बोध होता है। [१]कालः-'जीवादि वस्तु कथञ्चित् अस्तित्वरूप ही है' ऐसा वाक्यप्रयोग करने पर जीव में जिस समय अस्तित्व धर्म की स्थिति रहती है, उसी समय दूसरे भी अनन्त धर्मों की स्थिति जीव आदि में रहती है, अतः अभिन्नकाल की अपेक्षा से अस्तित्व और तदन्य धर्मों में अभेद मानकर तथाविध अनन्त धर्मात्मक वस्तु का प्रतिपादन जिस वाक्य से होता है वह वाक्य सकलादेश कहा जाता है।

[२]आत्मरूपः-जो अस्तित्व का आत्मरूप जीवगुणत्वात्मक है, वही जीवगुणत्व अन्य ज्ञानादि का भी आत्मरूप है, इसलिए आत्मरूप से जीव के सभी गुणों में अभेद होता है।

[३]अर्थः-अर्थपद से अस्तित्वादि धर्मों का द्रव्यरूप आधार विवक्षित है, अस्तित्व का आधार जो जीवादिरूप द्रव्य है वही अन्य धर्मों का भी आधार है, इसलिए आधाररूप अर्थ से भी सभी धर्मों में अभेद सिद्ध होता है।

[४]सम्बन्धः-संबन्ध पद से अविष्वग्भाव अर्थात् अपृथक्भावरूप संबन्ध विवक्षित है, जो धर्मों में धर्मी के साथ रहता है, वह कथञ्चिद् तादात्म्यरूप है। उस संबन्ध से जैसे अस्तित्व जीवादि द्रव्य में रहता है, वैसे अन्यधर्म भी उसी संबन्ध से वहाँ रहते हैं, इसलिए सम्बन्ध के अभेद से जीवादिगत सभी धर्मों में अभेद रहता है।

[५]उपकारः-अस्तित्वरूप धर्म से धर्मी में स्वप्रकारक बुद्धि विषयत्वरूप जो उपकार होता है, वही उपकार अन्य धर्मों से भी जीवादिरूप धर्मी में होता है, क्योंकि दूसरे धर्म भी धर्मी पर स्वप्रकारक बुद्धि विषयत्वरूप उपकार को करते हैं, इसलिए उपकार के अभेद से जीवादिगत सभी धर्मों का अभेद होता है।

[६]गुणिदेशः-गुणिद्रव्य को कहते हैं, उस का सम्बन्धि देश वही होता है जिस क्षेत्र में द्रव्य रहता हो। अस्तित्वरूप धर्मवाला द्रव्य जिस देश में रहता है, उसी देश में अन्य धर्मवाला द्रव्य रहता है इसलिए सभी धर्मों का गुणि देश वह एक द्रव्य होता है, अतः सभी धर्मों के गुणि का क्षेत्ररूप देश एक है, इसलिए क्षेत्ररूप गुणिदेश के अभेद से द्रव्यगत सभी धर्मों का अभेद होता है।

[७]संसर्गः- अस्तित्वादि किसी धर्म का जो वस्तु के साथ संसर्ग होता है, वही संसर्ग वस्तुगत अन्य धर्मों का भी वस्तु के साथ होता है इसलिए सभी धर्मों का वस्तु के साथ संसर्ग एक ही सिद्ध होता है, अतः संसर्ग के अभेद से धर्मों का अभेद सिद्ध होता है। यहाँ शंका होना सहज है कि-'सम्बन्ध और संसर्ग इन दोनों शब्दों का अर्थ एक ही होता है, तब कालादि में सम्बन्ध और संसर्ग इन दोनों के ग्रहण से पुनरुक्ति क्यों की जाती है?'-इस का समाधान यह है कि सम्बन्ध पद से कथञ्चित् तादात्म्यरूप अविष्वग्भाव का ग्रहण किया गया है, इसलिए वहाँ अभेद प्रधान और भेद गौण रहता है, इसलिए प्रधानभूत सम्बन्ध के अभेद से धर्मों का अभेद वहाँ सिद्ध होता है। "संसर्ग" पद से तादात्म्यभिन्न सम्बन्ध की विवक्षा है, इसलिए यहाँ भेद प्रधान और अभेद अप्रधान है, अतः संसर्ग अप्रधानीभूत अभेद को लेकर द्रव्यगत धर्मों का अभेद सिद्ध करता है। यह विशेष होने के कारण सम्बन्ध और संसर्ग में पुनरुक्ति दोष नहीं आता है।

अथवा लिंगवचनसंख्यादिभेदेनार्थभेदाभ्युपगमादृजुसूत्रादस्य विशेषः । अयं खल्वेतस्याशयः—यदि ऋजुसूत्रेण

[शब्दः—वाचकशब्द के अभेद से भी वस्तुगत धर्मों का अभेद सिद्ध होता है । जैसे—अस्तित्व धर्मात्मक वस्तु का वाचक जो "अस्ति' शब्द होता है वही अस्ति शब्द अन्य अनन्त धर्मात्मक वस्तु का भी वाचक होता है, इसलिए अस्तिरूपवाचक शब्द के अभेद से वस्तुगत अनन्त धर्मों में अभेद सिद्ध होता है ।

पर्यायार्थिकनय की गौणता और द्रव्यार्थिकनय की प्रधानता की विवक्षा होती है, तब उन वस्तुगत धर्मों में कालादि की अपेक्षा से अभेद भासित होता है । जब "द्रव्यार्थिकनय" में गौणता और "पर्यायार्थिकनय" में प्रधानता की विवक्षा होती है, तब तो धर्मों में भेद ही भासित होता है । तब एक शब्द से अनेक धर्मों का प्रतिपादन नहीं हो सकता है, इसलिए क्रम से ही प्रतिपादन होता है, उसी का "विकलादेश" शब्द से व्यवहार किया जाता है । विकलादेश नयात्मक होता है, उस में भेद की प्रधानता रहती है, अथवा भेद का उपचार रहता है ।

यहाँ शंका उठे कि—"साम्प्रतनय" यदि सप्तभङ्गी का स्वीकार करें, तो उस में भी प्रमाणत्व का प्रसंग होगा तब "साम्प्रतनय" में "स्याद्वादिता" का प्रसंग आयेगा क्योंकि उक्त रीति से सप्तभङ्गी युक्त सम्पूर्ण वस्तु को स्याद्वादी ही मानते हैं । स्याद्वादी और प्रमाणवाक्य ये दोनों पद एक अर्थ के बोधक होते हैं । नय वाक्य तो प्रमाणवाक्य न होने के कारण स्याद्वादरूप नहीं माना जाता है ।" इस का समाधान यह है कि "साम्प्रतनय" में सप्तभंगी का जो प्रदर्शन भाष्यकार ने किया है, उस का तात्पर्य यह नहीं मानना चाहिए कि साम्प्रतनय भी सप्तभंग परिकरित सम्पूर्ण वस्तु को स्वीकार करता है, इसलिए प्रमाणवाक्य है; किन्तु "अहव पच्चुपन्नो" इत्यादि भाष्य का तात्पर्य "ऋजुसूत्र" की अपेक्षया साम्प्रतनय में क्या विशेष है, इस को स्पष्ट करने में है । "ऋजुसूत्र" सद्भाव और असद्भाव से अविशेषित वर्त्तमान कुम्भमात्र ग्राही है और "साम्प्रतनय" सद्भाव और असद्भाव इन दोनों में से किसी एक से विशेषित कुम्भ का ग्राहक है । सात में से किसी एक भंग द्वारा सद्भाव और असद्भाव इन दोनों में से अन्यतर का ग्राहक होने के कारण ही "साम्प्रतनय" में ऋजुसूत्र की अपेक्षा से साम्प्रत का विशेषिततर अभ्युपगम दिखाया गया है । यह सम्प्रदाय है अर्थात् जैनाचार्यों की परम्परा है ।

[लिंगादिभेद से अर्थभेद स्वीकार—साम्प्रत की विशेषता]

[अथवा लिङ्ग] अविशेषित अर्थग्राही ऋजुसूत्र के अभ्युपगम की अपेक्षा से विशेषिततर अर्थग्राहिता ही साम्प्रत की विशेषता है, इस को अन्य प्रकार से भी बताना है । वह प्रकार यह है : लिङ्ग, वचन और संख्या आदि का भेद रहने पर भी ऋजुसूत्र अर्थ का भेद नहीं मानता है । साम्प्रतनय तो लिङ्ग, वचन, संख्या आदि के भेद से अर्थ का भेद मानता है । जैसे—"तटः तटी तटम्" यहाँ साम्प्रतनय को तीनों शब्दों का अर्थ भिन्न भिन्न अभिमत है । "गुरुः, गुरवः" यहाँ एकवचन बहुवचन के भेद से दोनों शब्दों के अर्थ में

पलालं न दहत्यग्निर्भिद्यते न घटः क्वचित् ॥
नासंयतः प्रव्रजति, भव्योऽसिद्धो न सिध्यति ॥१।"

भेद है क्योंकि ध्वनि का भेद इन में रहता है, जैसा ध्वनि रहता है वैसा ही अर्थ साम्प्रत को इष्ट है। इसतरह भी ऋजुसूत्र की अपेक्षा से विशेषिततर अर्थ का ग्राही साम्प्रतनय सिद्ध होता है। यह विशेष भी भाष्यकार का सम्मत ही है। विशेषावश्यक भाष्य की निम्नलिखित गाथाओं का पर्यालोचन करने पर यह विशेष स्फुटतया अवगत होता है–

"वत्थुमविसेसओ वा जं भिन्नाभिन्नलिङ्गवयणंपि ।
इच्छइ रिउसुत्तनओ विसेसियतरं तयं सद्दो ॥२२३३॥
[वस्त्वविशेषतो वा यद् भिन्नाभिन्नलिङ्गवचनमपि ।
इच्छति ऋजुसूत्रनयो विशेषिततरं तत् शब्दः ॥ २२३३॥]
धणिभेयाओ भेओत्थीपुंलिङ्गभिहाणवच्चाणं ।
पड-कुंभाणं जओ व तेणाभिन्नत्थमिट्ठं तं ॥२२३४॥
[ध्वनिभेदात् भेदः स्त्री-पुंलिङ्गाभिधानवाच्यानाम् ।
पट-कुम्भानामिव यतस्तेनाभिन्नार्थमिष्टं तत् ॥२२३४ ॥]

भिन्न लिङ्गक शब्द हो या अभिन्न लिङ्गक शब्द हो, एवम्, भिन्न विभक्तिवाला शब्द हो या समान विभक्तिवाला शब्द हो, तो भी जिस वस्तु को "ऋजुसूत्रनय" अविशेषित मानता है, अर्थात् अभिन्न मानता है, उसी अर्थ को "साम्प्रत नय" भिन्न-लिङ्गवाले अथवा भिन्नवचनवाले शब्द से बोध्य होने पर विशेषिततर अर्थात् भिन्न-भिन्न मानता है। (२२३३)। जैसे "पट, शब्द और 'कुम्भ' शब्दरूप ध्वनि के भेद से अर्थ का भेद होता है, वैसे ही स्त्रीलिङ्ग, पुंलिङ्ग, नपुंसकलिंग, 'तटः तटी, तटम्' इन अभिधानों के भेद से अर्थों का भेद है क्योंकि यहाँ भी ध्वनि का भेद होता है, ऐसी साम्प्रत की मान्यता है, । परन्तु ऋजुसूत्र तो ध्वनि के भेद रहने पर भी "तटः, तटी, तटम्," "गुरुः, गुरवः" इत्यादि स्थल में अर्थों का अभेद ही मानता है। (२२३४)। इन गाथाओं के अर्थ पर विचार करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि ऋजुसूत्र लिंगादि के भेद रहने पर भी अविशेषित अर्थग्राही है और साम्प्रतनय लिंगादि के भेद रहने पर विशेषिततर अर्थ का ग्राही होता है।

(अथ खल्वेतस्य०) साम्प्रतनय का आशय यह है कि "पलालं न दहत्यग्नि"=तृण को अग्नि नहीं जलाता, घट कहीं नहीं फूटता, असंयत साधु नहीं बनता, असिद्ध भव्य सिद्ध नहीं होता–इत्यादि प्राचीन आचार्य के वचनानुसार पलाल जब तक पलाल पर्याय को प्राप्त होता रहता है, तब तक पलाल ही रहता है, जब पलाल भस्मभाव को प्राप्त होता है, तब पलाल पर्याय से रहित होकर भस्मपर्याय युक्त बन जाता है, इसलिए जब तक पलालभाव उस में रहता है, तब तक उस को अग्नि दग्ध नहीं करता है, अतः "पलालं अग्निना दह्यते" यह जो "व्यवहारनय" के अनुसार प्रयोग होता है, वह असंगत है। कारण, बाध से शाब्द-बोध नहीं होता है, क्योंकि उस वाक्य में "दह्यते" पद क्रियापद है। सभी क्रियापद विकारार्थक होते हैं, इसलिए यह क्रियापद भी दाहरूप विकारार्थक है। "दह–भस्मीकरणे"

इत्यादौ विकाराऽविकाराद्यर्थकक्रियानामादिपदानां सामानाधिकरण्यानुपपत्त्या व्यवहाराभिमतशाब्दबोधसामग्रीविघटनेन भिन्नार्थकल्पना स्वीक्रियते तदा लिङ्गादिभेदेऽपि शाब्दसामानाधिकरण्यानुपपत्त्या किं न तथाकल्पने अभिनिवश्यत इति ॥ अस्य चोपदर्शिततत्त्वो भावनिक्षेप एवाभिमतः ॥५॥

"असङ्क्रमगवेषणपरोऽध्यवसायविशेषः समभिरूढः" । "वत्थूओ संकमणं, होइ अवत्थूं णए समभिरूढे ॥त्ति॥" [अनु० १५२] सूत्रम् । "सत्स्वर्थेष्वसङ्क्रमः

इस धातु पाठ के अनुसार 'दह्' धातु का अर्थ किसी वस्तु को भस्म कर देना है । जो वस्तु भस्म बन जाती है, वह अपने पूर्व पर्याय को छोडकर भस्मपर्याय को प्राप्त करती है, यही उस वस्तु में विकार है । अतः "दह्यते" यह क्रियापद विकारार्थक कहा जाता है । उक्त वाक्य में "पलाल" पद नाम पद है, वह अविकारार्थक माना जाता है, क्योंकि, जबतक पलाल द्रव्य, पलाल पर्याय से युक्त रहता है तब तक अविकृत स्वरूप में ही रहता है । अविकृत स्वरूप पलाल का वाचक होने के कारण पलालरूप नाम अविकारार्थक माना जाता है । "पलालं दह्यते" इस वाक्य में पलाल पद अविकारार्थक है और दह्यते पद विकारार्थक है, इसलिए दोनों पदों में एकार्थ बोधकत्वरूप सामानाधिकरण्य नहीं रहता है । प्रवृत्ति निमित्त के भेद रहने पर जो दो पद एक अर्थ के बोधक बनते हों, वे दो पद ही परस्पर समानाधिकरण माने जाते हैं । "पलालं दह्यते" इस वाक्य में पदों के अर्थों में सामानाधिकरण्य न होने के कारण व्यवहाराभिमत शाब्दबोध नहीं हो सकता है । कारण, पदों में एकार्थबोधकत्वरूप सामग्री का यहाँ विघटन हो जाता है, क्योंकि दोनों पद भिन्नार्थक हैं । इसतरह ऋजुसूत्र अर्थभेद मानता हो तो लिंग, वचन आदि के भेद रहने पर भी शब्दों का सामानाधिकरण्य नहीं होता है, इसलिए लिंगादि के भेद से अर्थभेद की कल्पना में ऋजुसूत्र आग्रह क्यों नहीं रखता है ?

नाम घटादि जलाहरण आदि अर्थक्रियाकारी नहीं होते हैं इसलिए कुम्भ शब्द के वाच्यार्थ वे नहीं होते हैं, किन्तु कम्बुग्रीवादिमान् और जलाहरणादि अर्थक्रिया को करनेवाला जो घट वही कुम्भादि शब्द के वाच्य होते हैं, अतः केवल इस प्रकार का भावनिक्षेप ही साम्प्रतनय को अभिमत है । नाम, द्रव्य, स्थापना यह निक्षेपत्रय साम्प्रतनय को अभिमत नहीं है । (साम्प्रतनय समाप्त)

[समभिरूढनय—सद्भूत अर्थों मे असंक्रम]

(असंक्रम) घट-पटादि अर्थों का, तथा घटशब्दवाच्य विशिष्ट-चेष्टायुक्त अर्थ एवं कुत्सित पूरणरूप "कुम्भ" शब्द वाच्य अर्थ, तथा कौटिल्यविशिष्ट कुट शब्द वाच्य अर्थों का संक्रमण न हो इसतरह के गवेषण अर्थात् शोधन में तत्पर रहता हो, ऐसे अभिप्राय विशेष को "समभिरूढ" कहा जाता है । 'घटादिरूप जिस संज्ञा का उच्चारण होता है, उसी संज्ञा पर जो सम्यग् अभिरोहण करे' वह "समभिरूढ" शब्द का अर्थ है । आशय यह है कि जो शब्द उच्चरित होता है, वह शब्द उस के व्युत्पत्ति अर्थ में ही प्रमाणरूप होता है । इस के मत में व्युत्पत्ति निमित्त ही प्रवृत्ति निमित्त माना जाता है, इसलिए

समभिरूढ" इति तत्वार्थभाष्यम् । तत्त्वं च यद्यपि न संज्ञाभेदेनार्थभेदाभ्युपगन्तृत्वम्, घटपटादिसंज्ञाभेदेन नैगमादिभिरप्यर्थभेदाभ्युपगमात्, तथापि संज्ञाभेदनियतार्थ-भेदाभ्युपगन्तृत्वं तत् । एवम्भूतान्यत्वविशेषणाच्च न तत्रातिव्याप्तिः ॥

घट शब्द से वाच्य जो अर्थ वह कुट कुम्भ आदि शब्दों से वाच्य नहीं होता है । यही हेतु है कि "समभिरूढनय" पर्याय शब्दों को नहीं मानता है । यदि पर्याय शब्द माना जाय तो अनेक पर्याय शब्दों का वाच्य-अर्थ एक होगा, तब घटशब्दवाच्य अर्थ में कुम्भादिशब्दवाच्य अर्थों का संक्रम होगा, इस से एक शब्द से वाच्य वस्तु अन्य शब्दों के वाच्यार्थ से अभिन्न बन जायगी, तब घटादिरूप अर्थ में पटशब्दवाच्य अर्थ का भी संक्रम होगा । इस स्थिति में [1]"यह घट है या पट है" इस तरह के संशय का प्रसंग आयेगा । [2]अथवा "घट में यह पट है" इस तरह के विपरीत निश्चयरूप विपर्यय का प्रसंग आवेगा । [3]अथवा "पटादि में घटादि का अध्यवसाय होने से घटपटादि अर्थों में एकता का प्रसंग होगा । [4]अथवा मेचकमणि में जैसे अनेक रूपों की संकीर्णता रहती है वैसे घटपटादि अर्थों में संकीर्णता की आपत्ति होगी। इन दोषों की निवृत्ति के लिए समभिरूढ को घट-कुम्भ -कुट ये तीनों शब्द भिन्न भिन्न अर्थ के वाचक मानना इष्ट है । ऐसा मानने पर पूर्वोक्त संशय विपर्यय आदि दोष नहीं उपस्थित होते हैं क्योंकि वस्तु में वस्त्वन्तर का संक्रमण नहीं होता है। शब्दनय तो पर्यायभूत अनेक शब्दों का एक वाच्यार्थ मानता है, इसलिए उस में लक्षण की अतिव्याप्ति का प्रसङ्ग नहीं है । नैगम, व्यवहार, संग्रह और ऋजुसूत्र भी शब्दनय के जैसे ही अनेक पर्यायों का वाच्य एक अर्थ मानते हैं, इसलिए उन नयों में भी समभिरूढ लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं है । इस लक्षण में "समभिरूढ" पद लक्षण का बोधक है और अवशिष्ट दो पद लक्षण के निर्देशक हैं । स्वकथित लक्षण को प्रमाणित करने के लिए ग्रन्थकारने निर्युक्तिकार का वचन यहाँ उद्धृत किया है-वत्थूओ संकमणं इत्यादि ["वस्तुनः संक्रमणं भवति अवस्तु नये समभिरूढे"] समभिरूढनय में एक वस्तु का संक्रमण अन्यवस्तु में नहीं होता है, यह सूत्रार्थ है । यद्यपि इस सूत्र में संक्रमणनिषेध के लिए अभावबोधक "नञादि" पद का प्रयोग नहीं है, तथापि "अवस्तु" पद से ही निषेधरूप अर्थ का संकेत मिलता है । संक्रमण अवस्तु है, ऐसा कहने से संक्रमण का निषेध प्रतीत हो जाता है । विशेषावश्यक में इस सूत्र की व्याख्या

*दव्वं पज्जाओ वा वत्थुं वयणंतराभिधेयं जं ।

न तदन्नवत्थुभावं संकमए संकरो मा भू ॥ २२३७॥ इस गाथा से की गई है ।

द्रव्यपद से कुम्भ-कुट आदि विवक्षित हैं । पर्यायपद से कुम्भादिगत वर्ण आदि विवक्षित हैं ॥ व्याख्या का तात्पर्य यह है कि प्रस्तुत घटादिपद से भिन्न जो कुम्भादि पद, उस का वाच्य जो कुम्भादि वस्तु, वह घटादिशब्द वाच्य वस्तु (भाव) में संक्रमण नहीं करता है, क्योंकि "संकर" आदि दोष उपस्थित होते हैं । "संकर" आदि दोष कैसे आते हैं और कैसे उन का निवारण होता है , इस का विवरण पूर्व में लक्षण की

---

* द्रव्यं पर्यायो वा वस्तु वचनान्तराभिधेयं यत् । तदन्यवस्तुभावं संक्रामति संकरो मा भूत् ॥२२३७॥

व्याख्या में बताया गया है, अतः यहाँ उस का पुनः विवरण होना आवश्यक नहीं है। इस व्याख्या गाथा में तो निषेधबोधक "न" पद स्पष्टरूप से पठित है ही। अतः सूत्र में "अवस्तु" पद का तात्पर्य निषेधरूप अर्थ में लगाना संगत है। इस सूत्र और व्याख्या से एक वस्तु का अन्य वस्तु में संक्रमण का निषेध सिद्ध होता है, जिस का ग्रन्थकार ने "असंक्रम गवेषण" शब्द से संकेत किया है। ग्रन्थकार यहाँ तत्त्वार्थाधिगम सूत्र (१३५) के भाष्य का भी उद्धरण करते हैं। "सत्सु अर्थेषु असंक्रमः समभिरूढः" इस का अर्थ यह है कि वर्तमान पर्यायापन्न घटादिरूप अर्थों में घटादि शब्दों का अपना अर्थ छोड-कर के अन्य अर्थों में संक्रम अर्थात् गमन नहीं होता है। जैसे घटशब्द का संकेत विद्यमान चेष्टात्मक घटरूप स्वार्थ को छोडकर कुट कुम्भ आदि अर्थ का अभिधान नहीं करते हैं क्योंकि कुट-कुम्भ आदि अर्थ घट शब्द का अभिधेय नहीं हैं। यदि कुट-कुम्भादि अर्थ भी घट शब्द का अभिधेय बन जाय तो सर्वसंकरादि दोष उपस्थित होंगे, इसलिए एक शब्द से अभिधेय अर्थ उस से अन्य शब्द का अभिधेय नहीं होता है। इस प्रकार तत्त्वार्थ भाष्य से भी ग्रन्थकार के लक्षण में संवाद प्राप्त हो जाता है।

[नैगमादिनयों में अतिव्याप्ति के निवारण का उपाय]

(तत्त्वं च०) ग्रन्थकार यहाँ नव्य न्याय का विशेष विचार प्रस्तुत करते हैं–घटपटादि शब्दों में अर्थ का संक्रम नैगमादिनय भी नहीं मानते हैं, इसलिए उन में भी पूर्वोक्त-लक्षण की अतिव्याप्ति होगी। इस का वारण करने के लिए "सञ्ज्ञाभेद से अर्थभेद का स्वीकार करना" ऐसा लक्षण माना जाय तो वह भी ठीक नहीं होगा, क्योंकि नैगमादि नय, यद्यपि "घट-कुट-कुम्भ" आदि संज्ञाओं के भेद रहने पर घटादिरूप अर्थ में भेद नहीं मानते हैं, तथापि घटपटादिरूप संज्ञा के भेद से घटपटादिरूप अर्थों में भेद को मानते ही हैं, इसलिए अतिव्याप्ति तदवस्थ रहती है। अतः "संज्ञाभेद से नियत अर्थ भेद का स्वीकार करना" यह लक्षण यदि माना जाय तो, अतिव्याप्ति नहीं होगी, क्योंकि नैगमादि नय घटपटादिरूप संज्ञा के भेद से अर्थ का भेद यद्यपि मानते हैं तो भी घट-कुट-कुम्भ आदि संज्ञा का भेद होने पर घटकुटादि अर्थ में भेद नहीं मानते हैं। अतः नैगमादि से स्वीकृत अर्थभेद संज्ञाभेद का नियत अर्थात् व्यापक नहीं बनता है। इसलिए अतिव्याप्ति का सम्भव नैगमादि में नहीं होता है। तो भी "एवम्भूत नय" में अतिव्याप्ति का सम्भव रहता ही है, क्योंकि संज्ञा के भेद से अर्थ का भेद समभिरूढ के जैसे एवम्भूत नय भी मानता है। एवम्भूत के मत में घट, कुट, कुम्भ आदि संज्ञा के भेद से घट, कुट आदि अर्थों में भेद माना जाता है, अतः 'संज्ञाभेद व्यापक अर्थभेद का स्वीकार' यह लक्षण "एवम्भूत" में भी घटता है। इसलिए "एवम्भूतान्यत्व" यह विशेषण उक्त लक्षण में लगा करके अतिव्याप्ति का वारण हो सकता है। इस स्थिति में "एवम्भूत नय से भिन्न और संज्ञाभेदनियतार्थभेद माननेवाला" यह समभिरूढ का लक्षण निष्पन्न होता है। एवम्भूत में संज्ञाभेद से अर्थभेद का स्वीकार है, इसलिए लक्षणगत विशेष्यांश वहाँ घटता है, तो भी "एवम्भूतान्यत्वरूप" विशेषणांश नहीं घटता है क्योंकि स्व में स्व का भेद नहीं माना जाता है, अतः एवम्भूत का भेद नहीं रहता

अयं खल्वस्याभिमानः यदुत यदि शब्दो लिंगादिभेदेनार्थभेदं प्रतिपद्यते तर्हि संज्ञाभेदेनापि किमित्यर्थभेदं न स्वीकुरूते ? 'अनुशासनबलाद् घटकुटादि-शब्दानामेकत्र सङ्केतग्रहादि'ति चेत् ? ऋजुसूत्रेणै[ण]व तेनान्यथागृहीतोऽपि संकेतो विशेषपर्यालोचनया किमिति न परित्यज्यते ! अथ येन रूपेण यत्पदार्थबोधस्तेनैव

है, अतः विशेषणांश एवम्भूत में घटमान न होने से परिष्कृत लक्षण की अतिव्याप्ति का प्रसङ्ग नहीं रहता ।

यहाँ यह ध्यान रखना चाहिए कि शब्दभेद से अर्थभेद को माननेवाले समभिरूढ और एवम्भूत इन दोनों नयों को पर्याय शब्द मान्य नहीं है । पर्याय का लक्षण है "अभिन्नप्रवृत्तिनिमित्तानां शब्दानां एकार्थबोधकत्वं पर्यायत्वम्" यह लक्षण इन दो नयों की दृष्टि से घट-कुट-कुम्भ आदि शब्द जो परस्पर पर्यायरूप से व्यवहृत होते हैं, उन में नहीं घटता है क्योंकि घट-कुट-कुम्भ आदि शब्दों का प्रवृत्तिनिमित्त एक घटरूप अर्थ नहीं है. किन्तु घट शब्द का प्रवृत्ति निमित्त चेष्टाश्रयत्व, कुटपद प्रवृत्तिनिमित्त कौटिल्याश्रयत्व और कुम्भ पद का प्रवृत्तिनिमित्त पूरणाश्रयत्व हैं । प्रवृत्तिनिमित्त तथा व्युत्पत्तिनिमित्त में भेद भी इन को मान्य नहीं है । व्युत्पत्तिनिमित्त ही इन के मत में प्रवृत्तिनिमित्त भी है । "वाच्यत्वे सति वाच्यवृत्तित्वे सति वाच्योपस्थितिप्रकारताश्रयत्वरूप प्रवृत्तिनिमित्तत्व" जो अन्यनयों को मान्य है, वह इन दोनों को मान्य नहीं है, किन्तु घट-कुटादि शब्द में जो मूलभूत धातु के अर्थ होते हैं, तदाश्रयत्वरूप व्युत्पत्तिनिमित्त ही प्रवृत्तिनिमित्त माना गया है, इसलिए संज्ञा के भेद से अर्थ का भेद इन के मत में सिद्ध होता है ।

[संज्ञा भेद से अर्थभेद में गूढाशय]

[अयं खलु] समभिरूढ का यह अभिमान है कि स्त्रीत्व, पुंस्त्वादि लिंग के भेद से अर्थ का भेद यदि शब्दनय मानता है, तथा एकवचन, बहुवचन के भेद से यदि अर्थभेद मानता है तो संज्ञा के भेद से भी अर्थभेद उसे मानना चाहिए । संज्ञा के भेद से अर्थभेद को नहीं स्वीकार करना यह सांप्रत का हठाग्रह मात्र हैं, प्रामाणिक नहीं हैं । यदि यह कहा जाय कि-"घट, कुट, कुम्भ आदि शब्दों के एक ही अर्थ में संकेत का ज्ञान कोश आदि अनुशासनों से सिद्ध है, इसलिए संज्ञा का भेद रहने पर भी अर्थभेद न मानना यह प्रामाणिक ही है ।"-तो यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि व्यवहारनय के अनुकूल अनुशासन के बल से घटादि शब्दों का घटत्वादिधर्मावच्छिन्न भूत, वर्त्तमान, भविष्यत् सकल घटों में शक्तिग्रह होने पर भी विशेष विचार करने पर उस संकेत को ऋजुसूत्र जैसे त्याग देता है और वर्त्तमान घटादिरूप अर्थ में ही घटादि पद का संकेत मानता है, उसी तरह "साम्प्रतनय" को भी घटकुटादि शब्दों का कोशादि अनुशासन के द्वारा घटरूप एक अर्थ में जो संकेतग्रह होता है, विशेष विचार करने पर, उस का त्याग कर के कुटादि शब्दों का क्रियाभेद से भिन्न भिन्न अर्थों में संकेत मानना चाहिए-यही उचित है ।

रूपेण तत्पदशक्तिः, भवति च घटपदादिव कुटपदादपि घटत्वेनैवार्थबोध इति घटकुटपदयोः पर्यायत्वमेव युक्तमिति चेत् ? न, घटनकुटनादिविभिन्नक्रियापुरस्कारेणैव घटकुटादिपदेभ्योऽर्थबोधात्। तेषामर्थभेदनियमादसमानाधिकरणपदत्वापेक्षया-लाघवाद् भिन्नपदत्वावच्छेदेनैव भिन्नार्थत्वकल्पनात् पर्यायपदाऽप्रसिद्धेः। "व्युत्पत्त्यर्थबोधं विनापि दृश्यते पदार्थबोध" इति चेत् ? न, अन्यत्र विपरीत-व्युत्पन्नात्तदसिद्धेः। "हन्त! एवं पारिभाषिकशब्दस्यानर्थकत्वमापन्नमि"ति चेत् ? आपन्नमेव, किं हन्तेति पूत्कारेण ? तदुक्तम्–"तत्र परिभाषिकी नार्थतत्त्वं ब्रवीती"ति।

यदि यह कहा जाय कि-"जिस पदार्थ का जिस रूप से बोध जिस पद के द्वारा होता है, उस पद की शक्ति उसी रूप से उस अर्थ में माननी चाहिए। जैसे घटपद से घटरूप अर्थ का बोध घटत्वरूप से होता है, वैसे ही कुटपद से भी घटरूप अर्थ का बोध घटत्वरूप से ही होता है, ऐसा अनुभव है, इसलिए घट और कुट इन दोनों पदों का एक ही अर्थ मानना युक्त है और इन दोनों पदों में पर्यायत्व को स्वीकार करना ही युक्त है। पदभेद से अर्थभेद मानना युक्त नहीं है"।-परन्तु यह कहना संगत नहीं है, क्योंकि घट शब्द से घटनक्रिया के पुरस्कार से चेष्टाश्रय घट का बोध होता है और कुट पद से कुटनक्रिया के पुरस्कार से कौटिल्ययुक्त घट का बोध होता है, एकरूप से दोनों पदों से घट का बोध होता ही नहीं है, इसलिए घट, कुट इन दोनों पदों में पर्यायता को मानना अनुभवविरुद्ध है। वस्तुस्थिति तो यह है कि घटकुटादि पदों में पर्यायता हो ही नहीं सकती है, इसलिए पर्यायशब्द है ही नहीं, उस की अप्रसिद्धि है। कारण, "जो जो असमानाधिकरणपद हैं, वे वे भिन्नार्थक हैं" इस नियम को मानने की अपेक्षा "जो जो भिन्न पद है, वे सभी भिन्नार्थक हैं" इस नियम की कल्पना में लाघव है। असमानाधिकरणपदत्व को भिन्नार्थकतावच्छेदक मानने की अपेक्षा से भिन्नपदत्व को ही भिन्नार्थतावच्छेदक मानने में लाघव है। असमानाधिकरण पदत्व को भिन्नार्थतावच्छेदक मानने के पक्ष में घटपटादि पद में ही भिन्नार्थत्व सिद्ध होता है क्योंकि "भिन्नप्रवृत्तिनिमित्तानां शब्दानां भिन्नार्थबोधकत्वं असमानाधिकरण्यम्" यह असमानाधिकरण्य का लक्षण घटपद और पटपद में घटता है, क्योंकि घटपद घटत्वरूप प्रवृत्तिनिमित्त के द्वारा घटरूप अर्थ का बोधक होता है और पटपद पटरूप अर्थ का बोधक होता है। घटकुटादि पद में घटत्वरूप एक प्रवृत्तिनिमित्त द्वारा अर्थबोधकता मानने पर घटकुटादि पदों का अर्थभेद सिद्ध नहीं हो सकेगा, इसलिए भिन्नपदत्व को ही भिन्नार्थतावच्छेदक मानना योग्य है क्योंकि असमानाधिकरणपद-त्वापेक्षया भिन्नपदत्व का शरीर लाघुभूत होने से लाघव होता है और घटकुट आदि पदों में भिन्नार्थकत्व भी सिद्ध होता है, क्योंकि असमानाधिकरण पदत्वापेक्षया भिन्न-पदत्व का शरीर लघुभूत होने से लाघव होता है और घटकुट आदि पदों में भिन्नार्थकत्व भी सिद्ध होता है, क्योंकि, घटकुटादि पदों में परस्पर भेद रहता है। इस रीति से "पर्याय" पद मानने की आवश्यकता भी नहीं रहती है।

यह आशंका उठ सकती है कि–"घटपद से चेष्टाश्रयरूप व्युत्पत्त्यर्थ का बोध न रहने पर भी घटत्वरूप से घट का बोध होता है। वैसे ही कुटपद का व्युत्पत्त्यर्थ जो कौटिल्य का आश्रय, उस का बोध हुए विना भी घटत्वरूप से घट का बोध होता है, अतः व्युत्पत्ति निमित्त और प्रवृत्तिनिमित्त इन दनों में भेद ही माना चाहिए। तब तो घटकुटादि पदों में पर्यायता ही सिद्ध होगी। इस स्थिति में घटकुटादि पद के अर्थ में भेद सिद्ध नहीं होगा?"–परन्तु, यह आशंका ठीक नहीं है, क्योंकि जिस व्यक्ति को पूर्णरूपसे व्युत्पत्ति हुई रहती है, उस को घटपद से चेष्टाश्रयत्वरूप से ही घटरूप अर्थ में संकेत का ज्ञान होता है और चेष्टाश्रयत्वरूप से ही बोध भी होता है। तथा कुटपद से कौटिल्ययोगित्वरूप से घट में शक्तिज्ञान होता है और कौटिल्ययुक्त घट का बोध होता है। जिस को पूर्णरूप से व्युत्पत्ति नहीं है, उस को घटत्वरूप से घटरूप अर्थ में विपरीत संकेत ज्ञान के द्वारा घटकुटादि शब्द से घटत्वरूप से घट का बोध होता भी हैं परन्तु उस से अर्थ की व्यवस्था सिद्ध नहीं है। यदि विपरीतशक्ति का ज्ञान घटरूप अर्थ में रहता है तो पटपद से भी घटरूप अर्थ का बोध होता है, एवम् पटरूप अर्थ में घटपद का विपरीत शक्तिज्ञान जिस को है, उस व्यक्ति को घट पद से पटरूप अर्थ का बोध होता है। इन बोधों में भी अर्थव्यवस्थापकत्व हो जायगा, तब घटपद में पटपदार्थकता का प्रसंग होगा और पटपद में घटपदार्थकता का प्रसंग होगा, तथा घट–पट इन दोनों पदों में पर्यायता का प्रसंग होगा, इसलिए व्युत्पत्त्यर्थबोध के बिना भी विपरीत संकेतग्रह से घटकुटादि पदों के द्वारा घटत्वरूप से घटरूप अर्थ का बोध मानकर घटकुटादि पदों में पर्यायता की सिद्धि नहीं हो सकती है और पूर्णव्युत्पत्ति युक्त पुरुष में व्युत्पत्त्यर्थबोध के विना पदार्थबोध की सिद्धि भी नहीं हो सकती है।

यदि कहा जाय कि–"व्युत्पत्तिनिमित्त चेष्टाश्रयत्व–कौटिल्याश्रयत्व आदि के द्वारा ही घटकुटादि शब्दों से पदार्थबोध समभिरूढनय यदि मानेगा तो उस के मत में पारिभाषिक शब्दों में अनर्थकता का प्रसंग आवेगा। जैसे–समभिरूढ के मत से "गुणपद" गुणणक्रियाश्रयत्वेन गुणणक्रियायुक्त पदार्थ का बोधक बनेगा। वृद्धिपद वर्द्धन क्रिया योगित्वरूप से वर्द्धनक्रियाश्रय का बोधक बनेगा। "वैयाकरण लोग" 'अ, ए, ओ' इन तीन वर्णों, की 'गुण' पारिभाषिकी संज्ञा देते है, इसलिए 'अ, ए, ओ' इन तीनों वर्णों में "गुण" शब्द को वैयाकरण लोग पारिभाषिक मानते हैं। गुणणक्रिया का योग तो उन वर्णों में कुछ देखने में आता नहीं है, इसलिए गुण यह पारिभाषिक शब्द समभिरूढ की मान्यता के अनुसार अनर्थक बन जायगा। एवम् वैयाकरण लोग "आ, ऐ, औ" इन तीनों वर्णों के लिए वृद्धि ऐसी पारिभाषिक संज्ञा करते हैं, इसलिए उन तीनों वर्णों का वाचक 'वृद्धि' शब्द पारिभाषिक माना जाता है। समभिरूढ के मत में वृद्धिशब्द वर्द्धनक्रियायुक्त अर्थ का ही वाचक बनेगा, क्योंकि व्युत्पत्तिनिमित्त से ही पद में अर्थवाचकता इस को मान्य है। "आ, ऐ, औ" इन तीनों वर्णों में वर्द्धनक्रिया का योग तो देखने में आता नहीं है, इसलिए वैयाकरणों का पारिभाषिक वृद्धिशब्द अनर्थक बन जायेगा, यह खेद की बात होगी। इस का समाधान देते हुए, समभिरूढनय का कहना यह है कि "पारिभाषिक" शब्दों में जो अनर्थकत्व की आपत्ति देते हो वह होती ही है और वह आपत्ति हम को इष्ट ही है।

अथार्थबोधकत्वमात्रे यदि पदत्वभावस्तदा यदृच्छाशब्दसङ्केतादपि तदभिव्यक्तेः किं वैषम्यमिति चेत् ? न, पदानां व्युत्पत्तिनिमित्तोपरागेणैवार्थबोधकत्वस्वाभाव्यात्, यदृच्छासङ्केतोपप्लवादस्वभावभूतस्यैव धर्मस्य ग्रहेण वैषम्यात् । अथ नानार्थकपदेऽर्थ-

---

तब "हन्त" पद के पुकार से व्यर्थ का खेद प्रगट क्यों करते हो ? यहाँ ग्रन्थकार ने "पूत्कार" शब्द का प्रयोग किया है, उस का तात्पर्य यह है कि किसी अर्थ में अनभीष्टत्व सिद्ध करने के लिए मुख से "पुत्" इसतरह के "कुत्सित" शब्द का उच्चारण करते हैं, उसी का आरोप पूर्वपक्ष वाक्य में प्रयुक्त "हन्त" शब्द में किया गया है, उस में अनादरता का सूचन "किं हन्तेति पुत्कारेण" इस वाक्य से किया गया है । "समभिरूढ नय" ने "पारिभाषिक" शब्द की अनर्थकता को स्वीकार कर लिया है, उस में प्राचीन आचार्यों की सम्मति है । यह दिखाने के लिए उन का वचन दिखा रहे हैं कि "तत्र पारिभाषिकी नार्थतत्त्वं ब्रवीती"ति । इस का अर्थ यह है कि व्युत्पत्ति निमित्त क्रिया का आश्रय किए बिना जो शब्द किसी अर्थ में संकेतित किया जाता है, वह शब्द "पारिभाषिक संज्ञा" शब्द से कहा जाता है या पारिभाषिक शब्द से व्यवहृत होता है । जैसे पूर्व में उदाहृत पारिभाषिकी संज्ञारूप गुण-वृद्धि शब्द अर्थतत्त्व को बोधित नहीं करते हैं, क्योंकि व्युत्पत्तिनिमित्त क्रिया का योग उस से बोधित अर्थ में नहीं रहता है, पारिभाषिक शब्द वास्तविक अर्थ का बोधक नहीं बनता है, अतः उस में अनर्थकत्व प्रसंग अनिष्ट नहीं है, किन्तु "समभिरूढ" को इष्ट ही है ।

[नैमित्तिक और पारिभाषिक संज्ञाओं में साम्यापत्ति का निवारण]

[अथार्थबोधक] यह आशंका उठ सकती है कि-"पद्यते, गम्यते अर्थो येन तत् पदम्" इस विग्रह के अनुसार जिससे अर्थ का बोध होता हो, वह "पद" कहा जाता है । तब तो "अर्थबोधकत्वमात्र" पद में पदत्व का व्यवस्थापक सिद्ध हुआ । अब देखिये कि *यदृच्छाशब्द से भी अर्थ की प्रतीति होती है । किसी ने अपने पुत्र का नाम यदि "डित्थ" रख लिया हो, तो "डित्थ" शब्द से ही उस के पुत्र की प्रतीति उन सभी को होती है जिन व्यक्तियों को उस "डित्थ" शब्द का संकेतज्ञान रहता है । यदृच्छाशब्द ही "पारिभाषिक" शब्द कहा जाता है । अर्थबोधकत्व जब पारिभाषिकशब्द में भी रहता है तो "नैमित्तिक संज्ञा" अर्थात् चेष्टादि क्रिया को निमित्त मानकर जो घटादि संज्ञा की जाता है उस की अपेक्षा से डित्थादिरूप पारिभाषिक संज्ञा में कुछ ही वैषम्य नहीं रहेगा क्योंकि दोनों संज्ञाओं में अर्थबोधकत्व का अनुभव होता है । तब पारिभाषिक शब्द में अनर्थकत्व को इष्ट मान लेना अयुक्त है ।"-तो यह शङ्का ठीक नहीं है । क्योंकि व्युत्पत्ति निमित्त के उपराग से ही पदों में अर्थबोधकत्वस्वभावता आती है, जैसे-चेष्टाश्रयत्वरूप व्युत्पत्तिनिमित्तधर्म के सम्बन्ध से ही घटपद में चेष्टाश्रय घटरूपअर्थ की बोधकता आती है । यद्यपि यदृच्छा शब्द भी संकेत के बल से "डित्थत्व" आदि धर्म के उपराग से अर्थ का बोधक होता है, किंतु वह धर्म चैत्रपुत्ररूप अर्थ का स्वभावभूत नहीं होता है इसलिए यदृच्छा-

---

* स्वतंत्र इच्छा से रखे गये नाम को यदृच्छाशब्द कहते हैं ।

संक्रमवदर्थऽपि पदसङ्क्रमः किं न स्यादिति चेत् ? न, अर्थस्येव पदस्यापि क्रियोपरागेण भेदादर्थासंक्रमस्वीकारात् । हरीत्यादौ च पदसारूप्येणैवैकशेषः, न त्वर्थसारूप्येणेति दिक् ॥ अस्याप्युपदर्शिततत्त्वो भावनिक्षेप एवाभिमतः ॥६॥

शब्द अस्वभाव रूप धर्मग्रह द्वारा अर्थ का बोध भले करा देता हो, व्युत्पत्ति निमित्तधर्म के उपराग से तो अर्थ का बोध नहीं कराता है, इसलिए उस में अनर्थकत्व मानना समभिरूढ को अयुक्त नहीं है । अर्थ स्वभावभूत धर्म के द्वारा अर्थबोधकत्व नैमित्तिकपद में रहता है, "पारिभाषिक" शब्द में वैसा अर्थबोधकत्व नहीं रहता है किन्तु अस्वभाव-भूत धर्मोपग्रह द्वारा अर्थबोधकत्व रहता है ।- यह वैषम्य भी "नैमित्तिक" शब्द और "पारिभाषिक" शब्द में युक्त ही है ।

यदि यह कहा जाय कि-"एक ही हरि पद विष्णु, इन्द्र, सिंह, कपि आदि अनेक अर्थों का बोधक बनता है इसलिए "हरि" पद अनेकार्थक कहा जाता है । यहाँ एक ही हरि पद में विष्णु, इन्द्रादि नाना अर्थों का संक्रमण जैसे होता है, वैसे ही एक ही घटरूप अर्थ घट-कुटादि नाना शब्दों से वाच्य होता है, अतः एक घटरूप अर्थ में घट कुटादि नाना पदों का संक्रमण क्यों नहीं माना जायगा ? यदि समभिरूढनय अर्थ में पदसंक्रम को स्वीकार कर लेगा तो संज्ञा के भेद से अर्थभेद का स्वीकार करना असंगत क्यों नहीं होगा ?"-परन्तु यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि घटनक्रिया के योग से जैसे घटरूप अर्थ भिन्न होता है वैसे ही कुट्टनक्रिया के योग से भी भिन्न होता है । इसीतरह भिन्नभिन्न क्रिया के योग से वाचक पद भी भिन्नभिन्न होता है । "विष्णु-रूप" अर्थ में "हरि" शब्द "हरति पापं भक्तानां" इस व्युत्पत्ति के अनुसार पापापहरण क्रिया के उपराग से प्रवृत्त होता है । "इन्द्ररूप" अर्थ में हरति ऐश्वर्यं असुराणाम्" इस व्युत्पत्ति के अनुसार ऐश्वर्यापहरण क्रिया के उपराग से प्रवृत्त है, सिंहरूप अर्थ में "हरति प्राणान् जन्तूनाम्" इस व्युत्पत्ति के अनुसार प्राणापहरणक्रिया के योग से प्रवृत्त होता है अथवा "हरति वाहनतया देशान्तरं प्रापयति स्वस्वामिनीम् चण्डिकाम्" इस व्युत्पत्ति के अनुसार, चण्डिकादेवी का वाहन होने के कारण उस को एकदेश से दूसरे देश में ले जाता है अतः देशान्तरप्रापण क्रिया के योग से हरि शब्द सिंहरूप अर्थ में प्रवृत्त होता है । इस तरह क्रिया के भेद से हरि शब्द भी भिन्न-भिन्न ही है । अनेक अर्थ का वाचक एक "हरि" शब्द नहीं है इसलिए एकपद में अनेक अर्थ का संक्रम भी समभिरूढ को मान्य नहीं है तो अर्थसंक्रम के दृष्टान्त से एक अर्थ में विविध पदों के संक्रम की आपत्ति देना युक्त नहीं है ।

यदि यह कहा जाय कि-"संज्ञा के भेद से अर्थ का भेद माना जायगा तो "हरिश्च हरिश्च हरी" इत्यादि समासस्थल में एकशेष का विधान व्याकरणानुशासन से होता है, वह असंगत होगा, क्योंकि एकशेषस्थल में पदभेद से अर्थ का भेद होगा, तब एकार्थ-बोधकत्वरूप समानधर्म दोनों हरिपदों में न होने के कारण अर्थसारूप्य नहीं रहेगा । इस तरह समभिरूढ का मन्तव्य व्याकरणानुशासन से विरुद्ध बनेगा ।"-परन्तु यह कहना भी ठीक नहीं क्योंकि एकशेषविधायक व्याकरणानुशासन का यह तात्पर्य नहीं है कि अर्थ-

"व्यञ्जनार्थविशेषान्वेषणपरोऽध्यवसायविशेष एवम्भूतः" ॥"वंजण–अत्थ–तदुभयं एवम्भूओ विसेसेइ" इति [अनु०१५२] सूत्रम् ॥ "व्यञ्जनार्थयोरेवम्भूत इति" तत्त्वार्थभाष्यम् ॥ तत्त्वं च पदानां व्युत्पत्त्यर्थान्वयनियतार्थबोधकत्वाभ्युपगन्तृत्वम् ।

सारूप्य रहने पर पदों का एकशेष हो, किन्तु जिन पदों में स्वरूपतः सादृश्य हो उन्हीं पदों में एकशेष होता है यही तात्पर्य व्याकरणानुशासन का मान्य है । एकपद में दूसरे पद का सारूप्य समानानुपूर्वीकत्वरूप ही हो सकता है । प्रथम हरिपद में हकारोत्तरत्व-विशिष्ट जो अकार तदुत्तरत्वविशिष्ट जो रेफ तदुत्तरत्वविशिष्ट इत्वरूप आनुपूर्वी रहती है वही आनुपूर्वी द्वितीय हरिपद में भी रहती है इसलिए समानानुपूर्वीकत्वरूप पदसारूप्य दोनों हरि पदों में रहता है । इसी पदसारूप्य को व्याकरणानुशासन एकशेष का प्रयोजक मानता है । अतः "हरी" इत्यादि स्थल में अर्थसारूप्य न होने पर भी एकशेष होने में कोई बाधक नहीं है, तब संज्ञाभेद से अर्थभेद को जो समभिरूढ मानता है, वह व्याकरणानुशासनविरुद्ध नहीं कहा जा सकता है । "समभिरूढनय" को भी "साम्प्रतनय" के जैसे भावनिक्षेप ही मान्य है क्योंकि वर्त्तमान भावमात्र को ही यह नय मानता है–इसका विवेचन पूर्व में कर दिया गया है ।

[एवम्भूतनय — व्यंजन और अर्थ का अन्योन्य विशेष]

(व्यञ्जनार्थ) एवम्भूत के लक्षण में 'व्यज्यतेऽर्थः अनेन' इस व्युत्पत्ति अनुसार व्यञ्जन पद से घटादि वाचकशब्द विवक्षित है । अर्थपद से "अर्थ्यते जनेन यः स अर्थः" इस व्युत्पत्ति के अनुसार चेष्टावान् घटादिरूप अर्थ विवक्षित है । "व्यञ्जन में अर्थकृत विशेष" और "अर्थ में व्यञ्जनकृत विशेष" इन दोनों की अपेक्षा जिस अध्यवसायविशेष को होवे, वही अध्यवसायविशेष एवम्भूत का लक्षण है । यहाँ यह विचार करना है कि घटादिरूप वाचक शब्द में अर्थकृत विशेष क्या है और घटादिरूप अर्थ में वाचकशब्द-कृत विशेष क्या है, जिन दोनों की अपेक्षा "एवम्भूत नय" को रहती है । इस प्रसंग में विशेषावश्यकभाष्यकार ने 'जह घडसद्दं चेट्ठावया, तहा तं पि तेणेव' [२२५२] यह कह कर स्पष्टीकरण कर दिया है । ("यथा घटशब्दं चेष्टावता, तथा तामपि तेनैव") इस का भावार्थ ऐसा है कि एवम्भूतनय घटादिरूप वाचकशब्द को जैसे-उस शब्द से वाच्य चेष्टावान् अर्थ के द्वारा विशेषित करता है, अर्थात् वही घटशब्द है जो चेष्टावान् अर्थ को बताता है और अन्य अर्थ को नहीं बताता है, इस रूप से शब्द को नियमित करता है,–उसीतरह चेष्टावान् घटरूप-अर्थ को भी वाचक शब्द से विशेषित करता है, अर्थात् किसी स्त्री के मस्तक पर आरूढ घट की जो जलाहरणादिरूप क्रिया होती है तादृश क्रियायुक्त घट ही घटशब्द का अर्थ है–इस रूप से अर्थ को भी नियमित करता है । गृहकोणादि में स्थित घट अथवा जलपूरणादि क्रियाविशिष्टघट घटशब्दवाच्य नहीं है, किंतु जलाहरणक्रिया युक्त, स्त्रीमस्तकारूढ घट ही घटशब्द का वाच्य है, इस तरह का व्यवस्थापन एवम्भूतनय करता है । अन्यकाल में वह घट, घट न होकर अघट ही रहता है, क्योंकि पटादिरूप अन्यवस्तु की तरह उस में भी जलाहरणादिरूप चेष्टा नहीं रहती है और अन्यकाल में घटध्वनि भी अवाचक हैं, यह एवम्भूत का आशय है ।

नियमश्च कालतो देशतश्चेति न समभिरूढातिव्याप्तिरपि। अयं खल्वस्य सिद्धान्तः, यदि घटपदव्युत्पत्त्यर्थाभावात् कुटपदार्थोऽपि न घटपदार्थस्तदा जलाहरणादिक्रिया-विरहकाले घटोऽपि न घटपदार्थोऽविशेषादिति ॥

उपरोक्त अर्थ को प्रमाणित करने के लिए ग्रन्थकार ने विशेषावश्यक सूत्र का उद्धरण किया है–वंजण अत्थ–इत्यादि (व्यञ्जनार्थं तदुभयमेवम्भूतो विशेषयति) इस का अर्थ यह है कि शब्द और अर्थ इन दोनों को "एवम्भूतनय" विशेषित करता है अर्थात् वाचक शब्द को चेष्टाविशिष्ट घटरूप अर्थ के द्वारा नियन्त्रित करता है और अर्थ को भी शब्द के द्वारा नियन्त्रित करता है। इस से यह सिद्ध होता है कि जो शब्द चेष्टावान् अर्थ को बोधित करता है वही शब्द घट शब्द है एवम् चेष्टाविशिष्ट अर्थ ही घटरूप अर्थ है, इसतरह अर्थ को भी शब्द से नियंत्रित करता है। इस प्रकार ग्रन्थकार का लक्षणवाक्य और विशेषावश्यक का सूत्रवाक्य इन दोनों का एक ही अर्थ विचार करने से फलित होता है।

विशेषावश्यक सूत्र वाक्य से स्वकृत लक्षण को समर्थित करने के बाद ग्रन्थकार उस लक्षण को तत्त्वार्थभाष्य के द्वारा भी समर्थन करते हैं इसलिए तत्त्वार्थभाष्य के अंश का इस ग्रन्थ में उद्धरण किया है–'व्यञ्जनार्थयोरेवम्भूत' इति। व्यञ्जनञ्च, अर्थश्च यह द्वन्द्वसमास है। "व्यञ्जन" पद से वाचक घटादि शब्द और अर्थ पद से घटादि शब्द का वाच्यार्थ विवक्षित है। एवम्भूतनय शब्द और अर्थ इन दोनों को संघटित करता है अर्थात् शब्द को अर्थ से विशेषित करता है और अर्थ को शब्द से विशेषित करता है। इस का आशय यह है कि (१) "घट" यह शब्द उसी अर्थ का वाचक है जो अर्थ जलधारण में समर्थ हो तथा जलानयन क्रिया करता हो और (२) घट शब्द का अर्थ वही घट है जो जलानयनरूप चेष्टा को करता हो। चेष्टा से निवृत्त हुआ गृह के किसी एक कोने में पडा हुआ घट, घटशब्द का अर्थ नहीं है। इन दोनों वाक्यों में पूर्व वाक्य से अर्थ द्वारा शब्द का नियन्त्रण किया गया है, और द्वितीय वाक्य से शब्द के द्वारा अर्थ का नियन्त्रण किया गया है। इसतरह दोनों का नियमन मानने वाला अध्यवसाय "एवम्भूत" कहा जाता है।

[व्युत्पत्त्यर्थ से अन्वित अर्थ का स्वीकार]

प्रामाणिक आचार्यों के वचनों द्वारा स्वकृतलक्षण का समर्थन करने के बाद ग्रन्थकार तार्किक रीति से एवम्भूत का परिष्कृत लक्षण बताते हैं। (तत्त्वं च०) परिष्कृत लक्षण बताने का यह अभिप्राय है कि लक्षण में अतिव्याप्ति आदि की शंका निर्मूल हो जाय। परिष्कृत लक्षण में "पदानाम्" यहाँ छट्ठी विभक्ति प्रयुक्त है, छट्ठी विभक्ति का अर्थ वृत्तित्व होता है, जिस का अन्वय "व्युत्पत्त्यर्थान्वयनियतार्थबोधकत्व" के साथ है और "बोधकत्व" का अन्वय "अभ्युपगन्तृत्वम्" इस के घटक अभ्युपगम क्रिया में कर्मतानिरूपकत्व सम्बन्ध से है। "अभ्युपगन्तृत्व" का अन्वय आश्रयता सम्बन्ध से अभिप्रायविशेष में है। समग्र लक्षण का अर्थः-पदवृत्ति जो व्युत्पत्त्यर्थान्वयनियतार्थबोधकत्व, तत्कर्मक जो अभ्युपगम, तत्कर्तृत्वाश्रय जो अभिप्रायविशेष, वही एवम्भूतनय कहा जाता है। घट पद की "घटते इति घटः" "घटयति वा घटः" इस व्युत्पत्ति से 'चेष्टारूप अर्थ का आश्रय' यह

नन्वेवं प्राणधारणाभावात् सिद्धोऽपि न जीवः स्यादिति चेत् ? एतन्नये न स्यादेव। तदाह भाष्यकारः— *एवं जीवं जीवो संसारी पाणधारणाणुभवा । सिद्धोपुण अजीवो, जीवणपरिणामरहिओ त्ति ॥२२५६॥

अर्थ निकलता है। घट् धातु "चेष्टा" अर्थ में व्याकरणानुशासन से जाना जाता है, इसलिए 'घट' शब्द का व्युत्पत्त्यर्थ चेष्टा यानी जलादिआनयनरूप अर्थ होता है, उस का अन्वय जिस घटरूप द्रव्य में होता हो वह भी जिस काल में और जिस देश में होता हो, वही घटादिरूप अर्थ व्युत्पत्त्यर्थान्वयनियत अर्थ बनेगा, तथाविध अर्थबोधकता ही घटपद में रहेगी, क्योंकि चेष्टायुक्त घटात्मक अर्थ से वह पद उसी अर्थ में नियमित होता है। समभिरूढनय इसतरह के ही अर्थ की बोधकता को घटपद में नहीं मानता है। वह तो जिस काल में घटरूप अर्थ में चेष्टारूप व्युत्पत्त्यर्थ नहीं होता है और जिस देश में चेष्टा युक्त नहीं होता है, तद्देश और तत्कालस्थित वर्तमान घट को भी घट मानता है, इसलिए व्युत्पत्त्यर्थान्वयनियत अर्थबोधकता पदो में वह नहीं मानता है, अतः समभिरूढ में अतिव्याप्ति को अवकाश नहीं है। देशकृत और कालकृत नियम का प्रवेश ग्रन्थकारकृत प्रथम लक्षण में नहीं है, इसलिए समभिरूढ में अतिव्याप्ति की शंका को अवकाश था उस का वारण करने लिए "नियमघटित" यह परिष्कृत लक्षण ग्रन्थकार ने किया है। एवम्भूत का यह सिद्धान्त है कि कुटपद का अर्थ जो कौटिल्य का आश्रय घट होता है, वह घटपद का अर्थ नहीं होता है क्योंकि घटपद का व्युत्पत्त्यर्थ जो जलाहरणादि क्रिया है वह उस में नहीं है, तो उसी रीति से गृह के एक देश में स्थित घट जिस में जलाहरणादि क्रिया नहीं रहती है, उसकाल में उस घट में भी घटपद के व्युत्पत्त्यर्थ जलाहरणादि क्रिया का तो अभाव ही रहता है, इसलिए वैसा घट भी घटपदार्थ नहीं है क्योंकि कुटपदार्थ और गृहकोण स्थित घट, इन दोनों में घटपद का व्युत्पत्त्यर्थ जलाहरणादि क्रिया का अभाव समानरूप से रहता है। अतः स्त्री के मस्तक पर स्थित जलपूर्ण घट ही एवम्भूत के मत से घटपदार्थ है।

[सिद्धात्मा में जीवन का अस्वीकार]

[नन्वेवं] यहाँ यह आशंका उठ सकती है कि-"गृहकोणस्थ घट में घटपद का व्युत्पत्ति-अर्थ जो जलाहरणादि क्रियारूप है, उस का अभाव रहने से यदि एवम्भूतनय गृहकोणस्थ घट को घट पदार्थ नहीं मानेगा, तो सिद्ध जीव भी जीव-पदार्थ नहीं हो सकेगा क्योंकि सिद्धजीव में भी प्राणधारणरूप जीवपद का व्युत्पत्त्यर्थ नहीं रहता है। पाँच इन्द्रिय स्पर्शनादि और कायिक, वाचिक, मानसिक ये तीन प्रकार के बल, श्वासोच्छ्वास-और आयुष ये दस प्रकार के प्राण माने गए हैं। सिद्धों में ये प्राण नहीं होते हैं, इसलिए प्राणधारण क्रिया का भी अभाव सिद्धों में रहता है।"-इस शंका का समाधान यह है कि एवम्भूतनय के मत से सिद्धात्मा में जीवपद का अर्थ नहीं घटता है तो कोई क्षति नहीं है। सिद्ध जीव में जीवपदार्थत्व का न होना इस नय को इष्ट ही है।

* एवं जीवन् जीवः संसारी प्राणधारणानुभवात्। सिद्धः पुनरजीवो जीवनपरिणामरहितः।

अत एव "जीवो नोजीवोऽजीवो नोऽजीव" इत्याकारिते नैगम–देशसंग्रह–व्यवहार–ऋजुसूत्र–साम्प्रत–समभिरूढा जीवं प्रत्यौपशमिकादिभावपञ्चकग्राहिणः । 'तन्मते व्युत्पत्तिनिमित्तजीवनलक्षणौदारिकभावोपलक्षितात्मत्वरूपपरिणामभावविशिष्टस्य जीवस्य भावपञ्चकात्मनः पदार्थत्वादित्यमी पञ्चस्वपि गतिषु 'जीव' इति जीवद्रव्यं प्रतियन्ति । 'नोजीव' इति च नोशब्दस्य सर्वनिषेधार्थपक्षेऽजीवद्रव्यमेव, देशनिषेधार्थपक्षे च देशस्याऽप्रतिषेधाज्जीवस्यैव देशप्रदेशौ । 'अजीव' इति नकारस्य सर्वप्रति-

---

इस अर्थ में भाष्यकार का–एवं जीवो० इत्यादि वचन भी संवादक है । उस का अर्थ यह है कि जीव् धातु प्राणधारणरूप अर्थ का वाचक है, ऐसा व्याकरणानुशासन से जाना जाता है । "जीवति=दशविधप्राणान् धारयति" इस व्युत्पत्ति के अनुसार दशप्रकार के प्राणों को धारण करता हुआ ही जीवपदार्थ एवम्भूतनय के मत से माना जाता है । जो दशविध प्राणों को धारण करता है, वह प्राणधारण का अनुभव भी करता है, इसलिए प्राणधारण का अनुभव जिस में होता हो वही जीवपद का अर्थ है । वह जीव संसारी ही होता है और वही देव, मनुष्य, तिर्यञ्च, नारक आदि शब्द से कहा जाता है। सिद्धात्मा तो इस के मत से जीव नहीं है क्योंकि वह जीवन (प्राणधारण) से रहित है, इसलिए सिद्ध में जीव शब्द का व्युत्पत्त्यर्थ नहीं घटता है, किन्तु सत्ता का योग होने से सत्त्वशब्द से व्यवहृत होता है । एवं, "आत्मा" शब्द से भी सिद्ध का व्यवहार होता है क्योंकि "अतति तान् तान् दर्शन–ज्ञान–सुखादिपर्यायान् गच्छति इति आत्मा" इस व्युत्पत्ति के अनुसार आत्माशब्द का 'ज्ञान, दर्शन, सुखादि पर्यायों को प्राप्त करनेवाला' यह अर्थ निकलता है । यह अर्थ सिद्धों में भी घटता है क्योंकि सिद्ध दशविध प्राणों को धारण नहीं करते हैं, तो भी ज्ञान, दर्शन, सुखादि पर्यायों को प्राप्त करते रहते हैं। अतः एवम्भूतनय की दृष्टि में सिद्ध जीवपदार्थ नहीं है ।

[जीव–नोजीव, अजीव–नोऽजीव के सम्बन्ध में सप्तनयाभिप्राय]

[अत एव] प्राणधारण लक्षण जीवनक्रिया काल में ही जीव में जीवत्व का अभ्युपगम एवम्भूतनय करता है इसीलिये शास्त्र में यह विभाग दिखाया है–एवंभूत को छोडकर शेष नैगम, देशसंग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, साम्प्रत और समभिरूढ ये छः नय जीव के प्रति औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक, औदयिक और पारिणामिक इन भावपञ्चक के ग्राही कहे गये हैं । इन के मत में 'जीवति इति जीवः' इस व्युत्पत्ति से प्राणधारण स्वरूप जीवन क्रिया जो कि कर्मोदयकृत है उससे उपलक्षित जीव का आत्मत्वरूप पारिणामिक भाव, उस से युक्त और उपरोक्त भावपञ्चकात्मक जो जीव वही जीवपदार्थ इन नयों के मत में है । अतः ये नय नर, अमर, तिर्यञ्च, नारक, सिद्ध, इन पांचों गतियों में "जीव" ऐसा कहने पर जीव द्रव्य की प्रतीति का होना मानते हैं।

तथा 'नोजीवः' ऐसा कहने पर, 'नो' शब्द का सर्वनिषेध अर्थ लिया जाय तब जीव और जीव के देश–प्रदेशों का भी निषेध हो जाता है इसलिए "नोजीव" शब्द से अजीवद्रव्य का ही बोध ये छ नय मानते हैं । "नोजीव" इस में "नो" शब्द का सर्व-

षेधार्थत्वात्पर्युदासाश्रयणाच्च जीवादन्यत् पुद्गलद्रव्यादिकमेव । 'नोऽजीव' इति सर्वप्रतिषेधाश्रयणे जीवद्रव्यमेव, देशप्रतिषेधाश्रयणे चाजीवस्यैव देशप्रदेशौ । एवम्भूतस्तु जीवं प्रत्यौदयिकभावग्राहकः, तन्मते क्रियाविशिष्टस्यैव पदार्थत्वादित्ययं 'जीव' इत्याकारिते भवस्थमेव जीवं गृह्णाति, न तु सिद्धम्, तत्र जीवनार्थानुपपत्तेः । 'नोजीव' इति चाजीवद्रव्यं सिद्धं वा । 'अजीव' इति चाजीवद्रव्यमेव । 'नोऽजीव' इति च भवस्थमेव । जीवे देशप्रदेशौ तु सम्पूर्णग्राहिणानेन न स्वीक्रियेते, इत्यस्माकं प्रक्रिया ॥

निषेध नहीं किन्तु देशनिषेध अर्थ लिया जाय तो किसी एक जीवदेश का निषेध होने पर भी अन्य देश का निषेध नहीं होता है । इस स्थिति में "नोजीवः" इस प्रयोग से ये छ नय उक्त जीव के देश और प्रदेश का ही बोध मानते हैं ।

एवं 'अजीवः' इस प्रयोग में "जीव" शब्द के पूर्ववर्ती "नकार" जीव और जीव के देश और प्रदेश इन सभी का निषेधक है, अतः "नञ्" का पर्युदास अर्थ लेने पर जीव से भिन्न पुद्गल द्रव्य आदि का ही बोध ये छ नय मानते हैं क्योंकि पर्युदास सदृशवस्तु का ग्राही होता है, अतः जीव से भिन्न और द्रव्यत्वरूपेण जीव के सदृश पुद्गलादि द्रव्य ही अजीवपद के प्रयोग से बोधित होते हैं ।

तथा "नोअजीवः" ऐसा प्रयोग करने पर "नो" शब्द और जीव शब्द के पूर्ववर्ती "नञ्" शब्द इन दोनों को सर्वप्रतिषेधार्थक माना जाय इस पक्ष में "जीव" शब्द के साथ लगा हुआ "नञ्" शब्द, जीव तथा जीव के देशप्रदेश इन सभी का निषेध करेगा, अतः "अजीव" शब्द से "जीवभिन्न" ऐसा अर्थ निकलेगा । जीव भिन्न सभी वस्तुओं का निषेध "नो" शब्द से हो जाएगा, तब जीवभिन्न सभी वस्तुओं से भिन्न जीव ही ठहरेगा, क्योंकि दो निषेधार्थ शब्दों का प्रयोग जहाँ होता है वहाँ प्रस्तुत अर्थ का ही दृढ प्रतिपादन सिद्ध होता है । इस स्थिति में ये छ नय "नोऽजीवः" शब्द से जीवद्रव्यमात्र का ही बोध मानते हैं । यदि 'नोऽजीवः' इस प्रयोग में "अजीव" शब्द का "जीवभिन्न द्रव्य" ऐसा अर्थ और "नो" शब्द से जीवभिन्न द्रव्य के देश का ही प्रतिषेध माना जाय, तो इस पक्ष में "अजीव द्रव्य" का किञ्चित देश "नो" शब्द से निषिद्ध होगा तो भी इतर देश और प्रदेश तो निषिद्ध नहीं होगा, क्योंकि इस पक्ष में "नो" शब्द सर्वनिषेधक नहीं है– इस स्थिति में "नोऽजीवः" इस शब्द से ये छ नय अजीव द्रव्य के देश और प्रदेश का बोध मानेंगे ।

इसतरह नैगमादि छ नयों के अभिप्राय में तुल्यत्व का प्रतिपादन करके उन नयों की अपेक्षा से "एवम्भूतनय" की विलक्षणता बताने के लिए कहते हैं–"एवम्भूतस्तु" इत्यादि "एवम्भूतनय" जीव शब्दार्थ के विचार में औपशमिक आदि पूर्वोक्त पाँचों भावों का ग्राहक नहीं, किन्तु औदयिक भावमात्र का ग्राहक है । कारण, एवम्भूत के मत में व्युत्पत्तिनिमित्त क्रिया के आश्रयभूत अर्थ को ही पदार्थ माना जाता है । अतः "जीवः" ऐसा प्रयोग करने पर यह नय जो भवस्थ जीव हैं अर्थात् नर, अमर, तिर्यञ्च, नारक इन चार गतियों में जो जीव रहे हैं, उन्हीं का बोध होने का मानता है, सिद्धिगति में रहनेवाले

केचित्तु [दिगम्बराः]–एवम्भूताभिप्रायेण सिद्ध एव जीवो भावप्राणधारणात् न तु संसारीति परिभाषन्ते ॥ तदाहुः [द्रव्यसंग्रहे]–

सिद्धों का बोध नहीं मानता है, क्योंकि व्युत्पत्तिनिमित्त प्राणधारणरूप अर्थ सिद्धों में नहीं रहता है। "नोजीवः" ऐसा प्रयोग करने पर एवम्भूत नय, अजीव द्रव्य का अथवा सिद्धात्मा का ही बोध मानता है। यद्यपि "नो" शब्द को सर्वनिषेधक मानकर 'नोजीवः इस वाक्य से अजीवद्रव्यों का बोध नैगमादि नय भी मानते हैं, इसलिए नैगमादिनय और एवम्भूतनय इन दोनों की मान्यता में साम्य प्रतीत होता है, तथापि "नो" शब्द के देशनिषेधार्थकपक्ष में नैगमादिनय जीव के देशप्रदेश का ही बोध मानते हैं, परन्तु एवम्भूतनय ऐसा बोध नहीं मानता है, यह वैषम्य 'नोजीवः' शब्दजन्य बोध में रहता है। यहाँ यह ख्याल रखना चाहिए कि एवम्भूतनय सम्पूर्णग्राही है, इसलिए जीव के देश और प्रदेश को वह नहीं मानता है। "अजीवः" ऐसे शब्दप्रयोग से एवम्भूत नय अजीव द्रव्य का ही बोध मानता है। यद्यपि नैगमादिनय भी "जीव" शब्द के पूर्ववर्ती नकार के सर्वप्रतिषेध अर्थ को मानकर और पर्युदास का आश्रयण करके जीव भिन्न पुद्गलादि द्रव्य मानते हैं, फिर भी "जीव" शब्द के पूर्ववर्तीनकार को देशनिषेधार्थक माना जाय तो नैगमादि छः नयों के मत से जीव के देशप्रदेश का भी बोध होगा, एवम्भूत के मत में देशप्रदेश मान्य न होने से अजीव द्रव्य मात्र का बोध होता है, यह अर्थ "अजीवद्रव्यमेव" यहाँ स्थित एवकार से प्राप्त होता है। "नोऽजीवः" ऐसा प्रयोग करने पर एवम्भूत के मत में भवस्थ अर्थात् नर, अमर तिर्यञ्च, नरक गतियों में वर्त्तमान जो जीव, उसी का बोध माना जाता है। नैगमादि नयों की तरह "नोऽजीवः" इस वाक्य में स्थित "नो" शब्द और "जीव" शब्द के पूर्ववर्ती "नञ्" शब्द का देशप्रतिषेध अर्थ मानकर अजीवद्रव्य के देश और प्रदेश का बोध नहीं मानता है, क्योंकि सम्पूर्णग्राही एवम्भूत के मत से देशप्रदेश का स्वीकार नहीं है। "भवस्थमेव" इस वाक्य में स्थित एवकार से सिद्धों की व्यावृत्ति सूचित होती है, क्योंकि एवम्भूत नय सिद्धगति में रहनेवाले आत्मा को जीव नहीं मानता है यह श्वेताम्बर जैनों की प्रक्रिया है।

[दिगम्बरों के मत में सिद्धात्मा ही जीव है]

"केचित्तु" इत्यादि :- ग्रन्थकार अब दिगम्बर के मत का निरसन करने के लिए पहले दिगम्बरों की मान्यता को प्रदर्शित करते हैं–एवम्भूतनय सिद्धि गति में स्थित जीव को जीव नहीं मानता है, यह श्वेताम्बरों का दृष्टिकोण है–इस से ठीक विपरीत दृष्टिकोण दिगम्बरों का है, वे लोग सिद्ध को ही जीव मानते हैं। भावप्राणरूपजीव पदार्थ का आश्रय सिद्धात्मा ही होते हैं, इसलिए वही जीव पदार्थ है। संसारीजीव श्वासप्रश्वासआदिरूप प्राण को धारण करने पर भी भावप्राण का आश्रय न होने से संसारीजीव जीवपद का अर्थ नहीं है। ऐसी परिभाषा दिगम्बरों की है। दिगम्बर लोग अपने मत को नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्त्ती विरचित द्रव्यसंग्रह के वचन से समर्थन करते हैं, कि जो तीनों काल में इन्द्रिय, बल आयु और श्वासोच्छ्वास को धारण करता है, व्यवहारनय से वही जीव है। निश्चयनय से तो जिस को चेतनायुगल

"तिक्काले चदुपाणा इन्दियबलमाउआणपाणो अ।
ववहारा सो जीवो णिच्छयदो दुचेयणा जस्स ॥३॥ इति।

न च द्विचेतनाशाली संसार्यपि जीव एवेति वाच्यम्, शुद्धचैतन्यरूपनिश्चयप्राणस्य सिद्धेनैव धरणात्। न च संसारिचैतन्यमपि निश्चयतः शुद्धमेवोपरागस्य तेन प्रतिक्षेपात्; तदुक्तम् [द्रव्यसंग्रहे] "मग्गणगुणठाणेहि अ चउदस य हवंति तह असुद्धणया॥ विण्णेया संसारी सव्वे सुद्धा उ (हु) सुद्धणया ॥१३॥" इति वाच्यम्, एकीकृतनिश्चयेन तथाग्रहणेऽपि पृथक्कृतनिश्चयभेदेन तदग्रहणादिति। तच्चिन्त्यम्,

---

यानी ज्ञान-दर्शनरूप भावप्राण रहते हैं, वही जीवपदार्थ है। इस से यह सिद्ध होता है कि भावप्राण का आश्रय ही जीव पदार्थ है और वह सिद्ध ही है। इस गाथा में इन्द्रिय पद से "त्वक्, रसना, नासिका, श्रवण, चक्षु" ये पांच बाह्येन्द्रिय और मनरूप अन्तरिन्द्रिय विवक्षित है। बलपद से कायिक, वाचिक और मानसिक ये तीन बल विवक्षित हैं। आयुपद से किसी एक शरीर में जीव का कर्मानुसार नियतकाल तक अवस्थान विवक्षित है और आनप्राण पद से श्वास-प्रश्वासरूप प्राण विवक्षित हैं। ये सब संसारी जीव में ही होते हैं। इसलिए व्यवहारनय से संसारी भले ही जीवपदार्थ हो, निश्चयनय से तो सिद्ध ही जीव पदार्थ है।

यदि यह शंका हो कि-'संसारी जीव इन्द्रिय, बल आदि चार प्राणों का और भावप्राण जो ज्ञान-दर्शन रूप है, उस को भी धारण करता है, तब संसारी भी जीव क्यों न माना जाय?' तो इस का समाधान वे लोग इस तरह करते हैं कि शुद्धचैतन्यरूप नैश्चयिक प्राण को सिद्ध ही धारण करते हैं, इसलिए सिद्ध ही जीवपदार्थ हो सकते हैं, संसारी नहीं। यदि यह कहा जाय कि-"संसारी आत्मा में जो चैतन्य रहता है वह भी निश्चय से शुद्ध ही है, तो संसारी आत्मा जीवपदार्थ क्यों नहीं हो सकेगा? इस प्रश्न के सामने यह नहीं कह सकते कि 'आवरणीयकर्म का जीव के साथ जो सम्बन्ध माना गया है तदात्मक उपराग के रहने पर संसारी आत्मा का चैतन्य शुद्ध नहीं है-' क्योंकि निश्चयनय उपराग को मानता ही नहीं है। द्रव्यसंग्रहकार के "मग्गणगुणट्ठाणेहि" इत्यादि गाथा में भी यही कहा गया है कि- १४गति-इन्द्रियादि मार्गणास्थान और मिथ्यात्वादि १४ गुणस्थान की अपेक्षा से सब जीव संसारी हैं- ऐसा अशुद्धनय का अभिप्राय है। शुद्धनय के अभिप्राय से सर्व जीव शुद्ध ज्ञानस्वरूप यानी शुद्धात्मस्वरूप हैं।"- तो यह कहना ठीक नहीं है क्योंकि चैतन्य चैतन्यरूप से सभी एक ही है-इसतरह के संग्रहनिश्चयनय से संसारी चतन्य का शुद्धरूपतया ज्ञान होने पर भी तत्-तद् आत्मा के भेद से सभा आत्मा का चैतन्य भिन्न-भिन्न ही होता है, इस तरह के चैतन्यगत भेदग्राही एवम्भूत निश्चयनय से संसारी चैतन्य में शुद्धता का ज्ञान नहीं है। अतः संसारी चैतन्य एवम्भूतनय के मत से जीवपदार्थ नहीं हो सकता है, किन्तु भावप्राण को धारण करनेवाला सिद्ध ही एवम्भूतनय के मत से जीवपदार्थ है।

एवम्भूतस्य जीवं प्रत्यौदयिकभावग्राहकत्वात् । न चास्य क्रियाया एव प्रवृत्तिनिमित्तत्वाद्धात्वर्थ एव भावनिक्षेपाश्रयणे शुद्धधर्मग्राहकत्वमप्यनाबाधमिति वाच्यम्, यादृशधात्वर्थमुपलक्षणीकृत्येतरनयार्थप्रतिसन्धानं तादृशधात्वर्थप्रकारकजिज्ञासयैव प्रसङ्गसङ्गत्यैवम्भूताभिधानस्य साम्प्रदायिकत्वात् । अन्यथा तत्रापि निक्षेपान्तराश्रयणेऽनव-

---

यह "दिगम्बर" का मत है। इस मत का निराकरण करने के लिए ग्रन्थकार लिखते हैं कि 'तच्चिन्त्यम्' । इस का आशय यह है कि दिगम्बर ने युक्तियों के द्वारा जो अपने मत का समर्थन अपने ग्रन्थों में किया है, उस पर विचार किए बिना आस्था कर लेना उचित नहीं होगा, इसलिए उस के मत पर चिन्तन करना चाहिए। चिन्तन करने पर यदि कोई दोष न निकले, तो उस में मान्यता देना ठीक होता है। दिगम्बर मत के चिन्तन करने पर उस के मत में बहुत से दोष दृष्टि में आते हैं, अतः उस पर आस्था बुद्धिमान पुरुषों को नहीं करनी चाहिये।

[दिगम्बर मत की समीक्षा]

[एवम्भूतस्य] पूर्वग्रन्थ से दिगम्बर के मत को चिन्तनीय बताया है। उस का कारण यह है कि एवम्भूतनय जीव के प्रति औदयिकभाव का ग्राहक है। "जीवति प्राणान् धारयति" इस व्युत्पत्ति से औदयिक भावान्तर्गत प्राणधारणात्मक जीवनक्रिया जिस काल में रहती है उस काल में एवम्भूत के मत से जीव में जीवत्व का स्वीकार इष्ट है। आशय यह है कि जीवन क्रियारूप जीवधात्वर्थ भवस्थ जीव में ही उपपन्न होता है, इसलिए भवस्थजीव को ही जीवपदार्थ मानना युक्त हैं। सिद्धि दशा में जीवधात्वर्थ जीवनक्रिया घटती नहीं है, अतः 'एवम्भूत के अभिप्राय से सिद्ध ही जीव है–' ऐसा जो दिगम्बर लोग मानते हैं, वह संगत नहीं है। दिगम्बर आचार्य का कथन तब संगत होता, यदि एवम्भूतनय जीव के प्रति पारिणामिकभाव का भी ग्राहक होता। शुद्धचैतन्य औदयिक भाव नहीं है, अतः उस का ग्राहक एवम्भूतनय नहीं है, इस हेतु से भी सिद्ध में जीवत्व एवम्भूतनय के अभिप्राय से नहीं घटता है। अतः दिगम्बर का कथन निर्युक्तिक है।

[भावप्राण के धारण से सिद्ध में जीवत्व की आशंका और समाधान]

दिगम्बर की ओर से यदि यह कहा जाय कि–"एवम्भूत नय के मत में जीवशब्द का प्रवृत्तिनिमित्त प्राणधारण क्रिया ही है। प्राणधारणरूप धात्वर्थ में यह विश्लेषण नहीं है कि प्राण पद से इन्द्रियादि प्राण की ही विवक्षा होती है और शुद्धचैतन्यरूप भावप्राण की विवक्षा नहीं होती है, क्योंकि "जीव् प्राणधारणे" इस व्याकरणानुशासन से प्राणमात्र का धारण जीव धातु का अर्थ प्रतीत होता है। इस स्थिति में भावनिक्षेप का आश्रयण करने पर भावप्राण का भी धातु से बोध हो सकता है। भावप्राण तो शुद्धचैतन्यरूप ही है, उस का ग्राहक यदि एवम्भूत हो तो कोई बाधक नहीं दीखता है। प्राणधारणक्रियारूप प्रवृत्तिनिमित्त भी घट सकता है, तब एवम्भूत की दृष्टि से भावप्राण का ग्रहण मानकर सिद्ध में ही "जीव" पदार्थता का स्वीकार करना संगत ही है, अतः सिद्ध को ही "जीवपदार्थ" क्यों न माना जाय ?"–परन्तु यह कहना ठीक नहीं है। कारण, जिस प्रकार

स्थानात्, प्रकृतमात्राऽपर्यवसानादन्ततो ज्ञानाऽद्वैते शून्यतायां वा पर्यवसानात्। किंचैतादृगुपरितनैवम्भूतस्य प्राक्तनैवम्भूताभिधानपूर्वमेवाभिधानं युक्तम्, अन्यथाऽप्राप्तकालत्वप्रसङ्गात्। तस्माद्व्यवहाराद्यभिमतव्युत्पत्त्यनुरोधेनौदयिकभावग्राहकत्वमेवास्य सूरिभिरुक्तम्, युक्तञ्चैतदिति स्मर्तव्यम्।

के धात्वर्थ को मानकर जीव पदार्थ का ज्ञान "नैगमादिनयों" के अभिप्राय से होता है, उसी प्रकार के जीवधात्वर्थ का स्वीकार कर जीवपदार्थ का ज्ञान एवम्भूत के अभिप्राय से कैसा होता है ? यही जिज्ञासा यहाँ प्रस्तुत है। औदयिकभावरूप जीवन को जीव धातु का अर्थ मानकर नैगमादिनय से नर-अमर आदि पांचों गतियों में जीवपदार्थ कैसा होना चाहिये इस बात की चर्चा का यह प्रसंग चलता है। इस प्रसङ्ग में एवम्भूत को कैसा जीव पदार्थ मान्य है, इस की जिज्ञासा होना सहज है और उस की उपेक्षा भी नहीं हो सकती है, इसलिए उस की मान्यता का स्पष्टीकरण आवश्यक ही रहता है। उस के विना श्रोता की जिज्ञासा शान्त भी नहीं हो सकती है। इस स्थिति में जैसा जीवधात्वर्थ मानकर जीवपदार्थ का प्रतिपादन नैगमादिनयों के मत में किया गया है उसी जीवधात्वर्थ को लेकर जीवपदार्थ का निरूपण एवम्भूत को भी करना चाहिए, यही सम्प्रदाय यानी परम्परा मान्य है। ऐसा करने से ही प्रसङ्गसंगति भी होती है। औदयिकभावरूप "जीव" धात्वर्थ मानकर जीवपदार्थ का प्रतिपादन नैगमादि नयों के मत से हुआ है, अतः औदयिकभाव स्वरूप धात्वर्थ को मानकर ही तदुपलक्षित आत्मा को ले कर जीवपदार्थ का प्रतिपादन एवम्भूतनय करे, यही उचित है। भावप्राणरूप जीव धात्वर्थ को मानकर जीवपदार्थ का प्रतिपादन नैगमादिनयों ने नहीं किया है, इस स्थिति में भावप्राणरूप जीवधात्वर्थ मानकर जीवपदार्थ का प्रतिपादन यदि एवम्भूत करे तो अत्यन्त अप्रासंगिक हो जायगा, इसलिए एवम्भूत के अभिप्राय से "सिद्धात्मा ही जीव है" ऐसा दिगम्बरों का मानना युक्त नहीं है।

यदि इस तथ्य को न मानकर और भावनिक्षेप का अवलम्बन करके शुद्धचैतन्यरूप भावप्राण पक्ष की विवक्षा का आग्रह करने पर, ऊपर ऊपर के एवम्भूत नयों से अन्य-अन्य भावनिक्षेप का भी आश्रयण किया जा सकेगा और वैसा करने पर दिगम्बर के मत में अनवस्था दोष उपस्थित होगा, जिस से दिगम्बरों को मान्य शुद्धचैतन्यरूप प्रकृत अर्थमात्र में कभी भी पर्यवसान नहीं होगा। अनवस्था दूर करने के लिये अगर सिर्फ ज्ञानमात्र को ही भावप्राण मानेंगे तो अन्ततो गत्वा ज्ञानाद्वैत में पर्यवसान होगा, अथवा उस में भी भावनिक्षेपान्तर का आश्रय करने से ज्ञान का भी क्रमशः सूक्ष्म-सूक्ष्मविभाग होने पर अन्त में शून्यता में ही पर्यवसान हो जायगा, जो दिगम्बर को भी इष्ट नहीं है। अतः साम्प्रदायिक रीति का ही आश्रय करना चाहिए। साम्प्रदायिक रीति का आश्रयण करने पर तो सिद्ध में जीवत्व सिद्ध नहीं होता है, अतः दिगम्बर का कथन संगत नहीं है।

न चेन्द्रियरूपप्राणानां क्षायोपशमिकत्वात् कथमेवम्भूतस्यौदयिकभाव-मात्र-ग्राहकत्वमित्याशंकनीयम्, प्राधान्येनायुष्कर्मोदयलक्षणस्यैव जीवनार्थस्य ग्रहणात्, उपहतेन्द्रियेऽप्यायुरुदयेनैव जीवननिश्चयात् । ननु यदि जीवं प्रत्यौदयिकभाव एव गृह्यत एवम्भूतेन, कथं तर्हि भावप्राणयोगाद्भवतामपि सिद्धस्य जीवत्वं मलयगिरिप्रभृतिभिरुक्तमिति चेत् ? भावपञ्चकग्राहिनैगमाद्यमिप्रायेणेति गृहाण । अत एव प्रज्ञापनादौ जीवनपर्यायविशिष्टतया जीवस्य शाश्वतिकत्वमभिदधे । यदि पुनः प्रस्थकन्यायाद्विशुद्धतरनैगमभेदमाश्रित्य प्रागुक्तस्वग्रन्थगाथा व्याख्यायते परैः, तदा न किञ्चिदस्माकं दूष्यतीति किमल्पीयसि दृढतरक्षोदेन ॥

[अप्राप्तकाल निग्रहस्थान की दिगम्बर को प्राप्ति]

(किञ्चे) ग्रन्थकार, दिगम्बर के मत में शून्यता की आपत्ति दिखाकर प्रकृत ग्रन्थ से अप्राप्तकालत्वरूप निग्रहस्थान की आपत्ति बताना चाहते हैं। कथा के क्रम से विपरीत क्रम द्वारा वस्तु के कथन को अप्राप्तकालनिग्रहस्थान माना गया है, इस को व्यत्यस्ताऽभिधान भी कहते हैं । प्रकृत में इस निग्रहस्थान की प्राप्ति इस ढंग से होती है कि नैगमादिनयों की दृष्टि से इन्द्रियादि प्राणधारणरूप जीवधात्वर्थ से उपलक्षित आत्मा जीवपदार्थ माना गया है। तब प्राणधारणरूप जीवधात्वर्थप्रकारकज्ञान जिस रीति से होवे, उस रीति से ही एवम्भूतनय का विधान करना चाहिए। आशय यह है कि सिद्धावस्था से पूर्वदशा में क्या जीवपदार्थ है, इस का कथन कर के ही सिद्ध दशा में जीवपदार्थ का निरूपण करना चाहिए, यही पदार्थ निरूपण का क्रम है। वह क्रम तो दिगम्बरमत में रखा ही नहीं गया, वह तो इतना ही कह देता है कि भावप्राण धारण करनेवाला सिद्ध ही एवम्भूत की दृष्टि में जीव है । असिद्ध दशा की स्थिति का वर्णन किए बिना सिद्धदशा की स्थिति का वर्णन दिगम्बर करते हैं, इसलिए क्रम का विपर्यास हो जाता है । अतः अप्राप्तकालत्वरूप निग्रहस्थान का प्रसंग दिगम्बर को प्राप्त होता हैं। इसीलिए व्यवहारादि नयों से अभिमत प्राणधारणरूप औदयिकभाव का ग्राहकत्व एवम्भूतनय में है, ऐसा मानना उचित है। ऐसा मानने में "जीवति=प्राणान्धारयतीति जीवः" यह जीवपद की व्युत्पत्ति भी अनुकूल होती है, पूर्व के सूरिलोगों ने ऐसा कहा भी है, जिस का स्मरण दिगम्बरों को करना चाहिए, क्योंकि उन सूरियों का कथन युक्तिसंगत है ।

[इन्द्रिय क्षायोपशमिक भाव होने से सिर्फ औदयिक भाव कैसे ?]

(न चेन्द्रिय) यदि दिगम्बरों की ओर से यह आशंका उठायी जाय कि "इन्द्रियरूपप्राण तो क्षायोपशमिक भाव हैं, तब उस को ग्रहण करनेवाला एवम्भूतनय औदयिकभावमात्र ग्राहक है अर्थात् कर्म के उदय से जनित प्राणों के धारण का ही ग्राहक है, ऐसा कहना कैसे संगत होगा ?"—तो इस का समाधान यह है कि एवम्भूतनय प्रधान रूप से जीवन शब्द का अर्थ आयुष्कर्मोदयरूप ही मानता है । अप्रधानरूप से क्षायोपशमिक प्राणों के धारण का निषेध नहीं है, इसलिए औदयिकभावमात्ररूप प्राण का

सिद्धोऽप्येतन्नये सत्त्वयोगात् सत्त्वः, अतति सततमपरपर्यायान् गच्छतीत्यात्मा च स्यादेव । अस्याप्युपदर्शिततत्त्वो भावनिक्षेप एवाभिमतः । तदेवं लक्षिताः सप्तापि नयाः ॥

एतेषु च यद्यपि क्षणिकत्वादिसाधने नित्यत्वादिपराकरणमेकान्तानुप्रवेशादप्रमाणम्, तथापि परेषां तर्क इव प्रमाणानां स्वरुचिविशेषरूपनयानामनुग्राहकत्वादुपयुज्यते इति सम्भाव्यते । तत्त्वं तु बहुश्रुता विदन्ति ॥

धारण एवम्भूत की दृष्टि से विरुद्ध नहीं है । अतएव इन्द्रियरूपप्राण का कभी कभी उपघात हो जाता है तो भी आयुष्कर्म के उदयमात्र से जीवन का निश्चय बना रहता है । दिगम्बरलोग यदि यह शंका करें कि-'जीव के प्रति औदयिकभावमात्र का ग्राहक एवम्भूत होवे, तो आप के मत में भी मलयगिरि सूरि आदि आचार्यों ने भावप्राण के सम्बन्ध से जो सिद्ध में भी जीवत्व का कथन किया है, वह कैसे सङ्गत होगा ? एवम्भूत की दृष्टि से तो सिद्ध में जीवत्व नहीं होना चाहिए, क्योंकि वह भावप्राण की विवक्षा जीव में नहीं करता है ।'-तो इस का समाधान यह है कि मलयगिरि सूरि आदि आचार्यों का कथन एवम्भूत के अभिप्राय से नहीं, किन्तु नैगमादि नयों के अभिप्राय से किया है और नैगमादिनय तो औदयिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक, औपशमिक तथा पारिणामिक इन पाँचों प्रकार के भावों को जीव में मानते हैं । इसी अभिप्राय से ही प्रज्ञापना आदि ग्रन्थों में जीव में जीवनपर्याय सदा होने के कारण जीव को भी शाश्वत बताया गया है । हाँ, दिगम्बरलोग प्रस्थकन्याय से अति विशुद्ध नैगमभेद के अभिप्राय से "तिक्काल चदुपाणा०" इत्यादि स्वग्रन्थस्थपूर्वोक्त गाथा का व्याख्यान करते हो और सिद्ध में ही जीवत्व का प्रतिपादन करते हो, तो हमें कोई हर्ज नहीं है, एवम्भूत के अभिप्राय से सिद्ध में जो जीवत्व का कथन दिगम्बरों का है, उसी में हमलोगों का विरोध है । छोटी सी बात के लिए अब अधिक चर्चा करना निष्फल होने के कारण उचित नहीं है ।

(सिद्धोऽप्येतन्नये) एवम्भूतनय की दृष्टि से सिद्ध को जीव नहीं कहा जाता, क्योंकि सिद्ध में प्राणधारण क्रियारूप औदयिकभाव को एवम्भूत नहीं मानता है । किंतु एवम्भूतनय के मत में सत्त्व और आत्मा शब्द का प्रयोग सिद्ध के लिये भी किया जा सकता है; क्योंकि उत्पादव्ययध्रौव्यरूप सत्त्व का सम्बन्ध सिद्ध में भी रहता है । आत्मशब्दार्थ निरन्तर अपर-अपर पर्याय का अनुगमन सिद्ध में भी प्राप्त होता है । आत्मशब्द की व्युत्पत्ति का निमित्त अपरापरपर्यायगमन ही होता है और उस का योग सिद्ध में भी रहता हैं । यह एवम्भूत की मान्यता है । एवम्भूतनय को भी निक्षेपचतुष्टय में भावनिक्षेप ही मान्य है; जिस का सार पूर्वग्रन्थ से बता दिया गया है । इस रीति से नैगमादि सातों नयों का लक्षण जानना चाहिए, जो इस लक्षणप्रकरण में कहे गए हैं ।

एतेषु च बलवत्त्वाऽबलवत्त्वादिविचारेऽपेक्षैव शरणम् । निश्चयव्यवहाराभिमतकारणानामानन्तर्यपारम्पर्यव्यवस्थितानामप्यपेक्षाऽविशेषात्। 'पूर्वस्य परेणोपक्षयाद्विशेष' इति चेत् ? न,—'दासेन मे खरः क्रीतः' इत्यादि न्यायात्परस्येव पूर्वेणोपक्षयाद् । 'व्यवहितस्य व्यवधानमेवोपक्षय' इति चेत् ? न, व्यापारेण व्यवधानाऽभावात् । 'ईदृशाऽव्यवधानाच्छुद्धाऽव्यवधानमेव न्याय्यमि'ति चेत् ? न, इच्छामात्रशरणत्वात् । 'क्रियानये

[नयों के द्वारा प्रमाणों का उपग्रह—अनुग्रह]

[एतेषु च यद्यपि] ये नैगमादि सातों नय अपने अपने विषय को सिद्ध करते हैं उस समय अपने अनभिमत विषय का निराकरण भी करते हैं। जैसे-क्षणिकत्व का साधन जब करते हैं उस समय स्थिरता का खण्डन भी करते हैं । अनित्यत्व का साधन जब करते हैं, उस समय नित्यत्व का निराकरण करते हैं । एवम् , नित्यत्व को साधन करते समय अनित्यत्व का खण्डन करते हैं । यह नित्यत्वादि का निराकरण प्रमाणरूप नहीं है क्योंकि नित्यत्व का निराकरण करने से अनित्यत्वादिरूप एकान्त में अनुप्रवेश हो जाता है, तब ऐसे अप्रमाण वस्तु का निरूपण अनुपयुक्त सिद्ध होता है । इसतरह की आशंका यदि यहाँ नय निरूपण में की जाय तो इस का समाधान ग्रन्थकार तर्क के उदाहरण से करते हैं कि- तार्किक लोग अनुमानादि प्रमाणों में जब व्यभिचार आदि दोषों का उद्भावन कोई प्रतिवादी करता है, तो उस का निराकरण करने के लिए तर्क का आश्रय लेते हैं और व्यभिचारादि दोषों की सम्भावना को उस के द्वारा दूर करते हैं। वह तर्क आहार्यज्ञान स्वरूप माना जाता है। व्याप्य के आरोप से व्यापक के आरोप का होना यह तर्क का लक्षण तार्किक लोग मानते हैं । वह तर्क इच्छाजन्य भ्रमात्मक ज्ञानरूप होने से अप्रमाण है. यह भी वे अच्छी तरह समझते हैं, तो भी तर्क के द्वारा प्रमाण में समर्थन प्राप्त होता है और प्रमाणों का अनुग्राहक होने से अप्रमाणभूत तर्क को भी उपयोगी मानते हैं । उसी रीति से प्रस्तुत में नित्यत्वादि का निराकरण करनेवाले स्वाभिप्राय विशेषरूप नय परस्पर में मिलकर प्रमाण से वस्तु के प्रतिपादन में अतीव उपयोगी हैं । अतः प्रमाण का अनुग्राहक होने से नित्यत्वादि के निराकरण करनेवाले भी नय अनुपयोगी तो नहीं है-यह सम्भावना करने में कोई बाधक नहीं है । तथापि इस विषय में क्या सारवस्तु है वह तो बहुश्रुत आचार्य ही दिखा सकते हैं क्योंकि वे लोग अनेक शास्त्रों का श्रवण मनन आदि करनेवाले होते हैं ।

[नयों में बलवान्—दुर्बल भाव इच्छाधीन]

[एतेषु च] यहाँ यह शंका हो सकती है कि-'पूर्ववर्णित ये सातों नय अभिप्रायविशेषरूप हैं और भिन्न भिन्न विषयों को मानते हैं । अभिप्रायरूपता इन सभी नयों में समान है तब इन में यह बलवान है और यह दुर्बल है इस का निर्णय किस प्रकार किया जा सकता है ?'-इस का समाधान यह है कि अपेक्षा के आधार पर ही इन में बलवत्त्व और दुर्बलत्व का विचार हो सकता है । "नैगम से आरम्भ कर एवम्भूतनय तक

स्वविषयसमवधाननियतेतरविषयसमवधानं विशेष' इति चेत् ? न, चरमकारणीभूतक्रिया-जनकज्ञानविषयत्वात् ज्ञाननयस्यापि विशेषात् । 'क्रियानये कार्यौपयिको विशेषो, ज्ञाननये तु व्यवहारौपयिक' इति चेत् ? न, ज्ञाननयविशेषस्यापि परम्परया कार्यौपयिक-त्वात्, पारम्पर्यानन्तर्ययोर्विशेषश्चेच्छामात्रादेवेत्युक्तम् ॥

उत्तरोत्तरनय पूर्व-पूर्वनयापेक्षया सूक्ष्मवस्तु को मानते हैं । इसलिए उत्तरोत्तरनय सूक्ष्म-दर्शी होने के कारण पूर्वपूर्वनय की अपेक्षा से प्रबल होते हैं और पूर्व-पूर्वनय स्थूलदर्शी होने के कारण उत्तरोत्तरनय की अपेक्षा से दुर्बल होते हैं । इस प्रकार नयों के विषयों में सूक्ष्मत्व ही प्रबलता का प्रयोजक और स्थूलत्व ही दुर्बलता का प्रयोजक होता है " ऐसा जो सुना जाता है वह भी अपेक्षाधीन है ।

[निश्चय] जैन सिद्धान्त में "नैगमत्व, व्यवहारत्व, संग्रहत्व" आदि रूप से जैसे नयों का विभाजन माना गया है, वैसे अन्यरूप से भी विभाजन माने गए हैं । जैसे= द्रव्यार्थिकत्व और पर्यायार्थिकत्वरूप से भी इन सातों नयों का विभाग किया जाता है। द्रव्य की प्रधानता को लेकर वस्तु का प्रतिपादन करनेवाले नय "द्रव्यार्थिक" कहे जाते हैं । वे नय "नैगम, संग्रह, व्यवहार" ये तीन हैं । पर्याय की प्रधानता को लेकर वस्तु का प्रतिपादन जो करते हैं, वे पर्यायार्थिक विभाग में आते हैं जैसे-ऋजुसूत्र, शब्द, समाभिरूढ और एवम्भूत । ये सातों नय अर्थनय और शब्दनय रूप में भी विभक्त होते हैं । जहाँ शब्द के आधार पर नहीं किन्तु स्वतन्त्ररूप से अर्थ का विचार किया जाता है वे नय "अर्थनय" शब्द से व्यवहृत होते हैं। जैसे : नैगम, संग्रह, व्यवहार और ऋजुसूत्र। जिन में शब्द के लिङ्गवचन आदि के आधार पर अर्थ का निर्णय किया जाता है, वे "शब्दनय " माने जाते हैं, क्योंकि इन में शब्द की ही प्रधानता रहती है । ऐसे नय शब्द, समभिरूढ और एवम्भूत ये तीन हैं ।

ये सातों नय निश्चय और व्यवहार इस रूप में भी विभक्त माने गए हैं । निश्चय-नय उसे कहा जाता है जो कार्य के निकटतमवर्त्ती कारणों का ही कारणरूप में स्वीकार करता है । व्यवहारनय पारम्परिक कारणों को भी कारणरूप में स्वीकार करता है । इसीतरह ये नय क्रियानय और ज्ञानरूपनय से भी विभक्त माने गए हैं । क्रिया को ही फलनिष्पत्ति में प्रधान मानता है वह क्रियानय है और ज्ञान का ही प्राधान्य मानता है वह ज्ञाननय माना गया है ।

प्रस्तुत में निश्चय-व्यवहार की बात है-"निश्चयनय" कार्य के प्रति जो अव्यवहित पूर्ववर्ती कारण होता है उसी में कारणत्व मानता है । जैसे घट के प्रति कुम्भकार का व्यापार ही कारण है और कुम्भकार का ज्ञानादि नहीं, इसलिए उस के मत में कार्य के प्रति वे ही कारण होते हैं जिन में कार्य का अव्यवहित आनन्तर्य रहता है, इस प्रकार कारणता की व्यवस्था में निश्चयनय को आनन्तर्य की अपेक्षा है । इसी तरह व्यवहारनय में जो जो कारण माने जाते हैं, वे कार्य की अपेक्षा से अव्यवहित पूर्ववर्ती ही होना चाहिए ऐसा आग्रह नहीं है किन्तु परम्परया जो कारण होते हैं वे भी व्यवहारनय से कारण माने गए हैं । जैसे-घट के प्रति कुम्भकार, दण्ड आदि भी कारण हैं। यहाँ पारम्पर्य की

अपेक्षा से कारणत्व की व्यवस्था व्यवहारनय में मानते हैं। अतः दोनों व्यवस्थाओं में अपेक्षा समानरूप से मूल बनती है। आनन्तर्य की अपेक्षा को लेकर निश्चयनय को बलवान माना जाय या पारम्पर्य की अपेक्षा लेकर व्यवहारनय को बलवान कहा जाय इस में इच्छा ही प्रधान है।

यहाँ यह शंका हो सकती है कि "दोनों व्यवस्थाओं में आपने अपेक्षाधीन बलवत्ता को बताया है वह युक्त नहीं हैं, उस का कारण यह है कि निश्चयनयने जो आनन्तर्य की अपेक्षा से कारणता की व्यवस्था की है वही उचित है; व्यवहारनयने पारम्पर्य की अपेक्षा से कारणता की व्यवस्था की है वह उचित नहीं है क्योंकि अव्यवहित कारण से ही कार्य का उद्गम होता है, पूर्ववर्त्ती व्यवहित पदार्थ से कार्योत्पत्ति तब तक नहीं होती जब तक अव्यवहित कारण का समवधान न हो। अव्यवहित कारण और व्यवहित कारणों में पूर्वापर भाव होता है यानी अव्यवहित यह परवर्त्ती है और व्यवहित यह पूर्ववर्त्ती है, तो परवर्त्ती के द्वारा पूर्ववर्त्ती का उपक्षय यानी चरितार्थता हो जाती है। इसलिये पारम्पर्य की अपेक्षा से कारणता की व्यवस्था ग्राह्य नहीं हो सकती"–इस का समाधान ग्रन्थकारने (व्यवहारवादी की ओर से] यह दिखाया है कि पारम्पर्य की अपेक्षा ही उचित है, क्योंकि यह प्रसिद्ध है कि दास के द्वारा अगर कहीं से गधे को बिकत लिया जाय तो वह गधा भी उस दास के स्वामी का ही हो जाता है– इसी प्रकार व्यवहित कारणों से ही अव्यवहित कारणों का समवधान हो कर उन अव्यवहित कारणों से कार्योत्पत्ति होती है इसलिये अव्यवहित कारणों का कार्य भी अपने स्वामी जैसे व्यवहित पूर्ववर्त्ती कारणों का ही हो जाता है, अत एव मानना तो यही चाहिये कि पूर्व यानी पारम्परिक कारणों से पर का यानी निकटवर्त्ती कारणों का उपक्षय यानी चरितार्थता हो जाती है।

यदि यह कहा जाय कि–"उपक्षय का अर्थ है व्यवधान, और व्यवधान तो व्यवहित कारणों का ही होता है, अव्यवहित का नहीं होता, अतः व्यवहित कारणों को ही उपक्षीण यानी चरितार्थ मानना चाहिये–"तो यह ठीक नहीं है क्योंकि व्यवधान का अर्थ है बीच में किसी का होना, यहाँ बीच में केवल व्यापार ही है, दूसरा तो कोई नहीं है। और व्यापार के व्यवधान को कहीं भी व्यवधानरूप में नहीं लिया जाता क्योंकि वह तो अव्यवधान का संपादक है अतः इस का व्यवधान नगण्य होता है इस लिये व्यवहित का उपक्षय नहीं है। इस पर यदि यह कहा जाय कि–'आपने व्यापार के द्वारा अव्यवधान दिखाया वह न्याययुक्त नहीं है, शुद्ध अव्यवधान को लेकर ही कारणता की व्यवस्था करना न्याययुक्त है'–तो यह ठीक नहीं है क्योंकि यह वस्तु केवल इच्छा पर निर्भर है। शुद्धाव्यवधानवाले कारण से पूर्व कारण का उपक्षय होता है, यह नियम यदि आप अपनी इच्छा से बनावेंगे तो कोई व्यक्ति अपनी इच्छा से यह भी नियम बना सकता है कि "दासेन मे खरः क्रीत"० इत्यादि न्याय से व्यापार को व्यवधायक न मानकर पूर्वकारण से ही पर का उपक्षय होता है। आप के नियम में इच्छा को छोडकर कोई अन्य प्रयोजक नहीं है और इच्छा सब को एकरूप ही होती नहीं हैं, इसलिए आप की इच्छा से विपरीत इच्छावाला व्यक्ति आप से कल्पित नियम के विपरीत नियम की कल्पना कर सकता है, उस में कोई बाधक नहीं है। अतः निश्चय और व्यवहार के अभिमत

कारणों में आनन्तर्य और पारम्पर्य की अपेक्षा से कारणत्व की व्यवस्था में बलवत्ता समान है और न्याय्य है ।

[क्रियानय और ज्ञाननय में अपनी अपनी विशेषता]

क्रियानय और ज्ञाननय की बात करे तो-क्रियानय कार्य के प्रति क्रिया को ही मुख्य कारण मानता है, ज्ञाननय ज्ञान को ही मुख्य कारण दिखाता है । इस में क्रियावादी की ओर से यदि यह कहा जाय कि-"क्रियानय के वक्तव्य में एक ऐसी विशेषता है जिस से उस की बलवत्ता सिद्ध होगी। वह विशेषता इस प्रकार है - क्रियानय का विषय क्रिया है और ज्ञाननय का विषय ज्ञान है । कार्य की उत्पत्ति तभी होती है जब सभी कारण क्रियान्वित हो जाते हैं, निष्क्रिय किसी भी कारण से कोई कार्य नहीं होता। ज्ञान चाहे कितना भी हो किंतु क्रिया में व्यापृत हुए बिना कार्य नहीं होगा । अब यह देखिये कि जब क्रिया सम्पन्न हो जायेगी-क्रिया की उपस्थिति होगी तब अन्य जो ज्ञानादि कारणरूप से अभिमत हैं उन की उपस्थिति तो अवश्य होगी ही । अतः क्रियानय में अपने विषय का [क्रिया का] समवधान होने पर अन्य ज्ञाननयादि के विषय का [ज्ञानादि का] समवधान नियमतः होता है यह विशेषता है, जो ज्ञाननय में नहीं है क्योंकि ज्ञाननय का विषय (ज्ञान) उपस्थित हो तब क्रिया का होना अवश्यंभावी नहीं है, अतः क्रियानय बलवान सिद्ध होगा"-तो यह ठीक नहीं है क्योंकि जैसी क्रियानय में आपने विशेषता दिखायी है वैसे ज्ञाननय में भी विशेषता दिखायी जा सकती है । ज्ञाननय की विशेषता यह है कि- कार्योत्पत्ति के अव्यवहित पूर्वकाल में उपस्थित होनेवाला जो अन्तिम कारण (क्रियारूप) होता है उस (क्रियारूप) कारण को जन्म देनेवाला तो ज्ञान ही होता है क्योंकि घटोत्पत्ति के अनुकुल ज्ञान ही कुम्भकार को नहीं होगा तो वह घटोत्पादन की क्रिया कैसे करेगा ? अतः अन्तिम कारण रूप जो क्रिया है उस का जनक जो ज्ञान है वह केवल ज्ञाननय का ही विषय है क्रियानय का नहीं-इसप्रकार चरमकारणगत क्रिया जनक ज्ञान-विषयतारूप विशेषता ज्ञाननय में होने से वही बलवान् है। अगर कहा जाय कि-"ज्ञाननय की विशेषता केवल व्यवहार के लिये ही उपयुक्त है, अर्थात् 'ऐसी ऐसी क्रिया से ऐसा ऐसा कार्य उत्पन्न होता है' इत्यादि पठन-पाठन में ही वह उपयोगी हैं, जब कि क्रियानय की विशेषता तो कार्योपयिक यानी त्वरित फलसंपादक है, अतः क्रियानय बलवान है"-तो यह भी ठीक नहीं क्योंकि ज्ञाननय की विशेषता भी परम्परया फलसंपादन में ही उपयुक्त होती है । अतः दोनों में से किस को बलवान माना जाय इस विषय में इच्छा ही प्रयोजक है और इच्छा सभी की एकरूप नहीं होती है किन्तु भिन्न-भिन्न होती है, इसलिए क्रियानय की दृष्टि से जो विशेष होता है, उस का प्रयोजक भी इच्छामात्र है और ज्ञाननय की दृष्टि से जो विशेष होता है, उस का भी प्रयोजक इच्छामात्र है, अतः एक विशेष को मान्यता दी जावे और इतर विशेष को मान्यता न दी जावे, इस में कोई एकतर पक्ष का साधक प्रमाण नहीं है । निश्चयनयाभिमत कारणों में आनन्तर्य और व्यवहाराभिमत कारणों में पारम्पर्य होता है-इस प्रकार की विशेषता से एक को बलवान् और दूसरे को निर्बल समझना यह भी इच्छाधीन ही है जो पहले कहा गया है ।

अत एव "इतरकारणविशिष्टं चरमकारणं सामग्री" इति सामग्रीलक्षणमन्यत्र निराकृतम्, विनिगमनाविरहात् । न च सम्बन्धलाघवं विनिगमकं, विशेष्य इव विशेषणे तत्सम्बन्धग्रहावश्यकत्वे तदसिद्धेरिति दिक् ॥

[सामग्री की व्याख्या में विनिगमनाविरह]

जहाँ दोनों ओर प्रबल युक्तियाँ दिखाई जा सकती है वहाँ किस को बलवान् माने और किस को दुर्बल ? इस में इच्छा ही प्रधान है-इसी कारण से, जो कुछ लोग इतर समस्त कारणों की उपस्थिति में अन्तिमकारण को फलोत्पादक सामग्री रूप कहते हैं वह निरस्त हो जाता है । सामग्रीवाद की चर्चा में किसी आचार्य का मत यह है कि "इतर कारण विशिष्ट चरम कारण ही सामग्री है" । जिस कारण के अव्यवहित उत्तर काल में कार्य की उत्पत्ति हो जावे वही कारण चरम कारण माना जाता है । वह कारण यदि अन्य कारणों से युक्त हो, तो वही चरम कारण सामग्री पदार्थ है क्योंकि उस के बाद कार्य अवश्य होता है, इसलिए "सामग्री कार्यव्याप्य होती है" यह नियम भी माना गया है । इस लक्षण के अनुसार अव्यवहित कारण में ही कारणत्व की व्यवस्था सिद्ध होती है, जो निश्चयनय अथवा क्रियानय वादी को अभिमत है । परन्तु इस मत में विनिगमना विरह के कारण अन्य आचार्य इस सामग्री के लक्षण में सहमत नहीं होते हैं । उन का आशय यह है कि-चरमकारण विशिष्ट इतरकारणों को ही सामग्री का लक्षण क्यों न माना जाय ? दोनों लक्षणों में किसी एक लक्षण को ही प्रमाणित करे ऐसी कोई अधिक बलवान् युक्ति तो है नहीं ।

यदि यह कहा जाय कि -"इतरकारणविशिष्ट चरमकारण को सामग्री मानने में विनिगमना का विरह जो आपने बताया है वह ठीक नहीं है, क्योंकि जिन वस्तुओं में कार्यकारणभाव माना जाता है, उन में एकाधिकरणवृत्तित्वरूप सामानाधिकरण्य भी माना जाता है । जिस देश में कार्य उत्पन्न होकर रहता हो उस देश में कारण को रहना आवश्यक है । कार्य और कारण इन दोनों की स्थिति यदि भिन्न-भिन्न देश में होती है तो उस कारण से वह कार्य नहीं होता है । भाजन में अग्नि का संयोग न हो तो उस में स्थित चावल से ओदन नहीं बनता है तथा उस भाजन में रहा हुआ जल गर्म नहीं होता है, इसलिए कार्य और कारण इन दोनों की एकदेश में स्थिति आवश्यक मानी गई है । कार्य को कार्याधार देश में रहने के लिए जिस सम्बन्ध की आवश्यकता होती है, वह सम्बन्ध कार्यतावच्छेदक सम्बन्ध माना जाता है और कार्याधारदेश में कारण को रहने के लिए जो सम्बन्ध अपेक्षित होता है, वह सम्बन्ध कारणतावच्छेदक कहा जाता है । इतरकारणविशिष्ट चरमकारण रूप सामग्री पक्ष में घटादि के प्रति चरमकारण जो कुम्भकार का हस्तव्यापार आदि, वह घटरूप कार्य के आधारभूत कपालादि देश में आश्रयता सम्बन्ध से रहता है, इसलिए आश्रयता सम्बन्ध चरमकारण का कारणतावच्छेदक सम्बन्ध होगा, वह सम्बन्ध साक्षात् सम्बन्धरूप पडेगा । चरमकारणविशिष्ट इतरकारण को यदि सामग्री का लक्षण माना जाय तो वे इतर कारण दण्ड, चीवर, चक्र, कुम्भकार आदि ही घट के प्रति होंगे । इन इतर कारणों का कपाल में रहना

स्यादेतत्—कुर्वद्रूपत्वाच्चरमकारणमेव क्रियानयाभिमतं कारणं युक्तं; नान्यत्,

साक्षात् सम्बन्ध से सम्भवित नहीं है क्योंकि वे कारण परम्पराकारणरूप ही होते हैं, इसलिए उन को कपाल में रहने के लिए परम्परा सम्बन्ध ही बनेंगे। वे सम्बन्ध कुम्भकार के लिए स्वजन्यव्यापाराश्रयत्व, चक्र के लिए स्वगतभ्रमिजन्यभ्रम्याश्रयत्व, दण्ड के लिए स्वजन्यभ्रमिजन्यभ्रम्याश्रयत्वरूप होंगे। चीवरादि के लिए भी इसीतरह के परम्परासम्बन्ध ही पडेंगे। अतः चरमकारण सामग्री पक्ष में सम्बन्ध कृत लाघव होता है, यही इस पक्ष में विनिगमक है।"—परन्तु यह कहना ठीक नहीं है। कारण यह है कि चरमकारण-विशिष्ट इतरकारण को सामग्री मानने के पक्ष में इतरकारण विशेष्य बनते हैं, वे परम्परा कारणरूप होते हैं अतः उन को कार्याधारदेश में रखने के लिए साक्षात् सम्बन्ध उपयुक्त नहीं होता है, किन्तु परम्परा सम्बन्ध ही उपयुक्त होते हैं, इसलिए इस पक्ष में आप को सम्बन्धकृत गौरव भासित होता है—और "इतरकारण विशिष्ट चरमकारण सामग्री" इस पक्ष में चरमकारण को कार्याधारदेश में रखने के लिए साक्षात् सम्बन्ध उपयुक्त होने के कारण लाघव भासता है—यह सूक्ष्मदर्शिता न होने के कारण ही भासता है। वस्तुस्थिति तो यह है कि इतरकारण विशिष्ट चरमकारणरूप सामग्रीपक्ष में भी इतरकारण और उन के सम्बन्धों का भान आवश्यक ही है। अन्तर केवल इतना ही है कि पूर्वपक्ष में इतर-कारण विशेष्य बने थे और इस पक्ष में इतरकारण चरमकारण में विशेषणरूप से भासते हैं। चरमकारण में इतरकारणों की विशेषणता के लिए सामानाधिकरण्य सम्बन्ध ही मानना होगा क्योंकि चरमकारण में विशेषणरूप से भासमान होने पर भी इतर कारणों को कार्याधारदेश में रहना आवश्यक ही है, नहीं तो इतरकारण और चरमकारण इन दोनों का सामानाधिकरण्य ही सिद्ध नहीं होगा। "सामानाधिकरण्य" शब्द से एकाधि-करणवृत्तित्व का बोध होता है। इतर कारणों के अधिकरण में चरमकारण का रहना यही चरमकारण में इतर कारणों का सामानाधिकरण्य है। तब तो, विशेषणीभूत इतर-कारणों को किसी सम्बन्ध से कार्याधारदेश में रहना आवश्यक होता है और उस के लिए परम्परा सम्बन्धों का ही उपयोग करना होगा, तब तो उन परम्परा सम्बन्धों का ज्ञान इतरकारणविशिष्ट चरमकारणरूप सामग्रीपक्ष में भी आवश्यक ही है। जब दोनों पक्षों में गुरुभूत परम्परासम्बन्धों का ज्ञान समानरूप से अपेक्षित है, तब सम्बन्धकृत लाघव की सिद्धि इस पक्ष में भी नहीं हो सकती है। इसलिए अन्य आचार्यों के मत से "चरम-कारणविशिष्ट इतरकारणों को सामग्रीरूप में माना जाय तो भी कोई हर्ज नहीं है। अतः कारणों में आनन्तर्य और पारम्पर्य के आधार पर बलवान्-दुर्बलत्व की व्यवस्था इच्छामात्र पर ही निर्भर रहती है, ऐसा मानना ही युक्त है। यहाँ "दिक्" पद का प्रयोग कर के ग्रन्थकार ने यह सूचित किया है कि इसतरह की शंका तथा समाधान की परम्परा अधिक भी हो सकती है, जिस का दिशासूचन इस ग्रन्थ में किया गया है।

[कुर्वद्रूप चरमकारण ही एकमात्र कारण—दीर्घ आशंका]

[स्यादेतद्] "निश्चयनय" की दृष्टि से चरमकारण में ही कारणत्व रहता है—इस वस्तु का निराकरण पूर्व ग्रन्थ से यद्यपि किया गया है तो भी "स्यादेतत्" यहाँ

अत एव क्रियासिद्धयैव कुर्वद्रूपत्वोपपत्तौ 'क्रियमाणं कृतमेवे'ति वदन्ति। न चैवं कृतकरणाऽसमाप्तिः सिद्धस्यापि साधने करणव्यापारानुपरमादिति वाच्यम्, कार्यमुत्पाद्य क्रियोपरमेण तत्समाप्तेः। न च यादृशव्यापारवतां दण्डादीनां पूर्वं सत्त्वं, तादृशानामेव तेषां क्वचिद् घटोत्पत्त्यनन्तरमपि सम्भवे, तदा तदुत्पत्तिप्रसङ्ग इति वाच्यम्, स्थूलतत्सत्त्वेऽपि सूक्ष्मक्रियाविगमात्। न च तत्क्रियाया घटोत्पत्तेः प्राक्सत्त्वे तदापि तदुत्पत्तिप्रसङ्गोऽसत्त्वे च कार्याऽव्यवहितपूर्ववृत्तित्वाऽभावेन कारणत्वानुपपत्तिरिति वाच्यम्, कार्यव्याप्यतावच्छेदकपरिणामविशेषरूपकारणतायाः कार्यसहवृत्तितानियमात्। अत एव कुर्वद्रूपत्वमप्रामाणिकम्, बीजत्वादिना साङ्कर्यात्-ऽतिरूपतदसिद्धेरिति निरस्तम्।

से लेकर "गम्भीरं नयमतम् कियदिह विविच्यते' ...यहाँ तक के ग्रन्थ से पूर्वपक्ष उत्तरपक्ष द्वारा चरमकारण में ही कारणत्व का समर्थन किया गया है। इस समर्थन में क्षणिकत्ववादी बौद्धमत का भी आश्रय लिया गया है। उस के बाद व्यवहाराभिमत कारणों में कारणत्व का व्यवस्थापन स्थिरवाद को लेकर किया गया है। इतना संदर्भ यहाँ समझ लेना उचित होगा। अब क्रियानयवादी कहता है कि कार्योत्पादन में जो समर्थ होता है, वह अपने कार्य को करने में विलम्ब अर्थात् कालक्षेप नहीं करता है और किसी अन्य वस्तु की अपेक्षा नहीं रखता है। जैसे-खेत में बोया गया बीज अंकुर को उत्पन्न करता ही है और अंकुर उत्पन्न करने में वह विलम्ब भी नहीं करता है, तथा अन्य किसी सहायक की अपेक्षा भी नहीं करता है, इसलिए अंकुररूप कार्य के प्रति वह बीज कुर्वद्रूप कहा जाता है। वही चरमकारण है और कारणता भी उसी में रहती है। कोठार में पडा हुआ बीज यदि अंकुर को उत्पन्न करने में समर्थ होता, तो जरूर अंकुर को विलम्ब किए विना उत्पन्न कर देता, सो तो देखने में आता नहीं है, इसलिए वह शिलाखंड के जैसे अंकुर को उत्पन्न करने में बिलकुल असमर्थ है, अतः अंकुर के प्रति कारणता उस में नहीं हो सकती है। यदि ऐसा कहा जाय कि-'मिट्टी और जल का संयोगरूप सहकारी कारणों की उपस्थिति में कोठारगत बीज में सामर्थ्य आ जाता है और तब वह भी अंकुर को कर देता है'-परन्तु ऐसा कहना युक्त नहीं है क्योंकि यदि उस में स्वतः सामर्थ्य नहीं है तो सैंकडों सहकारीओं का सुयोग होने पर भी सामर्थ्य नहीं आ सकता है। जैसे-शिलाखंड में जल-मिट्टी का संयोग आदि कितने भी सहकारीओं का योग होने पर भी सामर्थ्य नहीं आता है क्योंकि उस में अंकुरजनन सामर्थ्य स्वतः नहीं है। दूसरी बात यह है कि कोठार के बीज में सहकारी के योग से सामर्थ्य होता है यह बात सम्भवित भी नहीं है क्योंकि सहकारीओं से यदि कुछ उपकार या विशेष का आधान कोठार के बीज उपर नहीं होता तो वह सहकारीओं की अपेक्षा ही क्यों करेगा ? यदि कुछ उपकार कोठारगत बीज में सहकारीओं के द्वारा होता है, ऐसा मान लें तो उस सहकाररूप कार्य करने में उन सहकारीओं को अन्य सहकारीओं

की अपेक्षा अवश्य होगी, क्योंकि उन सहकारीओं में भी स्वतः सामर्थ्य तो स्थिरवादी मानते ही नहीं हैं। इसतरह उन अन्य सहकारीओं द्वारा पूर्व सहकारीओं में कुछ उपकार मानना ही होगा, नहीं तो उन सहकारीओं की अपेक्षा ही नहीं होगी। अनुपकारी की अपेक्षा कोई नहीं करता है, यह लोकप्रसिद्ध बात है। अतः पूर्वसहकारीओं में इतर सहकारीओं को भी स्वभिन्न सहकाराओं की अपेक्षा से उपकार करना होगा, इसतरह अनवस्था दोष उपस्थित होता है। सहकारी उपकार करने में स्वभिन्न सहकारीओं की अपेक्षा नहीं रखते हैं, क्योंकि वे स्वतः समर्थ हैं, ऐसा मान लें तो क्षणिकवाद में ही प्रवेश हो जायगा। इसलिए, कुर्वद्रूपत्व चरमकारण में रहता है, और चरमकारण से भिन्न कारण न तो कुर्वद्रूप है और वस्तुतः न कारण ही है यह "क्रियानय" की मान्यता ही युक्त है।

चरमकारण में ही कारणता रहती है, इसीलिए जैन मत में 'क्रियमाण' घटादि वस्तु को 'यह कृत ही है' इसतरह दिखाया गया है। चरमकारण का योग होने पर घटादिक्रिया की सिद्धि हो जाती है, उसी से घटादिवस्तु को कृत मान लिया जाता है और क्रिया की सिद्धि से ही चरमकारण में कुर्वद्रूपत्व की उपपत्ति होती है। यदि क्रिया की सिद्धि रहने पर चरमकारण ही न हो तो घटादिरूप कार्य कृत या निष्पन्न नहीं माना जायगा, तब तो चरमकारण में कुर्वद्रूपत्व और तन्मूलक कारणत्व भी नहीं होगा। अतः कारणत्व सिद्ध करने के लिए कुर्वद्रूपत्व की अपेक्षा रहती है और कुर्वद्रूपत्व की सिद्धि के लिए क्रियासिद्धि की अपेक्षा रहती है। क्रियासिद्धि मान लेने पर 'घटादिकार्य कृत है' ऐसा मानना आवश्यक है, इसलिए 'क्रियमाण कृत ही है' ऐसा जैन प्रवाद संगत होता है।

यहाँ शंका उठ सकती है कि-"क्रियमाण को कृत माना जाय तो इस का मतलब यह हुआ कि जो कृत=निष्पन्न है वही क्रियमाण यानी किया जा रहा है तब तो कृत के करण की समाप्ति ही न होगी, किन्तु कृत का करण सदा होता ही रहेगा क्योंकि सिद्ध घटादि वस्तु का भी यदि साधन माना जाय तो घटादि के प्रति कारणभूत दण्डादि की क्रिया का विराम कभी न होगा ?।"- तो इस का समाधान यह है कि दण्डादि कारणों की क्रिया का फल है घटादि कार्य की उत्पत्ति। वह जब हो जाती है, तब दण्डादिगत क्रिया जिस को करणव्यापार करते हैं, वह स्वयं निवृत्त हो जाती है। इसलिए कृत के करण की भी समाप्ति हो जाती है।

यदि यह कहा जाय कि-'घटादि कार्य की उत्पत्ति से अव्यवहितपूर्वकाल में जिसतरह की क्रिया से युक्त दण्डादिरूप करण रहते हैं, उसीतरह की क्रिया से युक्त दण्डादि घटोत्पत्ति के उत्तरकाल में भी अनुवर्त्तमान रहेंगे तो उस काल में भी घटादि की उत्पत्ति का प्रसंग आवेगा, परन्तु, घटादि की उत्पत्ति के बाद पुनः घटादि की उत्पत्ति किसी को मान्य नहीं है इसलिए उस को इष्टापत्ति भी नहीं कह सकते हैं, अतः घटोत्पत्ति के बाद पुनः घटोत्पत्ति का प्रसंगरूप दोष क्रियानयवादी के मत में रहेगा।'-परन्तु यह कहना ठीक नहीं है क्योंकि दण्डादिरूप कारणों में कदाचित् चक्रभ्रमण जनक स्थूल क्रिया घटोत्पत्ति के बाद रहेगी तो भी कुर्वद्रूपात्मक सूक्ष्म क्रिया घटोत्पत्ति के बाद दण्डादि में नहीं रहती है, इसलिए उस काल में पुनः घटोत्पत्ति का प्रसङ्ग नहीं आता है।

यह आपत्ति दी जाय कि-"घटोत्पत्ति से पूर्वक्षण में दण्डादि में यदि कुर्वद्रूपात्मक सूक्ष्मक्रिया रहती है या नहीं ? यदि पूर्वक्षण में सूक्ष्म क्रिया की सत्ता मानी जाय तो, घटोत्पत्ति से पूर्वक्षण में भी घटोत्पत्ति का प्रसंग आवेगा। यदि पूर्वकाल में सूक्ष्मक्रिया की सत्ता न मानी जाय तो उस में कारणत्व ही नहीं आवेगा क्योंकि 'कार्य से अव्यवहित पूर्वक्षण में रहना, यही कारणता पदार्थ है, वह तो उस सूक्ष्मक्रिया में घटता नहीं है, क्योंकि उस की सत्ता पूर्वक्षण में नहीं मानी गयी है ?"-तो इस आपत्ति का समाधान यह है कि कार्याव्यवहितपूर्वक्षणवृत्तित्व को कारणता का स्वरूप नहीं मानते हैं, किन्तु कार्यव्याप्यतावच्छेदक परिणामविशेष को ही कारणता का स्वरूप मानते हैं। तथाविध परिणामविशेष से युक्त दण्डादि ही कारण या करण कहा जाता है। जिस जिस काल में दण्डादि तथाविधपरिणाम युक्त होते हैं, उस उस काल में घटादि कार्य होते ही हैं, इसलिए तथाविध परिणामयुक्त दण्डादि, घटादिरूप कार्य के व्याप्य हुए और दण्डादि में रहा हुआ तथाविधपरिणामविशेष घटादिकार्यनिष्ठ व्यापकतानिरूपित व्याप्यता का अवच्छेदक भी बनता है। तथाविध परिणाम को कुर्वद्रूपत्व कहा जाता है। तथाविधपरिणामरूप कारणता नियमतः कार्यसमकालवृत्ति ही होती है। अतः घटोत्पत्ति से पूर्व में घटोत्पत्ति का आपत्ति नहीं आती है और दण्डादि में कारणता की अनुपपत्ति भी नहीं है। उक्त परिणामविशेषरूप कारणता में नियमतः कार्यसहवृत्तिता होने के कारण कुर्वद्रूपत्व भी प्रमाणसिद्ध हो जाता है क्योंकि उक्त परिणाम में कार्यनिष्ठव्यापकतानिरूपितव्याप्यतावच्छेदकत्व ही कुर्वद्रूपत्व का साधक बन जाता है।

अत एव तार्किकों का यह कथन-बीजत्वादि के साथ सांकर्य होने से जातिरूप कुर्वद्रूपत्व की सिद्धि न होने से कुर्वद्रूपत्व अप्रमाणिक है-इस कथन का भी निरास हो जाता है, क्योंकि सांकर्य के कारण जातिरूप कुर्वद्रूपत्व की सिद्धि न होने पर भी परिणामविशेष कुर्वद्रूपत्व की सिद्धि कार्यव्याप्यतावच्छेदकत्व के द्वारा हो ही जाती है, इसलिए वह प्रामाणिक ही है।

[कुर्वद्रूपत्व में जातिसांकर्य की स्पष्टता]

यहाँ इतना जान लेना आवश्यक है कि सांकर्य प्रयुक्त जातिरूपता का अभाव कुर्वद्रूपत्व में कैसे आता है, तथा सांकर्यपदार्थ क्या है और सांकर्य से भिन्न और भी कुछ जातिरूपता में बाधक माना है या नहीं, यदि माना है तो वे क्या हैं ? इस का समाधान यह है कि 'किरणावली' ग्रन्थ में जातिबाधक पदार्थों का संग्रह किया गया है "व्यक्तेरभेदस्तुल्यत्वं संकरोऽथानवस्थितिः। रूपहानिरसंबन्धो जातिबाधकसंग्रहः॥" इस के अनुसार जिस धर्म का आश्रयव्यक्ति एक ही हो, वह धर्म जातिरूप नहीं माना जाता है। जैसे=आकाशत्व धर्म का आश्रय आकाश एक ही है, इसलिए आकाशत्व जाति नहीं है। तुल्यत्व, स्वभिन्नजातिसमनियतत्वरूप यहाँ विविक्षित है, वह भी जातिरूपता का बाधक है अतः कम्बुग्रीवादिमत्त्व जातिरूप नहीं माना जाता, क्योंकि कम्बुग्रीवादिमत्त्व से भिन्न जाति घटत्व है और घटत्व का समनियत अर्थात् समव्यापक कम्बुग्रीवादिमत्त्व है। यद्यपि घटत्व, कलशत्व भी समनियत ही हैं तथापि उन में परस्परभेद नहीं माना जाता है, इसलिए वे दोनों एक जातिरूप हैं। संकर पद से सांकर्य विवक्षित है, जो जातिरूपता

अथैवं चक्रभ्रमणाद्युपलक्षितदीर्घक्रियाकाले कुतो न दृश्यते घटः ? यदि क्रिय-

---

का बाधक माना गया है। "परस्परात्यन्ताभावसमानाधिकरणधर्मयोः एकत्र समावेशः सांकर्यम्" यह सांकर्य का लक्षण है। यह लक्षण कुर्वद्रूपत्व में भी घटता है। बीजत्व के साथ सांकर्य इसप्रकार है-जहाँ बीजत्व नहीं रहता है वहाँ दण्डादि में कुर्वद्रूपत्व रहता है, अतः कुर्वद्रूपत्वधर्म बीजत्वाभाव का समानाधिकरण बनता है तथा कुर्वद्रूपत्व का अभाव कोठार के बीज में रहता है और वहाँ बीजत्व तो रहता ही है अतः बीजत्वधर्म कुर्वद्रूपत्वाभाव का समानाधिकरण होता है। इन दोनों धर्मों का समावेश क्षेत्रगत कुर्वद्रूपात्मक बीज में होता है क्योंकि क्षेत्रगत बीज में कुर्वद्रूपत्व और बीजत्व ये दोनों धर्म रहते हैं। अतः बीजत्व के साथ कुर्वद्रूपत्व का सांकर्य कुर्वद्रूपत्व की जातिरूपता का बाधक है। इसरीति से तार्किक लोग कुर्वद्रूपत्व में अप्रामाणिकता सिद्ध करते हैं। अनवस्था को भी जातिबाधक मानते हैं, इसलिए घटत्वादि जातियों में घटत्वत्वादि धर्म जातिरूप नहीं माने गए हैं। यदि जातियों में भी जातिरूप धर्म हो तो तादृशजाति सहित अन्यजातियों में भी कोई जातिरूप धर्म हो सकेगा, उस द्वितीय-तृतीय जातियों में भी कोई जातिरूप धर्म मानने पर अनवस्था आ जाती है। "रूपहानि" पद से तार्किकाभिमत विशेषों का स्वरूप जो स्वतो व्यावर्तकत्व उन को मान्य है, उस की हानि हो जायेगी। विशेषों में यदि विशेषत्व को जाति माना जाय तो वह विशेषत्व जाति ही विशेषों की व्यावृत्ति का कारण बन जायगी क्योंकि जातिमान् पदार्थ का व्यावर्त्तन जाति द्वारा ही हो जाता है। जैसे-गो पदार्थ का अश्व पदार्थ से व्यावर्त्तन गोत्व जाति द्वारा ही होता है। फलतः विशेषों की विशेषरूपता खंडित हो जाने के भय से रूपहानि भी जातिरूपता में बाधक मानी गयी है। "असम्बन्ध" पद से, प्रतियोगिता-अनुयोगिता एतद् अन्यतर सम्बन्ध से समवाय का अभाव विवक्षित है, वह जातिरूपता में बाधक है। इसीलिए समवायत्व और अभावत्व ये धर्म जातिरूप नहीं माने गए हैं क्योंकि समवाय और अभाव ये दोनों पदार्थ समवाय सम्बन्ध से कहीं रहते नहीं हैं, किन्तु विशेषणतात्मक या विशेष्यतात्मक स्वरूपसम्बन्ध से ही रहते हैं। इसलिए प्रतियोगितासम्बन्ध से समवाय यह समवाय तथा अभावपदार्थ में नहीं रहता है। इसीतरह समवाय और अभाव में भी कोई भी वस्तु समवाय सम्बन्ध से नहीं रहती है, जो भी समवायत्व, अभावत्व, पदार्थत्व, प्रमेयत्वादि धर्म उन में रहते हैं, वे स्वरूप सम्बन्ध से ही रहते हैं। इसलिए समवाय अनुयोगितासम्बन्ध से भी समवाय और अभाव, में नहीं रहता है, अतः प्रतियोगिता-अनुयोगिता एतद् अन्यतर सम्बन्ध से समवाय का अभाव, समवाय में रहता है और अभाव में भी रहता है, वह अभाव जातिरूपता में बाधक बनता है, इसलिए समवायगत समवायत्वरूप धर्म और अभावगत अभावत्वरूप धर्म जातिरूप नहीं होते हैं। यह नैयायिकों का सम्प्रदाय है, जो प्रकृत में उपयोगी होने के कारण यहाँ पर दिखा दिया गया है।

[चक्रभ्रमणादि दीर्घ क्रियाकाल में घटानुपलब्धि का रहस्य]

[अथैवं] यहाँ यह शंका उठ सकती है कि-'क्रियमाण अर्थात् वर्त्तमान क्रियाधिकरणक्षण में होनेवाला कार्य नियमतः यदि कृत ही माना जाय तो घट बनाने की क्रियाओं

माणः कृत एवेति चेत् ? न, क्रियाया दीर्घकालत्वाऽसिद्धेः चरमसमये तदभ्युपगमात् । घटगताभिलाषोत्कर्षवशादेव मृन्मर्दनाद्यान्तरालिककार्यकारणवेलायां 'घटं करोमी'-तिव्यवहारात् । तदुक्तम्–(वि० भाष्ये) "पइसमयकज्जकोडीणिरवेक्खो घडगयाहिलासो सि । पइसमयकज्जकालं थूलमई घडंमि लाएसि ॥२३१८॥ इति । 'कृतस्यैव करणे क्रियावैफल्यमि'त्यपि न रमणीयम् क्रिययेव निष्ठां जनयित्वा कार्यस्य कृतत्वोपपादनात् । "कृतमेव क्रिया जनयति नाऽकृतम् असत्त्वात्, क्रियाजनितत्वाच्च-कृतमित्यन्योन्याश्रय" इति चेत् ? न, घटत्वादिनैव घटादिक्रियाजन्यत्वात्,

---

का दीर्घकाल अनुभव में आता है, जिस में मिट्टि का आनयन और उस का मर्दन, चक्र के उपर उस का स्थापन, कुलाल का दण्डग्रहण तथा दण्ड का घट के साथ योजन और उस दण्ड से भ्रमण के लिए चक्र का दृढरूप से प्रेरण, उस के बाद चक्र का भ्रमण, उस के साथ चक्र के उपर पिण्ड का भ्रमण, घूमते हुए मिट्टीपिण्ड में कुलाल की हस्तकला, उस के बाद तन्तुविशेष से घट का छेदन-इतनी क्रियाओं का होना दिखता है । इस दीर्घकाल में जिस क्षण में घट का क्रिया का प्रारम्भ होता है, उस क्षण में भी यदि वह निष्पन्न माना जाय तो उस क्षण में भी घट का प्रत्यक्ष होना चाहिए तथा चक्रभ्रमणादि क्रियाकाल में भी उस का प्रत्यक्ष होना चाहिए क्योंकि चरमसमय में जैसे वह घटादि कार्य निष्पन्न रहता है, वैसे ही उस से पूर्वपूर्वक्षणों में भी निष्पन्न रहता है ।'-इस शंका का समाधान यह है कि घटकुर्वद्रूप क्रिया तो उसीकाल में होती है जिस क्षण में घट उत्पन्न होता है, वह समय एक चरमसमयरूप ही है । इसीलिए घटकुर्वद्रूपात्मक क्रिया में दीर्घकालत्व होता ही नहीं है, अतः चरमसमय में ही घट में क्रियमाणत्व और कृतत्व ये दोनों रहते हैं । इसलिए मिट्टी के आनयनादि काल में घट की उपलब्धि नहीं होती है ।

यदि यह कहा जाय कि 'मिट्टी का आनयन, मर्दन आदि पूर्वक्षणों में भी "घटं करोमि" यह जो व्यवहार होता है, वह कैसे बनेगा क्योंकि आपने चरमसमय में ही घट में क्रियमाणत्व का सिद्धान्त मान लिया है ?' इस का समाधान यह है कि मिट्टी के आनयनकाल से लेकर चक्र पर से घट को उतारने तक मध्यवर्ती तत्तत्क्षणात्मक काल में भी भिन्न भिन्न बहुत कार्य उत्पन्न होते हैं, परन्तु उन कार्यों की गणना अल्पज्ञ लोक कर पाते नहीं हैं किन्तु उन प्रत्येक समयों में होनेवाले कार्य के सम्बन्धी सभी कालों को 'घटोत्पत्ति का ही यह काल है' ऐसा मान लेते हैं । इस का कारण यह है कि उस काल में 'यहाँ घट की उत्पत्ति हो' ऐसी प्रबल अभिलाषा लोगों की रहती है, क्योंकि लोगों का प्रयोजन जलाहरणादि, घट से ही सिद्ध होता है, अतः घट को ही प्रधान मान लेते हैं । तत्तत्क्षणों में उत्पन्न आन्तरालिक अन्य कार्यों की उपेक्षा कर देते हैं । इसलिए "घटं करोमि" ऐसा व्यवहार होता है । इस वस्तु का समर्थन करने के लिए पूर्वपक्षी "विशेषावश्यक भाष्य" की गाथा का यहाँ प्रदर्शन कर रहा है, ["प्रति-समयकार्यकोटीनिरपेक्षो घटगताभिलाषोऽसि । प्रतिसमयकार्यकालं स्थूलमते ! घटे लग-यसि" ॥ इति ।] उस का तात्पर्यः-मिट्टी के आनयन से आरम्भ करके तन्तुछेद पर्यन्त

तत्र कृतत्वाद्यप्रवेशाद् आर्थादेव सामाजात् कृतत्वोपपत्तेः । यदि च क्रियमाणं न कृतम्, तदा क्रियासमये कार्याभावात्तत्पूर्वं तत्पश्चाच्च कारणाभावात्तत् कार्यं न भवेदेव । 'सामग्र्यास्तदुत्तरसमय एव कार्यव्याप्यत्वोपगमान्नैष दोष' इति चेत् ? न सामग्रीसमयस्यैव कार्यव्याप्यत्वोपगमौचित्यात्, व्याप्तावुत्तरत्वाऽप्रवेशेन लाघवात्, कारणाभावस्यैव कार्याभावव्याप्यत्वेन कारणोत्तरकालेऽपि कार्याऽसिद्धेश्च ॥

जो दीर्घकाल वह भी घटनिष्पादक क्रिया का काल है, ऐसा अनुभव प्रायः सभी को होता है । जिस समय में घट का आरम्भ होता है, उसी समय में वह निष्पन्न हो जाता है, इसतरह का अनुभव तो किसी को होता ही नहीं है, इस स्थिति में क्रियमाण घटादि कृत ही है यह कैसे माना जाय ?। इस शंका का समाधान देने के लिए उक्त "विशेषावश्यक भाष्य गाथा" का उत्थान हुआ है । वर्तमान क्रियाधिकरण प्रत्येक क्षण में भिन्न भिन्न कार्य कोटि अर्थात=अनेक कार्य यद्यपि उत्पन्न होते हैं, तो भी घटार्थि-व्यक्ति उन उन कार्यों की अपेक्षा नहीं रखता हैं क्योंकि उन कार्यों से जलाहरणादि कोई भी प्रयोजन नहीं हो सकता, वह प्रयोजन तो घट से ही सिद्ध होता है, इसलिए 'यहाँ घट उत्पन्न हो' ऐसी ही अभिलाषा घटार्थी को होती है, अतः प्रतिसमय होनेवाले कार्यों को वह नहीं देख सकने के कारण स्थूलमति माना जाता है । वह स्थूलमतिवाला घटार्थी उन उन कार्यकारियों के सम्बन्धी सभी कालों को घटसम्बन्धी काल ही मान लेता है, यद्यपि यह मानना उस का मिथ्या अनुभव है क्योंकि एक सामयिक घट को बहु-सामयिक मानता है ।

यहाँ यह भी शंका ऊठ सकती है कि-"यदि प्रतिसमय भिन्न भिन्न कार्य कोटि उत्पन्न होती हो तो उन की भी उपलब्धि होनी चाहिए, जैसे कि-मध्यकाल में शिबक, स्थास, कोश आदि उपलब्ध होते हैं । अतः प्रतिसमय में कार्यकोटियाँ अनुपलब्धि से बाधित क्यों न मानी जाय ?"-इस का समाधान यह है कि प्रतिसमय में होनेवाली कार्यकोटियों के ग्राहकज्ञान अनन्त सिद्धों को और केवलियों को भी होता है, अल्पज्ञ व्यक्ति उन सूक्ष्म कार्यकोटि को नहीं देख सकते हैं, अतः वे कार्य अनुपलब्धिबाधित नहीं माने जा सकते हैं । उक्त गाथा का यह विशद अर्थ है, इस से यह सिद्ध होता है कि घटादि कार्य एकसामयिक ही होता है, वह समय चरमसमय ही है क्योंकि चरमसमय में ही घटादि के कारण का समवधान होता है । अतः क्रियमाण कार्य नियमतः कृत ही होता है, इसतरह पूर्वपक्षी के कथन का समर्थन उक्त गाथा से प्राप्त हो जाता है । [इस गाथा के तृतीयपद में "पइसमय कज्जकोडिं" ऐसा पाठ हस्तलिखित कितनी प्रतियों में मिलता है, परन्तु उक्तगाथा की "मल्लधारि श्रीहेमचन्द्रसूरि" विरचित बृहद्वृत्ति में "पइसमय कज्जकालं" इस पाठ के अनुसार ही गाथा का व्याख्यान किया गया है, इस-लिए तदनुसारी पाठ को ही यहाँ समझना जरूरी है । हस्तप्रतिलिखित पाठ की संगति भी चतुर्थपादगत "घडम्मि" पदार्थ के साथ नहीं हो पाती है ॥]

[कृतस्यैव] अगर यहाँ आशंका हो कि-'क्रियमाण यदि कृत ही है तो कृतवस्तु के करने के लिए कोई क्रिया की जाय तो वह क्रिया निष्फल ही होगी क्योंकि कार्य की निष्पत्ति

ही क्रिया का फल है, वह तो हो ही चुकी है यदि कार्य निष्पन्न है ?'–इस का समाधान यह है कि क्रिया से ही कार्य की निष्पत्ति होती है, क्रिया के बिना कार्य में निष्पन्नत्व हो ही नहीं सकता है, अतः क्रिया ही कार्य में निष्ठा को अर्थात् निष्पत्ति को उत्पन्न कर के कार्य में कृतत्व को लाती है, इसलिए क्रिया का वैफल्य नहीं है ।

यदि यह कहा जाय कि-"क्रियमाण कृत ही है ऐसा मानना ठीक नहीं है क्योंकि इस में अन्योन्याश्रय दोष लगता है । जैसे, कृत को ही क्रिया उत्पन्न करती है, अकृत को तो क्रिया उत्पन्न कर ही नहीं सकती है, कारण, अकृत कार्य की सत्ता ही इस पक्ष में नहीं मानी गई है, तब तो कृत को ही क्रिया उत्पन्न करती है और क्रिया से जनित होने पर ही कृत कहा जाता है इसतरह क्रिया से जनन होने में कृतत्व की अपेक्षा है और कृतत्व होने में क्रिया से जनन की अपेक्षा है अतः अन्योन्याश्रय स्पष्ट है-" परन्तु यह कहना ठीक नहीं है । कृत कार्य के प्रति क्रिया को जो कारणता है वह इस ढंग से नहीं है कि कृतत्वावच्छिन्न के प्रति घटक्रियात्वावच्छिन्न कारण है । यदि इसतरह का कार्यकारणभाव होता, तो अन्योन्याश्रयदोष की सम्भावना रहती । परन्तु इसतरह का कार्यकारणभाव यहाँ अभिमत है कि घटत्वावच्छिन्न के प्रति घटक्रिया कारण है । तब तो घटक्रिया से घटजनन में घटत्व की अपेक्षा होने पर भी कृतत्व की अपेक्षा नहीं रहती है । इसलिए अन्योन्याश्रयदोष का उद्भावन करना ठीक नहीं है, क्योंकि कृतत्व का कार्यकारणभाव में प्रवेश ही नहीं होता है । घटादि कार्य में क्रियोत्पन्नत्व होने से ही कृतत्व अर्थतः सिद्ध हो जाता है । जहाँ क्रियोत्पन्नत्व होता है वहाँ पर कृतत्व भी रहता है, इस व्याप्ति के बल पर ही कार्य में क्रियोत्पन्नत्वहेतुक अनुमान से कृतत्व की सिद्धि हो जाती है । यदि क्रियमाण को कृत न माने तो क्रियासमय में कार्य ही नहीं रहता है, तथा क्रिया से पूर्वकाल और पश्चात् काल में कारण ही नहीं रहता है इसलिए कार्य कभी हो ही नहीं सकता है, क्योंकि कार्यकारण में एककालवृत्तिस्वरूप सामानाधिकरण्य जो अपेक्षित है वही नहीं घटता है । अतः 'क्रियमाण कृत ही है' ऐसा मानना आवश्यक है ।

यदि यह कहा जाय कि-"कार्याऽव्यवहितपूर्ववृत्ति को ही कारण माना जाता है, अतः उत्तरक्षण में कारण के न रहने पर भी कार्य होने में कोई बाधा देखने में नहीं आती । व्याप्ति भी "यदा कारणं तदा कार्यं" इसीतरह की मानेंगे । तब तो "वह कार्य नहीं होगा" इसतरह का दोष देना अयुक्त है ।"-परन्तु यह कहना भी ठीक नहीं है । सामग्री समय में ही कार्यव्याप्यता मानना उचित है क्योंकि "यदा सामग्री तदा कार्यं" ऐसी व्याप्ति मानने में उत्तरत्व का प्रवेश व्याप्ति की कुक्षि में नहीं करना पडता है । "यदा सामग्रीउत्तरत्वं तदा कार्यं" इसतरह की व्याप्ति मानने में उत्तरत्व का प्रवेश करना पडता है इसलिए गौरव होता है । इसीतरह "यदा कारणाभावः तदा कार्याभावः" इस व्यतिरेक व्याप्ति में भी लाघव रहता है क्योंकि उत्तरत्व का प्रवेश नहीं करना पडता है । उत्तरत्व से घटित अन्वय व्याप्ति मानने पर व्यतिरेकव्याप्ति में "यदा कारणोत्तरत्वाभावः तदा कार्याभावः" इसतरह उत्तरत्व का प्रवेश करना पडेगा, इस से गौरव होगा अतः उत्तरत्व से अघटित व्याप्ति को ही मानना उचित है, तब तो "यदा कारणाभावः तदा कार्याभावः" इसतरह की व्याप्ति मानने पर कारणाभाव में ही कार्याभावव्याप्यत्व

अथ क्रियमाणमित्यत्र वर्त्तमानत्वमानशोऽर्थः कृतमित्यत्र चातीतत्वं निष्ठार्थः, तत्र वर्त्तमानत्वं विद्यमानकालवृत्तित्वं, अतीतत्वं च विद्यमानध्वंसप्रतियोगिकालवृत्तित्वम्, विद्यमानत्वं च तत्तत्प्रयोगाधारत्वं, प्रयोगत्वं च तत्तदर्थोपस्थित्यनुकूलव्यापारत्वं लिप्युच्चारणादिसाधारणं तदादेर्बुद्धिस्थत्वबल्लडादेः शक्यतावच्छेदकतत्तत्कालानुगमकम्, तच्च वर्त्तमानत्वमतीतत्वं वा धात्वर्थेऽन्वेति, धातूत्तरप्रत्ययजन्यकालप्रकारकबोधे

सिद्ध होता है । इसस्थिति में कारणोत्तरकाल में कार्य की सिद्धि नहीं हो सकेगी, अतः कारण के पश्चात् कार्य न होगा यह जो दोष दिया था वह युक्त ही है, इसलिए क्रियमाण कृत ही है' यह मानना युक्ति संगत है । [पूर्वपक्ष चालु]

[अथ क्रियमाणम] यहाँ यह आशंका उठ सकती है कि

क्रियमाण को कृत ही माना है, यह युक्त नहीं है क्योंकि क्रियमाण शब्द 'कृ' धातु से आनश् प्रत्यय लगने पर सिद्ध होता है, वह आनश् प्रत्यय क्रिया की वर्तमानता विवक्षित होने पर लगाया जाता है । तथा 'कृत' शब्द 'कृ' धातु से 'त' प्रत्यय लगाने पर बनता है, वह 'त' प्रत्यय 'निष्ठा' शब्द से भी व्याकरण शास्त्र में व्यवहृत होता है। निष्ठाप्रत्यय क्रिया में अतीतत्व विवक्षा होने पर धातु के बाद प्रयुक्त होता है । क्रिया में वर्तमानत्व यही है कि विद्यमानकाल में उस क्रिया का रहना । काल में विद्यमानत्व "तत्तत्प्रयोगाधारत्वरूप" माना गया है, जिस काल में "पचति" आदि शब्दों का प्रयोग होता है, वह काल प्रयोगाधारकाल कहा जाता है । 'प्रयोग' शब्द का अर्थ है तत्तत् अर्थों की उपस्थिति जिस व्यापार से होवे, वह व्यापार । वह व्यापार कहीं पर लिपिरूप, कहीं पर उच्चारणरूप, कहीं पर अक्षिहस्तव्यापारात्मक संकेतरूप होता है क्योंकि इन में से किसी एक व्यापार के रहने पर ही अर्थ की उपस्थिति होती है । उक्त विद्यमानत्व, जो अर्थोपस्थित्यनुकूलव्यापाररूपप्रयोगाधारत्वात्मक है, वही "लट् आनश्" आदि प्रत्ययों का जो शक्यार्थ है विद्यमानकालवृत्तित्वात्मक वर्तमानत्व, उस के शक्यतावच्छेदक सूक्ष्मकालों का अनुगमक होता है ।

आशय यह है कि 'तद्' आदि सर्वनाम पद की शक्ति बुद्धिस्थत्वोपलक्षित धर्मावच्छिन्न अर्थ में मानी गई है, वे धर्म घटत्व, पटत्वादिरूप होते हैं, जो प्रयोक्ता की बुद्धि में उपस्थित रहते हैं, वे ही घटत्वादि तत्पदशक्यार्थघटपटादिवृत्तिशक्यता के अवच्छेदक माने जाते हैं, उन सभी धर्मों का अनुगमक धर्म बुद्धिस्थत्व बनता है । इसलिए अननुगमरूप दोष को अवसर नहीं आता है । उसी तरह प्रस्तुत में विद्यमानकालवृत्तित्वरूप वर्त्तमानत्व लट् आदि प्रत्यय का शक्यार्थ है, उस में वृत्तित्वांश में विशेषण निरूपितत्व सम्बन्ध से कालखंड होते हैं, जो सूक्ष्मरूप से अनेक आने गए हैं । उन सभी कालों का अनुगमक धर्म यदि कोई न माना जाय तो शक्यतावच्छेदक जो असंख्य सूक्ष्मकाल पडते हैं, उन में अननुगमरूप दोष का अवसर आता है । विद्यमानत्व को छोडकर कोई दूसरा धर्म नहीं मिलता है जो उन कालों का अनुगम कर सके, अतः उन कालों में विशेषणी-

समानविशेष्यत्वप्रत्यासत्त्या धातुजन्योपस्थितेर्हेतुत्वात्, अत एव नातीतघटज्ञानाश्रये 'घटं जानाती'ति प्रयोगप्रसङ्गः न चैवमारम्भसमये 'पचती'ति प्रयोगो न स्यात्तदा पाकाभावादिति वाच्यम्, स्थूलकालमादाय तत्समाधानात्। तस्मात् 'क्रियमाणं कृतमि'त्यन्वयानुपपत्तिरिति चेत्? न, एवं सत्यारम्भकाल इव तत्पूर्वकालेऽप्येकस्थूलकालसम्भवेन 'पचती'ति प्रयोगप्रसङ्गाद्व्यवहारानुकूलप्रयोगादरस्य वस्त्वसाधकत्वात्, अन्यथा "पुरुषो व्याघ्र" इति प्रयोगात् पुरुषस्यापि व्याघ्रत्वप्रसङ्गात् ॥

भूत विद्यमानत्व ही उन सूक्ष्मकालों का अनुगमक बनता है। तथा निष्ठाप्रत्यय का अर्थ जो अतीतत्व है, वह विद्यमानध्वंसप्रतियोगिकालवृत्तित्वरूप है। "कृतम्, ज्ञातम्" इत्यादि प्रयोग का आधारभूत जो काल उस में वृत्ति जो ध्वंस, वह उस काल से पूर्व में वर्त्ती जो सूक्ष्मकाल, उस के ध्वंसरूप है, वे ही ध्वंस 'विद्यमानध्वंस' शब्द से गृहीत होते हैं। उन ध्वंसों के प्रतियोगि जो सूक्ष्मकाल, तद्वृत्तित्वरूप अतीतत्व, धात्वर्थक्रिया में निष्ठा प्रत्यय से बोधित होता है। तादृश अतीतत्व ही निष्ठा प्रत्यय का शक्यार्थ है और वृत्तित्व में विशेषणीभूत सूक्ष्म अनेककालस्वरूप काल ही शक्यतावच्छेदक माने जाते हैं। उन सूक्ष्मकालों का अनुगमक कोई धर्म अवश्य होना चाहिए, नहीं तो अननुगम का सम्भव यहाँ पर रहता है, इसलिए उन कालों में विशेषणीभूत विद्यमानध्वंसप्रतियोगित्व ही शक्यतावच्छेदक कालों का अनुगमक बनता है, अतः अननुगम का अवसर नहीं आता है।

'क्रियमाणं' यहाँ पर 'आनश्' प्रत्यय का अर्थ जो उक्त वर्तमानत्व और "कृतम्" यहाँ पर "निष्ठा" प्रत्यय का अर्थ जो उक्त अतीतत्व, इन दोनों का 'कृ' धात्वर्थ क्रिया में अन्वय होता है क्योंकि "धातु के साथ प्रयुक्त प्रत्ययजन्य कालप्रकारकबोध के प्रति समानविशेष्यतासम्बन्ध से धातुजन्य उपस्थिति कारण मानी गई है। क्रियमाण शब्द से 'कृ'धात्वर्थ क्रिया, आधेयतासम्बन्धेन वर्तमानकालवती' अर्थात् वर्तमानकालीना ऐसा बोध होता है। इस बोध में कृधातु और उस के साथ लगनेवाला आनश् प्रत्यय ये दोनों कारण होते हैं। आनश् प्रत्यय से वर्त्तमानकाल उपस्थित होता है और "कृ" धातु से धात्वर्थ क्रिया की उपस्थिति होती है। जैसे "घट" पद से घटत्वप्रकारक घटविशेष्यक उपस्थिति होती है, उसीतरह "कृ" धातु से भी "उत्पत्त्यनुकूलव्यापारत्वप्रकारक तादृश-व्यापार विशेष्यक" उपस्थिति होती है। वह उपस्थिति उत्पत्त्यनुकूलव्यापार में विशेष्यता-सम्बन्ध से रहती है क्योंकि वह व्यापार ही उस उपस्थिति में विशेष्यरूप से भासित होता है। उस "कृ" धात्वर्थ क्रिया में काल विशेषणरूप से भासित होता है, इसीलिए उक्तबोध को कालप्रकारकबोध कहा जाता है, वह बोध विशेष्यता सम्बन्ध से कृ धात्वर्थ क्रिया में उत्पन्न होता है, कृधातुजन्य उपस्थिति भी उक्त कृधात्वर्थक्रिया में विशेष्यता-सम्बन्ध से रहती है। इस तरह उक्त कार्यकारणभाव घटता है। इसीलिए आनश् प्रत्ययार्थ वर्त्तमानत्व और निष्ठा प्रत्ययार्थ अतीतत्व का धात्वर्थ में अन्वय मानना आवश्यक होता है।

प्रत्ययार्थ का धात्वर्थ में अन्वय माना जाता है, इसीलिए जहाँ पूर्वकाल में घट का ज्ञान हुआ हो और वर्तमान में ज्ञान न हो, इस स्थिति में "घटं जानाति" ऐसा प्रयोग

नहीं होता है । यदि धात्वर्थ में प्रत्ययार्थ वर्त्तमानत्व का अन्वय न माना जाय तो इस प्रयोग को अवसर मिल जाता, क्योंकि प्रत्ययार्थ वर्तमानत्व का ज्ञाधात्वर्थ ज्ञान में अन्वय होगा ही नहीं तो अतीतज्ञान को लेकर के "घटं जानाति" ऐसा प्रयोग होने में कोई बाधक नहीं होगा। प्रत्ययार्थ का धात्वर्थ में अन्वय मानने पर "ति" प्रत्ययार्थ वर्तमानत्व का ज्ञान में अन्वय करना अपेक्षित रहता है जो अतीतज्ञान में बाधित है, अतः उक्त प्रयोग नहीं होता है ।

यहाँ यह कहा जाय कि–'प्रत्ययार्थ वर्त्तमानत्व का यदि धात्वर्थ में अन्वय हो तो पाकारम्भ समय में 'पचति' ऐसा जो प्रयोग होता है, वह नहीं होगा, क्योंकि पाकारम्भ काल में पाक तो रहता नहीं है, तब प्रत्ययार्थवर्तमानत्व का कहाँ अन्वय होगा ?'–परन्तु यह कहना ठीक नहीं है क्योंकि पाक के आरम्भक क्षण से लेकर जब तक पाक की परिसमाप्ति होती है, वहाँ तक एक स्थूलकाल को स्वीकार कर पाकारम्भसमय में भी "पचति" ऐसा प्रयोग हो सकता है। उस स्थूलकाल के अन्तर्गत बहुत से सूक्ष्मकाल यद्यपि रहते हैं तो भी उन कालों की विवक्षा से यह प्रयोग नहीं माना गया है किन्तु स्थूल एक काल की विवक्षा से यह प्रयोग होने में कोई बाधक नहीं हैं, क्योंकि उस स्थूलकाल में पाक रहता है और उस में तिप्रत्ययार्थ वर्तमानत्व का अन्वय भी सम्भवित है । इस स्थिति में आनशप्रत्ययार्थ वर्तमानत्व और निष्ठाप्रत्ययार्थ अतीतत्व, इन दोनों का परस्पर विरोध होने से "कृ" धात्वर्थ क्रिया में युगपत् अन्वय नहीं हो सकता है। अतः 'क्रियमाण कृत ही है,' इस तरह की "क्रियानय" की मान्यता युक्त नहीं है ।"–

परन्तु यह आशंका भी ठीक नहीं है । क्योंकि,

स्थूलकाल को लेकर पाक के आरम्भकाल में "पचति" इस प्रयोग का उपपादन किया जाय तो, पाकारम्भकाल से पूर्वकालघटित एक स्थूलकाल मानकर पाकारम्भ से पूर्वकाल में भी "पचति" ऐसे प्रयोग का प्रसंग हो जायगा । कारण, "विद्यमानकाल" पद से उस कल्पित स्थूलकाल को ग्रहण करेंगे, तद्वृत्तित्वरूप वर्तमानत्व पाक क्रिया में रहेगा ही। यदि यह कहा जाय कि–'पाकारम्भ पूर्वकाल में "पचति" इसतरह का व्यवहार नहीं होता है, इसलिए पाकारम्भ पूर्वकालघटित स्थूलकाल का ग्रहण नहीं करेंगे, अतः पाकारम्भपूर्वकाल में "पचति" इसतरह के प्रयोग का प्रसंग नहीं आवेगा और पाकारम्भकाल में तो "पचति" ऐसा व्यवहार होता है, इसलिए पाकारम्भकालघटित स्थूल काल को लेकर पाकारम्भकाल में "पचति" ऐसे प्रयोग में भी कोई बाधक नहीं होगा ।'–परन्तु ऐसा कहना भी ठीक नहीं होगा क्योंकि व्यवहारानुकूल प्रयोग मात्र से वस्तु की सिद्धि नहीं मानी जाती है । यदि वैसा मान लें, तो पुरुषव्यक्ति में "यह बाघ है" ऐसा व्यवहार होता है और "पुरुषो व्याघ्रः" ऐसा प्रयोग भी होता है, इस व्यवहारानुकूल प्रयोग से पुरुष में भी व्याघ्रत्व की सिद्धि हो जायगी । अतः पाकारम्भककाल में "पचति" इसतरह का व्यवहार होता है और तदनुकूल जो "पचति" यह प्रयोग होता है, उस प्रयोग मात्र से पाकारम्भकालघटित स्थूलकाल की सिद्धि नहीं हो सकती है, तब तो पाकारम्भसमय में "पचति" ऐसा प्रयोग न होगा । अतः प्रत्ययार्थ वर्त्तमानत्व और

किञ्चैवं "नष्टो घटो" "नश्यन् घटः" इत्यादिप्रयोगव्यवस्थायां तव का गतिः? नाशस्योक्तातीतत्वाऽयोगात् नष्टे [? नश्यत्य]पि घटे विद्यमाननाशप्रतियोगि-[कालवृत्ति]त्वाच्च ।।

अतीतत्व का धात्वर्थक्रिया में अन्वय मानना युक्त नहीं है, तब 'क्रियमाणं कृतमेव" इस प्रकार की जो "क्रियानय" की मान्यता है वह ठीक हो है ।

['नष्टो घटः' इत्यादि प्रयोग व्यवस्था की अनुपपत्ति]

[किञ्चैवं] प्रत्ययार्थ वर्त्तमानत्व और अतीतत्व का यदि धात्वर्थ में अन्वय माना जाय तो दूसरा भी दोष ग्रन्थकार बताते हैं कि "नष्टो घटः" "नश्यन् घटः" इत्यादि व्यवस्थित प्रयोग लोक में होते हैं, वे अब नहीं होंगे क्योंकि "नष्टो घटः" यहाँ निष्ठा-प्रत्ययार्थ अतीतत्व का अन्वय नशधात्वर्थ नाश में आप के अनुसार होना चाहिए परन्तु वह अतीतत्व नाश में घटता नहीं है । विद्यमाननाशप्रतियोगिकालवृत्तित्वरूप अतीतत्व को ही आप पूर्व में मान आए हैं ! "विद्यमाननाश" पद से नाशोत्पत्ति के पूर्वक्षणों का नाश ही गृहीत होगा क्योंकि वही घटनाशोत्पत्तिक्षण में विद्यमान हैं । उस नाश का प्रतियोगिकाल नाशोत्पत्तिकाल से पूर्व में रहनेवाला काल ही होगा, उस काल में घटनाश वृत्ति नहीं है, इसलिए उक्त अतीतत्व यहाँ घटमान नहीं होता है, अतः "नष्टो घटः" यह व्यवस्थित प्रयोग नहीं हो सकेगा । दूसरी बात यह है कि विद्यमानकालवृत्तित्वरूप वर्त-मानत्व आपने माना है, "नष्टो घटः" इस प्रयोग के आधारभूत घट का नाश वर्त्तमानकाल में वृत्ति है, अतः "नष्टो घटः" इस की जगह पर "नश्यन् "घटः" ऐसा प्रयोग होना चाहिए, जो किसी को इष्ट नहीं है ।

इसीतरह "नश्यन् घटः" यह व्यवस्थितप्रयोग जो लोग में होता है, वह भी आप के मत में नहीं होगा क्योंकि जिसकाल में घट का नाश हो रहा है, उस काल में भी नाश में विद्यमानध्वंसप्रतियोगिकालवृत्तित्वरूप अतीतत्व घट जाता है। "विद्यमाननाश" पद से घटनाशारम्भक्षणनाश तथा उस के द्वितीयक्षणनाश, तृतीयक्षणनाश का ग्रहण हो सकता है, "तत्प्रतियोगिकाल" पद से घटनाशारम्भक्षण और उस के द्वितीय, तृतीय क्षण का ग्रहण होगा, उन क्षणों में तो घटनाश वृत्ति ही होता है, इसलिए अतीतत्व के घट जाने से "नश्यन् घटः" की जगह पर "नष्टो घटः" इस प्रयोग का प्रसंग आता है । यदि कहें कि-उक्त घटनाश में विद्यमानकालवृत्तित्वरूप वर्तमानत्व भी रहता है, इसलिए "नश्यन् घटः" ऐसा प्रयोग होगा-परन्तु यह कहना भी ठीक नहीं है क्योंकि उक्त घटनाश में उपरोक्त वर्तमानत्व को लेकर जैसे "नश्यन् घटः" इस प्रयोग का उपपादन होता है, वैसे ही पूर्वोक्त अतीतत्व को लेकर उस प्रयोग की जगह पर "नष्टो घटः" इसप्रयोग का भी उपपादन हो सकता है, अतः "नष्टो घटः, नश्यन् घटः" इत्यादि प्रयोगों की व्यवस्था आप के मत में नहीं होगी यह तो निर्विवाद है ।

अथ तत्रातीतत्वं वर्तमानत्वं च कृत्प्रत्ययार्थोत्पत्तावेवान्वेतीति न दोष इति चेत् ? न, उक्तनियमभङ्गप्रसङ्गात्। 'धातुत्व–प्रत्ययत्वादेर्नानात्वात् तन्नियमस्य विशिष्य विश्रान्तिः'इति चेत् ? न, अन्ततो धातुपदवत्त्वादिनापि तदनुगमात्। अथान्यत्राप्येकपदोपात्तत्वप्रत्यासत्त्या कृत्यादिस्वार्थ एव स्वार्थकालान्वयो व्युत्पत्तिवैचित्र्यात् । न

[कृत्प्रत्ययार्थ उत्पत्ति में अतीतत्वादि को अन्वय में नियमभंग]

[अथ तत्र]=यदि यह कहा जाय कि–"निष्ठाप्रत्ययार्थ अतीतत्व का और आनश् प्रत्ययार्थ वर्त्तमानत्व का अन्वय धात्वर्थ में नहीं करेंगे किन्तु अतीतत्व का अन्वय निष्ठा-प्रत्यय का जो दूसरा अर्थ उत्पत्तिरूप है, उसी में करेंगे, इसीतरह आनशरूप कृत्प्रत्यय का जो द्वितीय अर्थ उत्पत्ति है उसी में वर्तमानत्व का अन्वय करेंगे, तब तो "नष्टो घटः" "नश्यन् घटः" इन प्रयोगों में अव्यवस्थारूप दोष नहीं होगा, क्योंकि "नष्टो घटः" यहाँ नाशरूप धात्वर्थ में उक्त अतीतत्व के न घटने पर भी नाश की उत्पत्ति में अतीतत्व घटेगा ही । यथा "नष्टो घटः" इस प्रयोग के आधारभूतकाल में वर्तमान जो नाश उस नाश की उत्पत्ति जिस क्षण में हुई है उस क्षण का नाश, उस का प्रतियोगि जो काल वह नाश की उत्पत्तिक्षणरूप काल, उस में वृत्ति नाशोत्पत्ति है, अतः अतीतउत्पत्तिमत्-धात्वर्थनाशप्रतियोगित्व घट में रह जाता है, इसलिए "नष्टो घटः" यह प्रयोग होने में कोई बाधा नहीं पहुँचती है और प्रयोगाधाररूप विद्यमानकालवृत्तिरूप वर्तमानत्व धात्वर्थ-नाश की उत्पत्ति में नहीं घटता है, इसलिए "नष्टो घट" इस प्रयोग की अव्यवस्था का भी कोई कारण नहीं रहता है ।

इसीतरह 'नश्यन् घटः' इस स्थल में नाश की उत्पत्ति जब तक नहीं हुई है, किंतु हो रही है, उसी दशा में ऐसा प्रयोग होता है, अतः प्रयोगाधारकालवृत्तित्वरूप वर्तमानत्व धात्वर्थनाश की उत्पत्ति में घटता है और विद्यमानध्वंसप्रतियोगिकालवृत्तित्वरूप अतीतत्व नहीं घटता है क्योंकि "नश्यन् घटः" इस प्रयोगाधारकाल में विद्यमान ध्वंस पद से यदि नाशारम्भक क्षण से पूर्ववृत्तिक्षणों का ध्वंस लिया जाय तो 'तत्प्रतियोगिकाल' पद से पूर्ववृत्तिक्षणों का ग्रहण होगा, उन क्षणों में धात्वर्थनाश की उत्पत्ति नहीं है । यदि नाशारम्भकक्षण का नाश अथवा तदुत्तरवर्ती द्वितीय, तृतीयादि क्षणों का नाश 'विद्य-मान ध्वंस' पद से गृहीत किया जाय तो तत्प्रतियोगिकाल पद से धात्वर्थ नाशारम्भ-क्षण या तदुत्तर द्वितीय, तृतीयादि क्षण गृहीत होंगे, उन में भी धात्वर्थनाश की उत्पत्ति वृत्ति नहीं है क्योंकि घट की उत्पत्ति की तरह धात्वर्थनाश की उत्पत्ति भी चरम क्षण में ही होती है । अतः "नश्यन् घट" इस प्रयोग में भी कोई बाधा नहीं होगी और अव्यवस्था का भी सम्भव नहीं रहता है ।"–

परन्तु यह कहना भी ठीक नहीं है क्योंकि कृत् प्रत्ययार्थ उत्पत्ति में कृत्प्रत्ययार्थ अतीतत्व और वर्त्तमानत्व का अन्वय मानने में 'धात्वर्थ में ही प्रत्ययार्थ का अन्वय होता है' ऐसा जो नियम पूर्व में आपने माना था उस के भङ्ग का प्रसंग आयेगा । कारण, धात्वर्थनाश में अतीतत्व और वर्त्तमानत्व का अन्वय न मानकर प्रत्ययार्थ उत्पत्ति में

च पचत्यपि भाविकृतिप्रागभावमाद्यकृतिध्वंसं चादाय पक्ष्यत्यपाक्षीदिति प्रयोग-प्रसङ्ग इति वाच्यम्, आद्यकृतिप्रागभावचरमकृतिध्वंसयोर्भविष्यदतीतप्रत्ययार्थत्वादिति चेत् ? न, जानातीत्यादौ धात्वर्थ एव प्रत्ययार्थकालान्वयदर्शनात् ।

ही उस का अन्वय स्वीकार कर के "नष्टो घटः" "नश्यन् घटः" इत्यादि प्रयोगों की अव्यवस्था को दूर करने का प्रयास आप कर रहे हैं। यदि यह कहा जाय कि-"सकल धातु में रहनेवाला धातुत्व एक धर्म नहीं हो सकता है क्योंकि क्रिया का वाचक जो होता है, वही धातुपद से व्यवहार का विषय बनता है, इसलिए क्रियावाचकत्वरूप ही धातुत्व विचार करने पर सिद्ध होता है। धातुगत क्रियावाचकता भी क्रियाविषयबोध-जनकत्वरूप है, उसका घटक जनकत्व कार्याव्यवहितपूर्ववर्तित्वरूप कारणतास्वरूप है। पूर्ववृत्तिता स्वरूपसम्बन्धरूप होती है, वह प्रत्येक धातु में भिन्न भिन्न होती है। अतः तत्स्वरूप धातुत्व भी भिन्न भिन्न ही मानना पडता है। एवम्, प्रत्ययत्व भी सकल प्रत्ययवृत्ति एक धर्म नहीं है, किन्तु तत्तत्प्रत्ययवृत्तिप्रत्ययत्व भिन्न-भिन्न है, क्योंकि "प्रकृत्युद्देशेन विधीयमानत्वं प्रत्ययत्वम्" यहा प्रत्यय का लक्षण माना गया है, इस से प्रकृतिनिष्ठ उद्देश्यतानिरूपित विधेयतारूप प्रत्ययत्व सिद्ध होता है। विधेयता विधेय के भेद से भिन्न-भिन्न मानी जाती है क्योंकि विचार करने पर विधेयता भी स्वरूपसम्बन्धात्मिका ही सिद्ध होती है, अतः 'प्रत्ययार्थ का धात्वर्थ में ही अन्वय होता है'-यह नियम सामान्य नियम नहीं बन सकता है। इस नियम का मूलभूत कार्यकारणभाव जो पूर्व में 'विशेष्यता सम्बन्ध से प्रत्ययजन्य कालप्रकारकबोध के प्रति विशेष्यतासम्बन्ध से धातु-जन्य उपस्थिति कारण है,' ऐसा बताया गया है वह भी सामान्य कार्यकारणभाव नहीं बन सकता है किन्तु, विशेषरूप से ही कार्यकारणभाव बनेगा, तन्मूलक वह नियम भी विशेष-रूप से बनेगा, तब तो कोई प्रत्ययार्थ ऐसा भी हो सकता है, जिस का अन्वय प्रत्य-यार्थ में होगा और उक्त नियम का भङ्ग प्रसङ्गरूप दोष भी नहीं आयेगा। सामान्य नियम होने पर ही उस नियम के भङ्ग का अवसर आता है।"-

परन्तु यह कहना भी ठीक नहीं है क्योंकि "घटः घटः" इत्यादि अनुगत प्रतीति के आधार पर सकल घटों का अनुगमक एकधर्म घटत्व जातिरूप माना जाता है। उसी तरह "धातुः धातुः" इत्यादि प्रतीति के आधार पर धातुत्व भी एकधर्म सकल धातुओं का अनुगमक सिद्ध हो सकता है। इसी तरह से "प्रत्ययः प्रत्ययः" इत्यादि प्रतीति के आधार पर प्रत्ययत्वरूप एकधर्म सकल प्रत्ययों का अनुगमक माना जा सकता है, वह धातुत्व और प्रत्ययत्व धर्म जातिरूप या अखण्डोपाधिरूप हो यह बात अलग है, परन्तु इस रीति से सकल धातुओं का अनुगमकत्व धातुत्व में और सकल प्रत्ययों का अनुगमकत्व प्रत्ययत्व में आवश्यक होगा। यदि प्रतीति को अनुगत न मानकर उस के आधार पर एक धातुत्व और एक प्रत्ययत्व की सिद्धि न माने तो भी पाणिन्यादि व्याकरणकर्ता के संकेत सम्बन्ध से धातुपदत्व रूप एक धातुत्व की सिद्धि अवश्य होगी, जिस से सकल धातुओं का अनुगम हो सकेगा। एवम् पाणिन्यादि के संकेत सम्बन्ध से प्रत्यय-पदत्वरूप एकप्रत्ययत्व धर्म की सिद्धि भी अवश्य होगी, जिस से सकल प्रत्ययों का अनु-

गम होगा । इस स्थिति में 'प्रत्ययार्थ का धात्वर्थ में ही अन्वय होता है' यह नियम भी सामान्यनियमस्वरूप हो सकेगा, क्योंकि उस के मूलभूत पूर्वोक्त कार्यकारण भाव भी अब सामान्य कार्यकारणभाव हो सकेगा। तब यदि कृत्प्रत्ययार्थ अतीतत्व-वर्तमानत्व का कृत्प्रत्यार्थ उत्पत्ति में अन्वय मान कर दोष निरास का प्रयास आप करेंगे, तो उक्तनियम का भङ्गप्रसङ्ग अवश्य आएगा ।

[एक पद से उपस्थापित दो अर्थों के अन्वय का समर्थन]

यहाँ यह आशंका उठ सकती है कि-कृति और काल ये दोनों एकपद से प्रतिपादित होते हैं, इसलिए इन दोनों में एकपदोपात्तत्व सम्बन्ध है । "एकपदोपात्तत्व" का अर्थ 'शक्तिज्ञान के सहकार से एकपदजन्योपस्थितिविषयत्व' ऐसा होता है । इस सम्बन्ध से ये दोनों अर्थ परस्पर सम्बन्धी माने जाते हैं। धात्वर्थ और प्रत्ययार्थ में ऐसा सम्बन्ध नहीं है, क्योंकि धात्वर्थ धातु पद से प्रतिपाद्य होता है और प्रत्ययार्थ प्रत्ययपद से प्रतिपाद्य होता है, इसलिए प्रत्ययार्थ का धात्वर्थ में अन्वय करना, इस की अपेक्षा से प्रत्ययार्थ का प्रत्ययार्थ में अन्वय करना यही उचित है । तब तो, 'विशेष्यता सम्बन्ध से प्रत्ययार्थकालप्रकारक बोध के प्रति विशेष्यता सम्बन्ध से प्रत्ययजन्य उपस्थिति कारण है,' ऐसा ही कर्यकारणभाव मानना योग्य होगा और इस कार्यकारणभाव के अनुसार-प्रत्ययार्थ काल का अन्वय प्रत्ययार्थकृति में ही होता है – यही नियम सभी धातुस्थल के लिए सिद्ध होगा क्योंकि कार्यकारणभावविज्ञानरूप व्युत्पत्ति में वैचित्र्य रहता ही है । इस नियम के अनुसार प्रत्ययार्थ अतीतत्व और वर्तमानत्व का प्रत्ययार्थ कृति में अन्वय करने से "नष्टो घटः" "नश्यन् घटः" इत्यादि प्रयोगों में अव्यवस्था भी नहीं रहती है और 'प्रत्ययार्थ का धात्वर्थ में ही अन्वय होता है' – इस नियम के भङ्ग का प्रसङ्ग नहीं आता है, क्योंकि इस नियम का स्वीकार ही नहीं करेंगे । तथा इस नियम के मूलभूत पूर्वोक्त कार्यकारणभाव का स्वीकार भी नहीं करेंगे ।–"एक पद से उपस्थापित अर्थद्वय का अन्वय यदि मानेंगे तो एक "हरि" पद से उपस्थापित इन्द्र और अश्व इन दोनों अर्थों में आधाराधेयभाव से अन्वय का प्रसंग आयेगा, इसलिए उक्त नियम को मानना ठीक नहीं है"-इसतरह की शंका तो नहीं करनी चाहिए, क्योंकि व्युत्पत्ति के भेद से कहीं कहीं पर एकपद से उपस्थाप्य अर्थद्वय का अन्वय भी देखने में आता है । जैसे="एव" पद से खण्डशक्ति द्वारा उपस्थापित अन्ययोग और व्यवच्छेद इन दोनों अर्थों में अन्वय देखने में आता है । तथा "नीलो घटः" इत्यादि स्थल में विशेषण पदोत्तर विभक्ति से खण्डशक्ति द्वारा उपस्थापित भेद और अभाव इन दोनों अर्थों में भी अन्वय माना जाता है, अतः व्युत्पत्तिभेद से प्रत्ययार्थ काल का प्रत्ययार्थकृति में अन्वय मानने में कोई क्षति नहीं है ।

यदि यह कहा जाय कि-सभी धातु के प्रयोगस्थल में कृति में ही प्रत्ययार्थ का अन्वय मनेंने, तो जब पाककर्ता पुरुष में पाकानुकूलकृति विद्यमान है उस समय उस पुरुष में भाविकृति का प्रागभाव भी रहता है, इसलिए "अयं पुरुषः पक्ष्यति" ऐसा प्रयोग हो जायगा और उसी समय में प्रथमकृति का नाश भी उस पुरुष में होता है, इसलिए

अस्तु वा तथा । तथापि कृत्प्रत्ययार्थोत्पत्तेः प्रातिपदिकार्थे घटे कथमन्वयोऽयोग्यत्वात् ? 'परम्परासम्बन्धेन तत्र तदन्वयोपपत्तिरि'ति चेत् ? न, विद्यमानघटे "न नष्टो घट" इति प्रयोगानापत्तेः, वृत्त्यनियामकसम्बन्धस्याभावप्रतियोगिता-

"अयं अपाक्षीत्" इसतरह के प्रयोग का भी प्रसङ्ग हो जायगा । जब कि उस स्थिति में तो "अयं पचति" ऐसा ही प्रयोग देखने में आता है ?"–परन्तु यह कहना ठीक नहीं है क्योंकि भविष्यत् अर्थ में विधीयमान प्रत्यय का कृतिप्रागभावमात्र अर्थ नहीं है किन्तु आद्यकृतिप्रागभाव अर्थ है । अतः भाविकृति के प्रागभाव को लेकर "पक्ष्यति" इसतरह के प्रयोग की आपत्ति देना योग्य नहीं है । कृति की वर्तमानतादशा में आद्यकृति का प्रागभाव तो रहता ही नहीं है, इसलिए "पक्ष्यति" इस प्रयोग का प्रसंग सम्भवित ही नहीं होता है । इसीतरह अतीतार्थक प्रत्यय का भी आद्यकृतिध्वंसमात्र अर्थ नहीं है, किन्तु चरमकृतिध्वंस भी उस का अर्थ है और वह पुरुष में रहता नहीं है, किन्तु चरम कृति का प्रागभाव ही रहता है, इसलिए उस काल में "अपाक्षीत्" इस प्रयोग का प्रसङ्ग देना भी उचित नहीं है । [यहाँ तक के ग्रन्थ से शंकाकार ने अपने पक्ष का समर्थन किया है कि प्रत्ययार्थ काल का प्रत्ययार्थकृति में ही अन्वय होता है, इस नियम के मान लेने पर "नष्टो घटः" "नश्यन् घटः" इत्यादि प्रयोगों की अव्यवस्था नहीं होती है ।]

समाधानवादी का कहना यह है कि "घटं जानाति" इत्यादि स्थल में "ति" प्रत्ययार्थ वर्तमानकाल का अन्वय "ज्ञा" धात्वर्थ ज्ञान में ही देखने में आता है, अतः "घटं जानाति चैत्रः" इत्यादिवाक्य से 'घटविषयक वर्तमानकालीन ज्ञानवान् चैत्र' का बोध होता है, इसलिए 'विशेष्यता सम्बन्ध से प्रत्ययार्थकालप्रकारक बोध के प्रति विशेष्यता-सम्बन्ध से प्रत्ययजन्य उपस्थिति कारण है' इसप्रकार के कार्यकारणभाव में व्यभिचार उपस्थित होता है । अतः ऐसा कार्यकरणभाव ही नहीं बन सकता है । तब एतत्कार्यकारण भावमूलक "एकपदोपात्तत्व प्रत्यासत्ति से प्रत्ययार्थकाल का प्रत्ययार्थकृति में ही अन्वय होता है"–ऐसा नियम मानना भी उचित नहीं है । तब तो "नष्टो घटः" "नश्यन् घटः", इत्यादि प्रयोगों की अव्यवस्था आप के मत में लगी रहती है ।

[कृत्प्रत्ययार्थ उत्पत्ति का प्रातिपदिकार्थ में अनन्वय दोष]

[अस्तु वा तथा] 'प्रत्ययार्थकाल का प्रत्ययार्थकृति में ही अन्वय होता है'-इस नियम में व्यभिचार यद्यपि जानाति इत्यादि स्थल में होता है इसलिए उस व्यभिचार को वारण करने के लिए ज्ञानार्थक धातु भिन्न धातुस्थल में ही यह नियम माना जाय, तो भी "नष्टो घटः" "नश्यन् घटः" इस प्रयोग की उपपत्ति नहीं होगी, क्योंकि प्रत्ययार्थकाल से अन्वित प्रत्ययार्थ उत्पत्ति का अन्वय नाश में ही होता है । तब उस उत्पत्ति का अन्वय प्रातिपदिकार्थ घट में नहीं होगा क्योंकि एकत्र विशेषणरूप से अन्वित पदार्थ का अन्यत्र विशेषणरूप से अन्वय नहीं माना गया है । धात्वर्थनाश में अन्वित होने के बाद प्रत्ययार्थ उत्पत्ति को प्रतिपादिकार्थघट में अन्वित होने की योग्यता ही नहीं रह जाती है । अतीतकालीन या वर्तमाकालीन उत्पत्ति का बोध जैसे नाश में होता है

नवच्छेदकत्वात्। 'उत्पत्तेर्धात्वर्थे तस्य च प्रातिपदिकार्थेऽन्वयान्न दोष' इति चेत् ? न, नामार्थधात्वर्थयोः साक्षाद्भेदसम्बधेनान्वयाऽयोगात्, अन्यथा "तण्डुलं पचती"त्यत्रापि कर्मत्वसंसर्गेण प्रातिपदिकार्थस्य धात्वर्थेऽन्वयप्रसङ्गात्।

उसी तरह प्रतिपदिकार्थ घट में भी होता है—यह अनुभव होता है, वह उत्पत्ति का घट में अन्वय माने बिना सम्भव नहीं है। इस स्थिति में "नष्टो घटः" "नश्यन् घटः" यह प्रयोग नहीं बनेगा, इसलिए यह दोष इस मत में लगा ही रहेगा।

यदि ऐसा कहें कि-'प्रत्ययार्थकालान्वित उत्पत्ति का आश्रयतासम्बन्ध से साक्षात् अन्वय तो नाश में होता है और घट में उत्पत्ति का अन्वय स्वाश्रयनाशप्रतियोगित्व रूप परम्परासम्बन्ध से मानेंगे, तब तो उक्त प्रयोग होने में कोई हर्ज नहीं, क्योंकि उत्पत्ति का आश्रय जो नाश, उस का प्रतियोगि तो घट होता ही है'-परन्तु यह कहना ठीक नहीं, क्योंकि ऐसा मानने पर घट की विद्यमानदशा में "घटो न नष्टः" ऐसा प्रयोग होता है, वह नहीं होगा क्योंकि "प्रतियोगिप्रतियोग्यभावान्वयौ तुल्ययोगक्षेमौ" इस न्याय से जिस स्थल में नञ् का सहोच्चार न रहने पर जिस पदार्थ का जिस पदार्थ में जिस सम्बन्ध से अन्वय होता है, उस स्थल में 'नञ्' का सहोच्चार होने पर, उस पदार्थ में "तत्सम्बन्धावच्छिन्न प्रतियोगिताक तत्पदार्थ" का अन्वय होता है। "नष्टो घट" इस स्थल में "नञ्" का सहोच्चार नहीं है और प्रत्ययार्थ उत्पत्ति का नामार्थ घट में स्वाश्रय-नाशप्रतियोगित्व सम्बन्ध से अन्वय अभिमत है। तब "घटो न नष्टः" इस स्थल में नञ् का सहोच्चार होने पर नामार्थघट में "स्वाश्रयनाशप्रतियोगित्वसम्बन्धावच्छिन्न प्रतियोगिताक उत्पत्त्यभाव" का अन्वय अभिमत होगा। परन्तु उक्त सम्बन्ध को वृत्तिता का अनियामक माना गया है। इसलिए उक्त सम्बन्ध प्रतियोगितावच्छेदक सम्बन्ध नहीं होगा क्योंकि वृत्तिनियामकसम्बन्ध जो स्वरूप, संयोग, समवाय आदि माने गए हैं, वे ही अभाव की प्रतियोगिता के अवच्छेदक सम्बन्ध माने गए हैं। अतः वृत्तिता के अनियामक स्वाश्रयनाशप्रतियोगित्वसम्बन्ध से अवच्छिन्न प्रतियोगिताक उत्पत्त्यभाव अप्रसिद्ध होनेसे उस का अन्वय घट में करना सम्भव नहीं होगा, फलतः उक्त प्रयोग की अनुपपत्ति होगी।

यदि ऐसा कहें कि-"प्रत्ययार्थ उत्पत्ति का धात्वर्थनाश में अन्वय करेंगे और नाश का अन्वय प्रतियोगिता सम्बन्ध से नामार्थ घट में करेंगे, इस रीति से "नञ्" का सहोच्चार न रहने पर "नष्टो घटः" इस स्थल में प्रतियोगिता सम्बन्ध से "अतीतकालीनोत्पत्त्याश्रय नाशवान् घटः" ऐसा बोध होगा तथा नञ् का सहोच्चार रहने पर "घटो न नष्टः" इस स्थल में प्रतियोगितासम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताक अतीतकालीनोत्पत्त्याश्रय नाशाभाववाला घट" ऐसा बोध करेंगे। यह अभाव अप्रसिद्ध भी नहीं है क्योंकि प्रतियोगिता स्वरूपसम्बन्धात्मक मानी गई है, इसीलिए प्रतियोगिता सम्बन्ध स्वरूपसम्बन्ध के जैसे वृत्तिनियामकसम्बन्ध ही है, इसलिए प्रतियोगितासम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताक तथाविध नाशाभाव का बोध विद्यमान घट में किया जा सकता है, अतः विद्यमानघट में "घटो न नष्टः" इसतरह के प्रयोग की अनुपपत्तिरूप दोष नहीं होगा"-परन्तु यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि नामार्थ और धात्वर्थ का साक्षात् भेद सम्बन्ध से अन्वय नहीं होता

अथ भेदेन निपातान्यनामार्थप्रकारकबोधे समानविशेष्यत्वप्रत्यासत्त्या निपात-प्रत्ययान्यतरजन्योपस्थितेर्हेतुत्वात् नामार्थप्रकारकधात्वर्थविशेष्यकबोधाऽसम्भवेऽपि धात्वर्थप्रकारकनामार्थविशेष्यकबोधः प्रकृतेऽनपाय एवेति चेत्? न, "चैत्रः पाक" इत्यादौ कर्तृत्वादिसंसर्गेण पाकादेश्चैत्रादावन्वयाऽबोधाय धात्वर्थप्रकारकबोधेऽपि निपातप्रत्ययान्यतरजन्योपस्थितेर्हेतुत्वाऽन्तरकल्पनावश्यकत्वात्।

है। प्रकृत में नामार्थ घट है और धात्वर्थ नाश है, उस धात्वर्थनाश का नामार्थ घट में प्रतियोगितारूप भेदसम्बन्ध से साक्षात् अन्वय नहीं हो सकता है। जैसे-नामार्थद्वय का साक्षात् भेदसम्बन्ध से अन्वय अव्युत्पन्न है, वैसे ही नामार्थ-धात्वर्थ का भी साक्षात् भेदसम्बन्ध से अन्वय अव्युत्पन्न माना गया है। तब "नञ्" का सहोच्चार रहने पर नाश का अन्वय जो घट में प्रतियोगितासम्बन्ध से करना चाहते हैं, वह भी नहीं होगा और नञ् का समभिव्याहार रहने पर प्रतियोगितासम्बन्धावच्छिन्न तथाविध नाशाभाव का घट में अन्वय मानकर विद्यमानघट में "घटो न नष्टः" इस प्रयोग की उपपत्ति करना चाहते हैं, वह भी नहीं होगी।

यदि उक्त व्युत्पत्ति का स्वीकार न कर के नामार्थघट में धात्वर्थ नाश का अन्वय करने का दुराग्रह करेंगे तो "तण्डुलं पचति" इस स्थल में भी कर्मतारूप भेदसम्बन्ध से नामार्थ तण्डुल का धात्वर्थ पाक में अन्वय का प्रसंग आयेगा। तब उक्तवाक्य से कर्मत्व सम्बन्ध से "तण्डुलविशिष्टपाकानुकूलकृतिवाला चैत्र" इसतरह के बोध का प्रसंग आयेगा, जो मान्य नहीं है। उक्त वाक्य से तो "तण्डुलवृत्तिकर्मता निरूपकपाकानुकूलकृतिवाला चैत्र" यही बोध सर्वमान्य है। अतः प्रत्ययार्थ काल का प्रत्ययार्थ उत्पत्ति में अन्वय मानना युक्त नहीं है, क्योंकि प्रातिपदिकार्थ घट में उत्पत्ति का अन्वय न हो सकेगा, जिस का होना अभीष्ट है॥

[नामार्थ प्रकारक धात्वर्थ विशेष्यक बोध की संभावना अशक्य]

[अथ भेदेन] यदि यह कहा जाय कि-"नामार्थ धात्वर्थ का साक्षात् भेदसम्बन्ध से अन्वय मानने पर "तण्डुलं पचति" इस स्थल में कर्मत्वसम्बन्ध से तण्डुलरूप नामार्थ का धात्वर्थ पाक में अन्वय का प्रसंग जो आपने दिया है, वह युक्त नहीं है। कारण, विशेष्यतासम्बंध से भेदसंसर्गक निपातान्यनामार्थप्रकारकबोध के प्रति विशेष्यता सम्बंध से निपात और नाम एतद् अन्यतरजन्य उपस्थिति कारण है। इसतरह का कार्य-कारणभाव होने पर "तण्डुलं पचति" इस स्थल में कर्मतासम्बन्ध से तण्डुल विशिष्ट पाक का बोध नहीं हो सकेगा, क्योंकि "तण्डुलविशिष्टः पाक" यह बोध तण्डुलरूप नामार्थप्रकारक कर्मत्वसंसर्गकधात्वर्थपाकविशेष्यक बोध है और यह बोध विशेष्यता सम्बन्ध से धात्वर्थ पाक में तभी उत्पन्न होगा यदि पाक में निपातपदजन्य उपस्थिति अथवा प्रत्ययजन्य उपस्थिति विशेष्यता सम्बन्ध से रहेगी, सो तो वहाँ रहती नहीं है, क्योंकि पाक की उपस्थिति "पच्" धातुजन्य ही होती है। अतः कारण के अभाव में उक्तबोधरूप कार्य का भी अभाव ही रहेगा। "नष्टो घटः" इसस्थल में "तथाविध नाशवान् घटः" ऐसा बोध होने में कोई बाधक नहीं होगा, क्योंकि वह बोध भेदसंसर्गक

स्यादेतद्—अत्र नशधातोर्नाशवति लक्षणयाऽभेदेनैवास्तु प्रातिपदिकार्थेन सममन्वयः । न च धात्वर्थस्याख्याताद्यर्थ एवान्वयनियमात् कथमेवमिति वाच्यम्, शक्त्यैव धात्वर्थप्रकारकबोधे आख्यातादिजन्योपस्थितेर्हेतुत्वात् । अत एव 'जानाती'-त्यादौ ज्ञाधातोर्ज्ञानवति लक्षणया प्रातिपदिकार्थेनान्वयसम्भवे आख्यातार्थेऽयोग्यत्वान्न

नामार्थ प्रकारक बोध नहीं है, किन्तु धात्वर्थप्रकारक नामार्थविशेष्यक बोध है, इसलिए उस बोध में निपातजन्य उपस्थिति अथवा प्रत्ययजन्य उपस्थिति कारण ही नहीं है तो उस उपस्थिति के अभाव में भी नाशरूपधात्वर्थप्रकारक घटविशेष्यक बोध होने में कोई हर्ज नहीं है ।"

परन्तु ऐसा कहना भी युक्त नहीं है, क्योंकि "चैत्रः पाक" इत्यादि स्थल में पाकादि का स्वकर्तृत्व सम्बन्ध से चैत्रादि में अन्वय कर के "पाकविशिष्टः चैत्रः" इत्याकारक भेदसंसर्गक पाकप्रकारक चैत्रविशेष्यक बोध का प्रसंग हो जायगा । वह न हो इसलिए विशेष्यता सम्बंध से धात्वर्थप्रकारक भेदसंसर्गक बोध के प्रति भी विशेष्यता सम्बंध से निपात और प्रत्यय एतद् अन्यतरजन्य उपस्थिति को कारण मानना आवश्यक होगा । ऐसा करने पर ही "चैत्रः पाक" इत्यादि स्थल में पाकादि का चैत्र में स्वकर्तृत्व सम्बंध से अन्वय बोध की आपत्ति दूर होगी, क्योंकि "पाकविशिष्ट चैत्र" यह बोध धात्वर्थ प्रकारक बोध है । इस बोध के प्रति निपातजन्य उपस्थिति अथवा प्रत्ययजन्य उपस्थिति कारण है । वैसी उपस्थिति चैत्र रूप नामार्थ में विशेष्यतासम्बन्ध से नहीं रहती है, किन्तु नामजन्य उपस्थिति विशेष्यता सम्बन्ध से चैत्र में रहती है । अतः कारण के अभाव में "चैत्रः पाक" इत्यादि स्थल में दोष न होगा । तथा, "नष्टो घटः" इस वाक्य से जो आप प्रतियोगितासंसर्गक अतीतकालीनोत्पत्त्याश्रयनाशप्रकारक घट-विशेष्यक बोध करना चाहते हैं, वह भी नहीं होगा, क्योंकि वह बोध भी धात्वर्थ प्रकारक बोध ही है, इसलिए उस बोध के प्रति भी निपातजन्य उपस्थिति अथवा प्रत्ययजन्य उपस्थिति कारण है । वैसी उपस्थिति तो चैत्ररूप नामार्थ में विशेष्यता संबंध से रहती नहीं है, अतः कारण के अभाव में उक्त बोधरूप कार्य का भी सम्भव नहीं होगा ।

[स्यादेतद्] यदि यह आशंका हो कि-"भेद संसर्गक धात्वर्थप्रकारक शाब्दबोध के प्रति निपात और प्रत्यय एतदन्यतरजन्य उपस्थिति समानविशेष्यता संबन्ध से कारण मानी जाती है, इसलिए "नष्टो घटः" इत्यादि स्थल में धात्वर्थ नाश का प्रतियोगिता सम्बन्ध से घटरूप नामार्थ में अन्वय भले ही न हो, तो भी "नश्" धातु की नाशवंत में लक्षणा करेंगे और नाशवन्त रूप धातु के लक्ष्यार्थ का अन्वय अभेद सम्बन्ध से घट में करेंगे । प्रतियोगिता सम्बन्ध से नाशविशिष्ट घट होता ही है, अतः नाशविशिष्ट का अभेद सम्बन्ध से घट में अन्वय करने में कोई बाधक भी दीखता नहीं है । इस तरह से "नष्टो घटः" इस प्रयोग की उपपत्ति हो सकती है ।

यदि बीच में यह कहा जाय कि-"तण्डुलं पचति चैत्रः" इत्यादि स्थल में धात्वर्थ पाक का आख्यातार्थ कृति में ही अन्वय होता है, क्योंकि विशेष्यता सम्बन्ध से धात्वर्थ प्रकारक बोध के प्रति आख्यातजन्य उपस्थिति विशेष्यता सम्बन्ध से कारण

भासत इति चिन्तामणिकृतोक्तं युक्तम् । अन्यथा निरूपितत्वसंसर्गेण ज्ञानप्रकारकाश्रयत्वविशेष्यकावान्तरशाब्दबोधे तद्धेतुताकल्पने गौरवात् । न च सामान्यतो हेतुत्वं कल्पमेवेति क्व गौरवमिति वाच्यम्, तथापि तत्तदाकांक्षाज्ञानादिहेतुताकल्पने गौरवादिति । मैवम्, तथा सति 'जानाती'त्यत्राख्यातार्थसङ्ख्याऽनन्वयप्रसङ्गात्, भावनान्वयिन्येवाख्यातार्थसंख्यान्वयात् ।

मानी गयी है । इसीलिए "तण्डुलं पचति" इत्यादि वाक्य से "तण्डुलकर्मक पाकानुकूलकृतिवाला चैत्र" इसतरह का बोध होता है । तब "घटो नष्टः" इस स्थल में "नश्" धातु का नाशवंत रूप जो लक्ष्यार्थ है, तत्प्रकारक अभेद संसर्गक घट विशेष्यक बोध कैसे होगा ? घट की उपस्थिति तो आख्यातजन्य नहीं होती है, किन्तु नामजन्य होती है, इसलिए कारण के अभाव में नाशवंतप्रकारक घटविशेष्यक बोधरूप कार्य भी नहीं होगा–"

परन्तु बीच में यह कहा हुआ ठीक नहीं है, क्योंकि शक्तिप्रयोज्यधातुजन्यउपस्थितिविषयधात्वर्थप्रकारक बोध के प्रति ही आख्यातजन्य उपस्थिति कारण बनती है । लक्षणाप्रयोज्य धातुजन्य उपस्थिति विषयधात्वर्थप्रकारक बोध के प्रति आख्यातजन्य उपस्थिति कारण ही नहीं है । तब तो नामजन्य उपस्थिति विषय घट में नाशवंतरूप "नश्" धातु के लक्ष्यार्थ का अन्वय अभेद सम्बन्ध से हो जायगा और "नष्टो घटः" इस वाक्य से अभेदसंसर्गक नाशवंतप्रकारक घट विशेष्यकबोध ही होगा । धातु के लक्ष्यार्थप्रकारक नामार्थ विशेष्यक बोध को चिन्तामणिकारने भी मान्य किया है, इसीलिए "जानाति" इत्यादि स्थल में "ज्ञा" धातु की ज्ञानवंत में लक्षणा कर के ज्ञानवंतरूप लक्ष्यार्थ का चैत्र आदिरूप नामार्थ में अन्वय हो सकता है । "जानाति" इत्यादि स्थल में आख्यातार्थ भासता ही नहीं है क्योंकि आख्यात का अर्थ जो कृति, उस में "ज्ञा" धातु का मुख्यार्थ जो ज्ञान उस का अनुकूलत्वसम्बन्ध से अन्वय सम्भव नहीं है, क्योंकि "ज्ञान से इच्छा उत्पन्न होती है और इच्छा से कृति उत्पन्न होती है" यह तार्किकों की प्रक्रिया है, इस के अनुसार ज्ञान तो इच्छा द्वारा कृति का जनक बनता है किन्तु कृति ज्ञान की जनिका नहीं बनती है । अतः ज्ञान का अनुकूलत्व सम्बन्ध से कृति में अन्वय हो, ऐसी योग्यता कृति में नहीं है, इसलिए "ज्ञानानुकूल कृतिवाला चैत्र" ऐसा बोध "चैत्रो जानाति" इस वाक्य से होता नहीं है । अतः "ज्ञा" धातु की ज्ञानवंत में लक्षणा कर के उस के लक्ष्यार्थ का चैत्र में अन्वय करना ही ठीक है ।

यदि ऐसा नहीं करे, किन्तु "जानाति" इत्यादि स्थल में "ज्ञा" धातु का अर्थ ज्ञान ही विवक्षित रखें और आख्यात की आश्रयत्व में लक्षणा करें और उस में निरूपितत्व सम्बन्ध से ज्ञान को विषय माने तो; निरूपितत्वसंसर्गक ज्ञानप्रकारक आश्रयत्वविशेष्यक, "निरूपितत्व सम्बन्ध से ज्ञानविशिष्ट आश्रयत्व" इसप्रकार का, अवान्तर शाब्दबोध मानना पडेगा और विशेष्यतासम्बन्ध से ज्ञानप्रकारक बोध के प्रति विशेष्यतासम्बन्ध से आख्यातजन्य आश्रयत्व की उपस्थिति को कारण मानना पडेगा और 'आश्रयत्व निरूपितत्वसम्बन्ध से ज्ञानवाला है'–इसतरह के योग्यताज्ञान को भी कारण मानना होगा । इस में गौरवरूप दोष उपस्थित होगा । "ज्ञा" धातु की ज्ञानवंत में लक्षणा कर के नामार्थ के

अथाख्यातार्थसङ्ख्यान्वये भावनाविशेष्यत्वं न तन्त्रम् किं तु प्रथमान्तपदोपस्थाप्यत्वमेवेति न दोष इति चेत् ? न, धात्वर्थप्रकारकबोधसामान्य एवाख्यातादिजन्यो-

साथ अभेदान्वयपक्ष में ज्ञानप्रकारक आश्रयत्वविशेष्यक अवान्तरबोध मानने की आवश्यकता नहीं रहती है क्योंकि आख्यातार्थ का भान ही नहीं होता है, तथा आख्यातजन्यउपस्थिति को कारण मानने की भी आवश्यकता नहीं होती है क्योंकि आख्यातविशेष्यक अवान्तरबोध भी नहीं होता है ।

यदि फिर से बीच में यह कहा जाय कि–"तण्डुलं पचति" इत्यादि स्थल में धात्वर्थ पाक प्रकारक आख्यातार्थकृतिविशेष्यक "अनुकूलत्व सम्बन्ध से पाकविशिष्टकृति" इत्याकारक बोध होता है, इसलिए धात्वर्थप्रकारकबोध के प्रति आख्यातजन्य उपस्थिति समानविशेष्यतासम्बन्ध से कारण है । इसतरह सामान्यरूप से कार्यकारणभाव तो माना हुआ ही है, तब गौरव की बात कहाँ रही ?" परन्तु बीच में यह कहा हुआ ठीक नहीं है क्योंकि सामान्यरूप से आख्यातजन्य उपस्थिति के कारण मान्य होने पर भी ज्ञानप्रकारक आश्रयत्वविशेष्यक बोध के प्रति "ज्ञा" धातु सहोच्चरित आख्यात सहोच्चाररूप आकांक्षाज्ञान को कारण मानना आवश्यक होगा, तथा 'आश्रयत्व निरूपितत्वसम्बन्ध से ज्ञानवान् है' इसतरह के योग्यताज्ञान को कारण मानना आवश्यक होगा, एवं "जानाति" पद का 'ज्ञानप्रकारक आश्रयत्वविशेष्यक बोधजननेच्छा से वक्ता ने उच्चारण किया है'–इसतरह के तात्पर्यज्ञान को भी कारण मानना होगा, इस से गौरव रहेगा ही । अतः लक्षणा पक्ष ही युक्त है,–यह आशंका करनेवाले का आशय है ।

[मैवम्] मैवं पद से उक्त आशंका का निषेध विवक्षित है कि–इसतरह का लक्षणापक्ष युक्त नहीं है, क्योंकि "जानाति" इस स्थल में आख्यात का अर्थ जो आश्रयता, उस का भान ही नहीं होगा तो आख्यातार्थ का अन्वय प्रथमान्तार्थ चैत्रादि में नहीं होगा, तब आख्यातार्थ संख्या का भी प्रथमान्तार्थ में अन्वय न होने का प्रसंग आयेगा, क्योंकि आख्यात का मुख्य अर्थ भावना और लक्ष्यार्थ आश्रयता आदि का अन्वय जिस में होता है उसी में आख्यातार्थ संख्या का भी अन्वय होता है । इसलिए "चैत्रः पचति" इत्यादि स्थल में "एकत्वविशिष्ट चैत्र पाकानुकूलकृतिवाला है" ऐसा बोध होता है । "जानाति" यहाँ पर तो लक्षणापक्ष में आख्यातार्थ का भान ही नहीं होता है, तब तो अन्वयी ही कोई नहीं है इसलिए आख्यातार्थ संख्या का अन्वय कहीं भी नहीं हो पायेगा । निष्कर्षः-लक्षणापक्ष युक्त नहीं है ।

[अथाख्यातार्थ] यदि यह शंका की जाय कि–"आख्यातार्थसंख्या के अन्वय में भावनाविशेष्यत्व अर्थात् भावनान्वयित्व को प्रयोजक नहीं मानते है किन्तु प्रथमान्तपदजन्यबोधविषयत्व को ही प्रयोजक मानते हैं । तब तो आख्यातार्थ भावना का अन्वय जहाँ हो, उसी में आख्यातार्थ संख्या का अन्वय होता है–यह नियम नहीं रहेगा किन्तु प्रथमान्तपद से जिस की उपस्थिति हो उसी में आख्यातार्थभावना का अन्वय हो, ऐसा ही नियम रहेगा । इस नियम के अनुसार "जानाति चैत्रः" इत्यादि स्थल में आख्यातार्थसंख्या का चैत्र में अन्वय हो जायगा क्योंकि "चैत्रः" इस प्रथमान्तपद से चैत्र की उप-

पस्थितेर्हेतुत्वाच्छक्येतिप्रवेशे गौरवात्, 'प्रजयती'त्यादावनन्वयप्रसङ्गाच्च । 'पाकोऽयं' इत्यादौ तु "स्तोकं पचति" "स्तोकः पाक" इति प्रयोगयोर्विशेषाय घटादीनां धात्वर्थतावच्छेदकविशिष्टे शक्तिस्वीकारान्न दोष इति दिक् ॥

स्थिति होती है और "ज्ञा" धातु के लक्ष्यार्थ ज्ञानवंत का भी अभेदसम्भन्ध से चैत्र में ही अन्वय होगा, तब अनन्वयप्रसंगरूप जो आपने दोष दिया है, उस का सम्भव नहीं रहेगा ?" इस शंका का समाधान यह है कि आख्यातार्थसंख्या के अन्वय में प्रथमान्तपदोपस्थाप्य के अनन्वय प्रसंगरूप दोष का वारण यद्यपि हो सकता है, तो भी लक्षणापक्ष में ज्ञानवंतरूप लक्ष्यार्थ का अन्वय अभेदसम्बन्ध से प्रथमान्तपदोपस्थाप्य चैत्र में नहीं हो सकता है, क्योंकि धात्वर्थप्रकारकबोधत्वावच्छिन्न के प्रति समानविशेष्यतासम्बन्ध से आख्यातजन्य उपस्थिति कारण है-ऐसा ही सामान्यतः कार्यकारणभाव मानना उचित है ।-"शक्तिप्रयोज्य धातुजन्य उपस्थिति विषयधात्वर्थप्रकारकबोध के प्रति समानविशेष्यतासम्बन्ध से आख्यातजन्य उपस्थिति कारण है"-यह कार्यकारणभाव योग्य नहीं है क्योंकि शक्तिप्रयोज्यत्व का कार्यतावच्छेदककोटी में प्रवेश होने से गौरवरूप दोष सहज है । इस परिस्थिति में ज्ञानवंतरूप ज्ञा धातु के लक्ष्यार्थ का चैत्रादि में अभेदसम्बन्ध से अन्वय सम्भव नहीं रहता है, क्योंकि चैत्रादि की उपस्थिति आख्यातजन्य नहीं होती है किन्तु प्रथमान्तपदजन्य होती है, इसलिए लक्षणापक्ष युक्त नहीं है । इसीतरह "नष्टो घटः" यहाँ पर भी "नश्" धातु की नाशवंत में लक्षणा कर के उस लक्ष्यार्थ का घटरूपप्रथमान्तार्थ में अभेद सम्बन्ध से अन्वय नहीं हो सकता है क्योंकि घट की उपस्थिति आख्यातजन्य नहीं होती है। मूलग्रन्थ में आख्यातजन्य उपस्थिति के स्थान में "आख्यातादिजन्योपस्थिति" ऐसा पाठ है । इस पाठ में आदि पद के प्रयोग का तात्पर्य यह है कि "विशेष्यतासम्बन्ध से धात्वर्थप्रकारकबोध के प्रति विशेष्यतासम्बन्ध से कृत्प्रत्यजन्योपस्थिति कारण है" ऐसा भी कार्यकारणभाव मानना आवश्यक है । इसीलिए "पाचकः चैत्रः" इत्यादि स्थल में "पच्" धात्वर्थपाकप्रकारक कर्तृविशेष्यकबोध होता है, उस कर्ता की उपस्थिति आख्यातजन्य न होने पर भी 'अक' इस कृत्प्रत्यय से जन्य तो होती ही है । अतः उक्तवाक्य से "पाककर्त्ता चैत्र" या "पाकानुकूल कृतिवाला चैत्र" ऐसा बोध होता है ।

यदि ऐसा कहा जाय कि-"उक्त कार्यकारण भाव में शक्तिप्रयोज्यत्व का कार्यतावच्छेदककोटि में प्रवेश मानने पर गौरव तो होता है परन्तु वह गौरव दोषरूप नहीं है क्योंकि वह फलमुख गौरव है क्योंकि उस का निवेश रहने पर "नष्टो घटः" इस स्थल में नाशवंतरूप "नश् धातु के लक्ष्यार्थ" का अभेद सम्बन्ध से घटरूप नामार्थ में अन्वय होने से उक्तवाक्य की उपपत्ति होती है"-परन्तु यह कहना ठीक नहीं है क्योंकि इसरीति से "नष्टो घटः" इस वाक्य की उपपत्ति करने पर भी "प्रजयति चैत्र" इत्यादि वाक्य की उपपत्ति नहीं होगी क्योंकि यहाँ भी आप को "जि" धातु की जयवंतरूप अर्थ में लक्षणा करनी होगी, उस लक्ष्यार्थ के एकदेश जयरूप अर्थ में "प्र"शब्दार्थ प्रकर्ष का अन्वय नहीं होगा क्योंकि एक देश में अन्वय करना यह "पदार्थ का पदार्थ के साथ अन्वय होता है, पदार्थैकदेश के साथ नहीं"-इस नियम के विरुद्ध होगा, तब तो प्रकर्ष

विशिष्टज्ञयवंत से अभिन्न चैत्र" ऐसा बोध जो लक्षणापक्ष में उक्तवाक्य से अभीष्ट है वह नहीं हो सकेगा ।

यहाँ लक्षणावादी यह शंका करे कि-"धात्वर्थप्रकारकबोध सामान्य के प्रति आख्याता दिजन्य उपस्थिति को समानविशेष्यतासम्बन्ध से कारण जो आपने माना है वह ठीक नहीं है, क्योंकि "पाकोऽयम्" इत्यादिवाक्य से धात्वर्थपाकप्रकारक इदंपदार्थ विशेष्यक बोध उभयमत से सिद्ध है वह न होगा, क्योंकि विशेष्यभूत इदं पदार्थ की उपस्थिति आख्यातादिप्रत्ययजन्य नहीं होती है किन्तु इदंरूपनामजन्य होती है, ऐसी स्थिति में आख्यातादिजन्यउपस्थितिरूप कारण के अभाव में पाकप्रकारकबोधरूप कार्य भी नहीं होगा ।"-इस शंका का समाधान ग्रन्थकार इस रूप से देते हैं कि "स्तोकं पचति" और "स्तोकः पाकः" ये दो प्रकार के प्रयोग होते हैं, इन में विशेष यही है कि प्रथमप्रयोग में "स्तोक" पद को द्वितीयाएकवचन अम् विभक्ति लगती है, क्योंकि "क्रियाविशेषणानां कर्मत्वं, एकत्वञ्च" इस नियम के अनुसार "स्तोक" पदार्थ में कर्मत्व और एकत्व का विधान होता है, तथा "स्तोकः पाकः" इस प्रयोग में "स्तोक" पदार्थ पाक का विशेषण होते हुए भी कर्मत्व को प्राप्त नहीं करता है, इसलिए प्रथमा-एकवचन विभक्ति ही "स्तोक" पद के बाद में लगती है । इसीतरह "स्तोकौ पाकौ" "स्तोकाः पाकाः" इत्यादि प्रयोगों में भी विशेष्य के समान ही वचन और विभक्ति स्तोक पद के बाद में लगती है । इस विशेषता में कारण क्या है ? यह प्रश्न यहाँ ऊठता है । उचित तो यही है कि दोनों प्रकार के प्रयोग में 'स्तोक" पदार्थ जब धात्वर्थ पाक का विशेषण हैं तब उक्तनियम के अनुसार "स्तोक" पद का प्रयोग द्वितीया के एकवचन में ही होना चाहिए, प्रथमान्त का प्रयोग तो उक्तनियम के विरुद्ध हा है । ये दोनों प्रकार के प्रयोग सर्वमान्य होते हैं, अतः इस की उपपत्ति इसतरह की जाती है कि प्रथमप्रयोग में "स्तोक" पदार्थ "पच्" धात्वर्थ पाक का विशेषण है, इसलिए उक्तनियम के अनुसार द्वितीयान्त प्रयोग ही युक्त है । द्वितीय प्रयोग में "स्तोक" पदार्थ पच् धात्वर्थ पाक का विशेषण नहीं है किन्तु पच् धातु के बाद जो "घञ्" प्रत्यय लगता है उस की शक्ति पाकत्वविशिष्ट पाक में मानते हैं । पच् धात्वर्थपाक का घञ् प्रत्ययार्थ पाक में अभेद-सम्बन्ध से अन्वय होता है । यहाँ यह ख्याल रखना चाहिए कि पच धात्वर्थ पाक साध्य-क्रिया है और घञ् प्रत्ययार्थ पाक सिद्ध क्रिया है क्योंकि "कृदभिहितोभावः द्रव्यवत् प्रकाशते" इस नियम के अनुसार घञ् रूप कृत्प्रत्यय से उक्त पाक, द्रव्य के जैसे सिद्धरूप से प्रकाशित होता है । "स्तोक" पदार्थ का धात्वर्थपाकविशिष्टघञर्थपाक में ही अभेदान्वय होता है, इसलिए द्वितीय प्रयोग में "स्तोक" पदार्थ धात्वर्थ का विशेषण नहीं बनता है । अतः उक्त नियमानुसार "स्तोक" पद के बाद द्वितीया विभक्ति नहीं आती है किन्तु विशेष्य के समान प्रथमा विभक्ति ही आती है । इसतरह इन दोनों प्रयोगों में विशेषता सिद्ध होती है । इसी रीति से "पाकोऽयम्" इस प्रयोग में भी पच् धातु के बाद जो घञ् प्रत्यय लगता है, उसी की शक्ति पाकत्वविशिष्टपाक में मानी गई है और वही घञ् प्रत्ययार्थ इदं पदार्थ के विशेषणरूप से भासित होता है, अतः "पाकोऽयम्" इत्यादि वाक्यजन्यबोध धात्वर्थप्रकारकबोध ही नहीं है, किन्तु घञ् प्रत्ययार्थपाकप्रकारक

अथ ज्ञातो घट इत्यत्र विषयस्येव नष्टो घट इत्यत्र प्रतियोगिनोऽपि प्रत्ययविशेषार्थत्वान्नान्वयानुपपत्तिरिति चेत् ? तथापि नाशोत्पत्तिकालेऽपि नष्टत्वव्यवहारात् क्रियाकालेऽपि निष्ठार्थताऽविरोधात् क्रियमाणं कृतमित्यन्वयोपपत्तेः पक्व इत्यादाविव सर्वत्र कालवृत्तितावि शेषरूपसिद्धत्वस्य निष्ठार्थत्वात्, तस्य चाद्यसमयावच्छेदेन साध्यत्वेन सममविरोधात्, सिद्धत्वविशिष्टसाध्यताया वर्तमानार्थत्वात् । "प्रारब्धोऽपरिसमाप्तश्च वर्तमान" इति हि वैयाकरणाः । चिरनष्टे 'इदानीं नष्ट' इति, चिरोत्पन्ने चेदानीमुत्पन्न इति च प्रतीतिः समभिव्याहारविशेषादेतत्कालावच्छिन्न-

---

बोध है। इस बोध के प्रति आख्यातादिजन्य उपस्थिति कारण भी नहीं है इसलिए "इदं" पदार्थ की उपस्थिति आख्यातजन्य न होने पर भी "पाकोऽयम्" ऐसा प्रयोग और इस वाक्य से होनेवाला जो पाकप्रकारक इदमर्थविशेष्यकबोध इन दोनों में किसी की अनुपपत्ति का अवसर नहीं आता है, अतः लक्षणापक्ष ठीक नहीं है।

[अथ ज्ञातो] यदि कहा जाय कि–"धातूपस्थाप्य अर्थप्रकारक शाब्दबोध सामान्य के प्रति समानविशेष्यता सम्बन्ध से आख्यातादि प्रत्ययजन्य उपस्थिति को कारण मानने पर भी जैसे–"ज्ञातो घटः" इस स्थल में "ज्ञा" धात्वर्थ ज्ञान का "त" प्रत्ययार्थ विषय में स्वनिरूपित विषयतासम्बन्ध से अन्वय होता है और विषयरूप प्रत्ययार्थ का घट में अभेदसम्बन्ध से अन्वय होता है, वैसे ही 'नष्टो घट" यहाँ पर भी "नश्" धात्वर्थ नाश का "त" प्रत्ययार्थप्रतियोगि में स्वनिरूपितप्रतियोगितासम्बन्ध से अन्वय होगा और प्रत्ययार्थप्रतियोगि का अभेदसम्बन्ध से नामार्थघट में अन्वय होगा। इस में कोई बाधक नहीं है, क्योंकि उक्त कार्यकारणभाव में धातूपस्थाप्य अर्थप्रकारक शाब्दबोधत्व ही कार्यतावच्छेदक धर्म है, वह नाशप्रतियोगि प्रकारक शाब्दबोध जो "नष्टो घटः" इस वाक्य से संभाव्य है, उस में नहीं रहता है। अतः घट की उपस्थिति नामजन्य होने पर भी उस में प्रत्ययार्थ का अन्वय होगा, इस से 'नाशप्रतियोगि–अभिन्नो घटः' ऐसा शाब्दबोध "नष्टो घटः" इस वाक्य से होने में कोई अनुपपत्ति नहीं होगी ?"–तो इस का समाधान यह है कि जैसे–घटनाश के उत्पत्तिकाल में भी घट में "घटो नष्टः" यह व्यवहार होता है, उसीतरह घटक्रियाकाल में भी निष्ठाप्रत्ययार्थ जो सिद्धत्व उस का विरोध नहीं रहता है, अतः "क्रियमाणं कृतम्" इस स्थल में क्रियमाण में कृतत्व का अन्वय होने में कोई बाधक नहीं रहता है। "पक्वः तण्डुलः" यहाँ पर पच् धातु के बाद "त" प्रत्ययरूप निष्ठा का अर्थ सिद्धत्व माना गया है, वह सिद्धत्व विचार करने पर कालवृत्तितावि शेषरूप ही निश्चित होता है। जिस समय में कुछ अंश में पाक सिद्ध होता है, उस समय में पाक में साध्यता भी रहती है। 'क्रियामाण' यहाँ 'आन' प्रत्यय वर्त्तमान अर्थ में आता है, अतः उस का अर्थ वर्त्तमानत्व होता है, वह वर्त्तमानत्व सिद्धत्व विशिष्ट साध्यतारूप ही है। एतादृश साध्यतारूप वर्तमानत्व का उक्त सिद्धत्व के साथ विरोध नहीं होता है, इसीलिए 'क्रियमाण कृत ही है' इसतरह की निश्चयनय की मान्यता युक्त है। सिद्धत्वविशिष्टसाध्यता वर्तमानप्रत्यय का अर्थ होता है इस में वैयाकरणों की

साध्यत्वविशिष्टसिद्धत्वोपस्थित्यैव न भवति । इत्थमेव 'क्रियमाणं कृतमेव कृतं च क्रियमाणत्वेन भजनीयमि'ति सिद्धान्तः सङ्गच्छते । सिद्धत्वविशिष्टसाध्यतायाः सिद्धत्वनियतत्वात्, शुद्धसिद्धतायाश्च विशिष्टसाध्यताऽनियतत्वात् । अस्तु वा विपरिणामस्वरूपनिष्पत्त्यादिरूपाननुगतैव निष्ठा, समभिव्याहारविशेषादेव बोधविशेषोपपत्तेः । परमुक्तयुक्तेः क्रियाकालो निष्ठाकालं न विरुणद्धीति गम्भीरं नयमतं कियदिह विविच्यते ? इति ।

भी सम्मति है, क्योंकि जिस क्रिया का प्रारम्भ हो चुका हो और परिसमाप्ति न हुई हो, उस क्रिया में वर्तमानत्व को वैयाकरण लोग भी मानते हैं और तथाविध क्रियाश्रय घटादि वस्तु में भी वे लोग वर्तमानत्व मानते हैं क्योंकि वे लोग "प्रारब्धापरिसमाप्तक्रियाश्रयत्वं वर्तमानत्वम्" ऐसा घटादि वस्तुगत वर्तमानत्व का लक्षण करते हैं । क्रियमाण घटादि में ऐसा वर्तमानत्व ही रहता है और अंशतः कृतत्व भी रहता ही है । अतः 'क्रियमाण कृत ही है,' इसतरह की निश्चयनय की मान्यता में वैयाकरणों की सम्मति भी सिद्ध होती है । यदि यह कहा जाय कि-'निष्ठाप्रत्ययार्थ सिद्धत्व और वर्तमानत्वप्रत्ययार्थ साध्यत्व का परस्पर विरोध न हो तो, चिरनष्ट घटादि में "अभी नष्ट हुआ है" यह बुद्धि होनी चाहिए और चिर उत्पन्न घटादि में "अभी उत्पन्न हुआ है" इसतरह की बुद्धि होनी चाहिए । किंतु ऐसी प्रतीति तो होती नहीं है इसलिए सिद्धत्व और साध्यत्व का विरोध होता है, ऐसा फलित होता है । तब "क्रियमाण कृत ही है" यह निश्चयनय की मान्यता संगत नहीं है"-तो यह कहना ठीक नहीं है क्योंकि उक्तबुद्धि के न होने में सिद्धत्व और साध्यत्व का परस्पर विरोध प्रयोजक नहीं है किन्तु "इदानीं नष्टः" इस स्थल में "इदानीं" पद और "नष्ट" पद का पूर्वापरभाव से उच्चारण रूप समभिव्याहारविशेष से एतत्कालावच्छेदेन साध्यत्वविशिष्ट सिद्धत्व की उपस्थिति हो जाती है । एतत्कालावच्छेदेन साध्यता चिरनष्ट घट में तो नहीं रहती है, इसीलिए चिरनष्ट घट में 'अभी नष्ट हुआ है' यह बुद्धि नहीं होती है । एवं "इदानीमुत्पन्नः" इस स्थल में भी "इदानीं" पद और "उत्पन्न" पद इन दोनों का पूर्वापरभाव से उच्चारणरूप समभिव्याहार तो है ही, तद्वशात् एतत्कालावच्छेदेन साध्यत्वविशिष्ट सिद्धत्व की उपस्थिति हो जाती है । एतत्काल में चिरोत्पन्न घट में सिद्धत्व होने पर भी साध्यत्व तो नहीं रहता है, अतः चिर उत्पन्न घट में "अभी उत्पन्न हुआ है" यह बुद्धि नहीं होती है । साध्यत्व और सिद्धत्व का तो विरोध रहता ही है, वही उक्त प्रतीतियों में बाधक बन जाता है ।

[इत्थमेव 'क्रियमाणं] सिद्धत्वरूप निष्ठाप्रत्ययार्थ और सिद्धत्वविशिष्टसाध्यतारूप वर्त्तमान प्रत्ययार्थ का परस्पर विरोध न होने के कारण ही क्रियमाण कृत ही है और कृत का क्रियमाणत्व तथा उपरतक्रियत्व रूप से भजना=विभाग करना चाहिए, ऐसा सिद्धान्त "विशेषावश्यक भाष्य" की २३२० संख्यक गाथा में जो किया है वह संगत होता है । वह गाथा है-

तेणेह कज्जमाणं नियमेण कयं, कयं तु भयणिज्जं
किंचिदिह कज्जमाणं उवरयकिरियं च हुज्जाहि" ॥ २३२० ॥

[तेनेह क्रियमाणं नियमेन कृतं, कृतं तु भजनीयम्। किञ्चिदिह क्रियमाणमनुपरतक्रियं च भवेत्"] इस गाथा का अर्थ यह है कि जो क्रियमाण है, वह तो नियम से कृत ही कहा जाता है और जो कृत है वह दो प्रकार से है–क्रियमाणकृत और उपरतक्रियकृत। जिस काल में घटादि क्रिया की प्रवृत्ति होती है, उस काल में होनेवाला कृत क्रियमाणकृत है, क्योंकि घटादि घटक्रियाकाल में कृत है और कुछ अंश में क्रियमाण रहता है, इसलिए उस दशा में घट क्रियमाणकृत कहा जाता है। जिस काल में क्रिया की परिसमाप्ति हो जाती है, उस काल में घटादि कृत ही है क्योंकि चक्र से भी उतार लिया गया है और पाक से भी उतार लिया गया है, इसलिए कोई क्रिया जिस से घट बनता है, अब बाकी नहीं रह गयी है, किन्तु सभी क्रिया उपरत हो गयी है, उस काल में घटादि कार्य में शुद्ध कृतत्व है, क्रियमाणत्व उस में नहीं है। इस सिद्धान्त की संगति के लिए निश्चयवादी एक नियम बताते हैं कि–"सिद्धत्वविशिष्ट साध्यतारूप वर्तमानप्रत्ययार्थ जहाँ जहाँ रहता है, वहाँ वहाँ सिद्धत्व रहता ही है"। इस व्याप्ति से क्रियमाण कृत ही है, यह सिद्धान्त संगत होता है। जैसे–पाकभाजन में जल संयुक्त तण्डुल हो, वहाँ अधःसन्तापन करने से तण्डुल कुछ अंश में सिद्ध हो गया हो और कुछ अंश में सिद्ध होना बाकी है परन्तु पाचन क्रिया चलती है तो उस तण्डुल में सिद्धत्वविशिष्ट साध्यता रहती है और वहाँ आंशिक सिद्धत्व तो रहता है, इसलिए यह व्याप्ति वहाँ घटती है। इस दृष्टान्त से क्रियमाणकृत यह विभाग निश्चित होता है। जब तण्डुल पक्व जाने के बाद नीचे उतार लिया जाता है, उस समय उस तण्डुल में शुद्ध सिद्धता ही रहती है अर्थात् साध्यता से विरहित सिद्धता रहती है। जहाँ जहाँ शुद्ध सिद्धता रहती है वहाँ वहाँ सिद्धत्वविशिष्टसाध्यता रहती हो ऐसी व्याप्ति नहीं है, इसलिए चूल्हे से नीचे उतारे हुए तण्डुल में शुद्ध सिद्धत्व रहता है, यही "उपरतक्रिय कृत" कहा जाता है, जो कृत का दूसरा विभाग है। प्रथम विभाग में आंशिक कृतत्व रहता है और द्वितीय विभाग में सर्वथा कृतत्व रहता है – यही कृत की भजना का मूल है।

यदि यह आशंका की जाय कि–क्रियमाण कृत ही है, इस अपनी मान्यता की सिद्धि के लिए निश्चयनवादी ने जो "जहाँ जहाँ सिद्धत्वविशिष्ट साध्यता रहती है, वहाँ वहाँ सिद्धत्व रहता है" ऐसी व्याप्ति बतायी है वह ठीक नहीं है। सकल सिद्धवृत्ति निष्ठाप्रत्ययार्थ सिद्धत्व यदि एक होता, तब तो, सिद्धत्वविशिष्टसाध्यता का व्यापकत्व सिद्धत्व में आता और यह व्याप्ति भी बनती, परन्तु सिद्धत्व कहीं पर विपरिणामरूप होता है, जैसे दहीं में दूध का विपरिणामरूप सिद्धत्व रहता है। कहीं पर स्वरूपनिष्पत्ति रूप सिद्धत्व होता है, जैसे–"दण्ड-चक्रादि कारण समुदाय से घटस्वरूप की निष्पत्ति होती है, इसलिए घटपटादि में स्वरूपनिष्पत्तिरूप सिद्धि रहती है। कहीं पर विक्लित्तिरूप सिद्धि रहती है, जैसे–काष्ठ से बना हुआ जो स्तम्भ होता है, वह काष्ठ का ही विकार है, इसलिए उस में विक्लित्तिरूप सिद्धि रहती है। इसीतरह कहीं उपचयरूप, कहीं अपचयरूप भी सिद्धत्व होता है, ऐसे विविध सिद्धत्व का बोध तत्तत्समभिव्याहारविशेष से हो होता है। जैसे–दूध दहींरूप में परिणत हो गया, इस स्थल में दूध पद, दहींपद, परिणत पद–इन तीनों का पूर्वापरभावरूप आकांक्षा से विपरिणामरूप सिद्धत्व की प्रतीति

सत्यम्, निश्चयत इत्थमेव । [? न तु] तत्त्वव्यवस्थायामपि, व्यवहारतोऽकुर्वतोऽपि नियतपूर्ववर्तिनः कारणत्वाभ्युपगमात्, अन्यथा पूर्वं कुर्वद्रूपत्वाऽनिश्चये प्रवृत्त्यनुपपत्तिप्रसङ्गात् । किञ्चेदं कुर्वद्रूपत्वमपि सहकारिसम्पत्तावेव नान्यथेत्यवस्थितकारणादेव सहकारिचक्रानुप्रवेशात् कार्योपपत्तौ किं कुर्वदकुर्वतोर्भेदाभ्युपगमकष्टेन ।

हो जाती है । 'घट को कुम्भकार ने निष्पन्न कर दिया, ऐसे स्थल में घट, कुम्भकार, निष्पन्न इन शब्दों के समभिव्याहार से स्वरूपनिष्पत्तिरूप सिद्धत्व का बोध हो जाता है, इसीतरह अन्य अन्य स्वरूप सिद्धत्व का बोध अन्य अन्य समभिव्यहार से हो जायेगा, इसीलिए-अननुगत निष्ठाप्रत्ययार्थ सिद्धत्व मानने पर इन का बोध कैसे होगा ?- इसतरह की शंका को भी अवसर नहीं आता है । तब तो उक्त व्याप्ति नहीं बनेगी तो इस स्थल में क्रियमाण कृत ही है, इस तरह की निश्चय नय की मान्यता भी कैसे संगत होगी ?

इस आशंका का समाधान अस्तु वा. इत्यादि से करते हैं कि निष्ठा प्रत्ययार्थ सिद्धत्व अनेकरूप भले हो, तो भी घटादिवस्तु का क्रियाकाल, निष्ठाकाल का विरोध नहीं करता है । इसलिए घटादि के क्रियाकाल में भी अंशतः निष्ठाकाल अर्थात् सिद्धत्व घटादि में रह सकता है और सिद्धत्वविशिष्ट साध्यतारूप वर्तमानप्रत्ययार्थ भी रह सकता है क्योंकि इन का परस्पर विरोध नहीं है । अतः 'क्रियमाण कृत ही है' इस मान्यता में कोई बाधा न होने से यह मत युक्त ही है । इस रीति से गम्भीर नयमत का कुछ यहाँ पर विवेचन किया गया है । निश्चयनय अतिसूक्ष्म पदार्थावगाही होता है, इसलिए ग्रन्थकार ने इस का गम्भीरनयपद से कथन किया है । "स्यादेतत् कुर्वद्रूपत्वात् चरमकारणमेव कारणं -नान्यत्" इस ग्रन्थ से आरम्भ कर के "कियदिह विविच्यते" यहाँ तक ग्रन्थकार ने निश्चयनय के मत का समर्थन कर के "क्रियमाण कृत ही है" इस मान्यता को सिद्ध किया है ।

[सत्यम्, निश्चयत] यहाँ "सत्यम्" पद अर्द्धस्वीकार अर्थ में प्रयुक्त हुआ है । इसी अभिप्राय से ग्रन्थकार अग्रिम सन्दर्भ से यह बताते है कि कुर्वद्रूपत्व चरम कारण में ही रहता है, अतः चरमकारण ही कारण है । जिस में कुर्वद्रूपत्व नहीं रहता है वह कारण ही नहीं है । इसलिए कुशूलस्थबीज अंकुर का कारण नहीं है । इसतरह के कारणत्व का निरूपण निश्चयनय की दृष्टि से यद्यपि सत्य है, तथापि 'यह इस का कारण है' इस प्रकार की कारणत्व की व्यवस्था में व्यवहारनय की दृष्टि से यह निरूपण मान्य नहीं है क्योंकि 'यह इस का कारण है' इस प्रकार की व्यवस्था में व्यवहारनय कार्यनियत पूर्ववृत्ति को ही कारण मानता है, चाहे वह तत्काल में कार्य का उत्पादन करता हो या नहीं करता हो, अतः कोठारगत बीज भी व्यवहारनय की दृष्टि से अंकुर का कारण है ही । मिट्टी-जलादि के संयोगरूप सहकारिकारण के न रहने से कोठार में रहा हुआ बीज अंकुर का जनन नहीं करता है, यह बात अन्य है । ग्रन्थकार ने "नियतपूर्ववर्त्तिना" इस वाक्य में "नियत" पद का प्रयोग किया है, उस से अनन्यथासिद्धि का सूचन मिलता है, अतः अन्यथासिद्धि से शून्य हो और कार्य से पूर्व में रहता हो, वह कारण है, इसतरह की कारणत्वव्यवस्था व्यवहारनय

न चोपादानोपादेयभावनियतैः क्षणैरेव कुर्वद्रूपत्वं नियम्यत इति वाच्यम्, क्षणत्वेन सर्वेषामविशेषादेकस्वभावस्य कुतोऽपि विशेषायोगात्। किञ्चैवं कार्येण कारणानुमानोच्छेदः, सामान्यतः कारणताग्रहाभावात्। न च सादृश्येन तथाग्रहाददोषः, पूर्वापराननुसन्धानेन क्षणिकपक्षे सादृश्यस्यैव ग्रहीतुमशक्यत्वादित्यादिकं व्युत्पादितं अनेकान्तजयपताकादौ पूर्वसूरिभिः।

को मान्य है। अन्यथासिद्ध वे माने जाते हैं, जिन के बिना भी कार्य हो सकता हो जैसे-रासभादि। तथा वे भी अन्यथासिद्ध माने जाते हैं जो कार्य से पूर्व में रहते हुए भी कार्य की उत्पत्ति में जिन का कुछ भी योगदान नहीं होता है जैसे-दण्डगत दण्डत्व और रूपादि, कुम्भकार का पिता, आकाश इत्यादि। घटोत्पत्तिस्थान में घट की उत्पत्ति से पूर्व वे रहते हैं तो भी उन का कुछ भी उपयोग घट के उत्पादन में नहीं होता है, इसलिए वे भी अन्यथासिद्ध हैं। दण्ड, चीवर, चक्र, कुम्भकार, मृत्पिण्ड आदि घट के पूर्व में रहते हैं और घट की उत्पत्ति में उपकार भी करते हैं, इसलिए वे सब घट के प्रति कारणरूप से व्यवहारनय की दृष्टि से मान्य हैं। यदि कुर्वद्रूपत्व होने के कारण चरम कारण को ही कारण माना जाय तो, कार्योत्पत्ति से पूर्वकाल में कुर्वद्रूपत्व का निश्चय ही नहीं हो सकेगा, इसलिए तत्तत् घटादि कार्य की उत्पत्ति के लिए दण्डादि कारणों के अन्वेषण में जो प्रवृत्ति होती है, वह नहीं होगी। वस्तुस्थिति तो यह है कि कोई घटार्थिव्यक्ति कुम्भकार के घर जाकर कहता है कि मेरे लिए इतना घट बना दो। इस वाक्य को सुन कर कुम्भकार उन उन वस्तु के संग्रह के लिए प्रवृत होता है जो जो वस्तु घट की उत्पत्ति में उपयोगी हो, क्योंकि उन्हीं वस्तुओं में उस को इष्टसाधनता का ज्ञान होता है और उस इष्टसाधनता ज्ञान से प्रवृत्ति होती है। कुर्वद्रूपत्व ही यदि कारणतावच्छेदक हो तो उस का निश्चय पूर्व में किसीतरह नहीं हो सकता है अतः दण्ड, चक्रादि में इष्टसाधनताज्ञान भी न होगा, फलतः प्रवर्तक के अभाव में दण्डादि विषयक प्रवृत्ति जो लोकदृष्ट है, वह निश्चयनय के मत में न होगी। इसलिए व्यवहारनय निश्चय मतानुसारी कारणत्व को नहीं मानता है। दूसरी बात यह है कि जिस कुर्वद्रूपत्व के रहने से चरमकारण में ही कारणत्व की व्यवस्था निश्चयनय के मत से होती है, वह कुर्वद्रूपत्व भी उपादानकारण में सहकारि कारणों का समवधान होने पर ही होता है। सहकारियों का समवधान न रहने पर तो चरमकारण में भी कुर्वद्रूपत्व नहीं होता है, इसीलिए निश्चयनय सम्मत कुर्वद्रूपत्व का भी नियामक सहकारिसमवधान को मानना आवश्यक होगा। तब सहकारिसमवधानविशिष्ट उपादानकारण से ही कार्य की उत्पत्ति यदि हो जाती हो तो मध्य में गुरुभूत कुर्वद्रूपत्व मानने की जरूरत ही नहीं पडती, तब क्षेत्रस्थ बीजादि कुर्वद्रूप है और कोठारगत बीजादि अकुर्वद्रूप है, इसतरह के भेद को मानने का कष्ट निश्चयवादी का निरर्थक है।

यदि निश्चयवादी ऐसा कहे कि-"कुर्वद्रूपत्व को सहकारिचक्र से नियम्य नहीं मानते हैं, किन्तु जिन क्षणों में उपादानोपादेयभाव नियमतः रहता है, ऐसे उपादान

स्वरूपक्षणों से ही उपादेयरूप चरमक्षण कुर्वद्रूपात्मक ही उत्पन्न होता है । जैसे–उपादान रूप पूर्वपूर्व बीज क्षणों से उपादेयरूप उत्तरोत्तरबीजक्षण उत्पन्न होते हैं । उन में चरम-बीजक्षण स्वोपादानभूत स्वाव्यवहितपूर्ववर्त्ती बीजक्षण से उत्पन्न होता हुआ अंकुरकुर्वद्रूपत्व विशिष्ट ही उत्पन्न होता है और उस क्षण से अंकुररूप कार्य की उत्पत्ति हो जाती है। इसीतरह घटादि कार्योत्पादक चरमउपादानक्षण भी अपने उपादानक्षण से घटादि-कुर्वद्रूपात्मक ही उत्पन्न होता है और उस से घटादि कार्य की उत्पत्ति होती है, इसलिए कुर्वद्रूपत्व क्षणों से नियमित होता है, अतः कुर्वद्रूपत्व के नियम के लिए सहकारिसम्पत्ति की आवश्यकता ही नहीं पडती है । इस स्थिति में सहकारि समवधान के द्वारा कुर्व-द्रूपत्व के अभ्युपगम को निरर्थक बनाना व्यवहारनयवादी का संगत नहीं होता है"–

परन्तु यह कहना भी ठीक नहीं होगा क्योंकि उपादानउपादेयभाव जिनक्षणों में रहता है वे सभी क्षण क्षणत्वरूप से समान ही है । अतः सभी क्षणों का स्वभाव एक ही है, तब चरमक्षणोत्पादक उपान्त्य उपादानक्षण में यह विशेष किसी भी प्रकार से नहीं आ सकता है, जिस से वह उपान्त्यक्षण कुर्वद्रूपत्वविशिष्टचरमक्षण को उत्पन्न कर सके । इस स्थिति में क्षणों के द्वारा ही कुर्वद्रूपत्व का नियमन होता है, यह निश्चयनय-वादी की मान्यता ही गलत है । उपरान्त क्रियानयवादी के मत में तीसरा दोष यह आता है कि वे लोग भी कार्यलिंगक कारणानुमान मानते हैं, व्यवहारनयवादी भी मानते हैं, परन्तु निश्चयनयवादी के मत में कार्यलिंगक कारणानुमान का उच्छेद हो जायगा।

"पर्वतो अग्निमान् धूमात्" यह कार्यलिङ्गक कारणानुमान माना जाता है इस में धूम-रूप कार्य है लिंग और अग्निरूप कारण लिंगी है। धूम के प्रति अग्नि कारण है, इसतरह के कार्यकारणभाव का ज्ञान जिस व्यक्ति को है, उस को यदि पर्वतादि स्थल में धूम का दर्शन होता है, तब "यह पर्वत अग्निवाला है" इसतरह का ज्ञान उस व्यक्ति को होता है, क्योंकि वह समझता है कि धूम जो पर्वत में देख रहा हूँ, वह अग्नि के बिना हो सकता नहीं है, क्योंकि वह अग्नि से उत्पन्न होता है। यदि अग्नि इस पर्वत में न होता, तो धूम भी न होता । धूम तो प्रत्यक्ष ही है, तो अग्नि भी जरूर इस पर्वत पर है । यही कार्यलिङ्गक कारणानुमिति का स्वरूप है । अग्नित्वेन अग्निसामान्य को धूम सामान्य के प्रति कारण निश्चयनयवादी तो मानते ही नहीं हैं। उन के मत में जो अग्नि-क्षण धूमकुर्वद्रूपात्मक उत्पन्न होता है वही अग्निक्षण धूम के प्रति कारण माना गया है । अन्य अग्निक्षण जो कुर्वद्रूपत्वविशिष्ट नहीं उत्पन्न हुए हैं, वे धूम के प्रति कारण नहीं माने गए हैं, इसीलिए सकलअग्निक्षणों में धूमकारणता का ज्ञान निश्चयनय की दृष्टि से नहीं हो सकता है । एवं धूमकुर्वद्रूपात्मक अग्निक्षण से प्रथम धूमक्षण उत्पन्न होता है, उस के बाद पूर्वपूर्व धूमक्षण से उत्तरोत्तर धूमक्षण उत्पन्न होते हैं, उन क्षणों में उपादानो-पादेयभाव निश्चयनयवादी मानते हैं, अतः सकलधूमक्षण किसी एक अग्निक्षण के कार्य भी उन के मत में नहीं माने गए हैं । इस स्थिति में धूमसामान्य के प्रति अग्निसामान्य में कारणता का ज्ञान ही उन के मत में नहीं हो सकता है, क्योंकि इसतरह की सामान्य-रूप से कारणता का ग्राहक प्रत्यक्षादि कोई भी प्रमाण नहीं है । अतः कार्य से कारण का अनुमान उन के मत में नहीं हो सकता है। इसलिए भी कुर्वद्रूपत्वविशिष्ट चरमक्षण में ही कारणत्व का स्वीकार करना संगत नहीं है।

अत एव क्रियमाणमेतन्नये न कृतम्, कारणचक्रसम्पत्युत्तरमेव कार्यसिद्धेः। अन्यथा समसमयभावित्वे कार्यकारणभावव्यवस्थाऽयोगादुपादानोपादेयभावस्यापि पर-

---

यदि निश्चयनयवादी ऐसा कहें कि–"यद्यपि धूमकुर्वद्रूपात्मक अग्नि ही धूम के प्रति कारण होता है। फिर भी वह अग्नि जिसप्रकार का है वैसे ही अकुर्वद्रूपअग्निक्षण कुर्वद्रूपअग्नि से पूर्वपूर्वक्षणों में भी मिलते हैं, अतः अग्निसामान्य में धूम के प्रति कारणता का ज्ञान सरलता से हो जायगा। एवं, कुर्वद्रूपअग्नि से जो धूमक्षण उत्पन्न होता है, उस का सादृश्य तदुत्तरवर्ती धूमक्षणों में रहता है, यद्यपि वे धूमक्षण स्वपूर्ववर्ती धूमक्षण से ही उत्पन्न होते हैं तथापि सादृश्य की महिमा से सभी धूमक्षणों में अग्निनिरूपितकार्यता का ज्ञान हो सकेगा। अतः धूमसामान्य के प्रति अग्निसामान्य में कारणताग्रह होने से कार्यलिंगक कारणानुमान का उच्छेद नहीं होगा"–तो ऐसा कहना भी ठीक नहीं है क्योंकि पूर्वापरवर्ती अग्निक्षणों में अथवा पूर्वापरवर्ती धूमक्षणों में सादृश्य का ज्ञान तभी हो सकता है यदि पूर्वापरवर्तीक्षणों का ज्ञाता कोई स्थिर माना जाय, ऐसा तो निश्चयनय मानता ही नहीं है क्योंकि उस के मत में सभी पदार्थ क्षणिक माने जाते हैं। अतः पूर्वापरक्षणों का अनुसंधान ही उस के मत में सम्भव नहीं है तो सादृश्य का भी ज्ञान नहीं हो सकता है, तब सादृश्य की महिमा से सकलअग्निक्षणों में कारणता का ज्ञान और सकल धूमक्षणों में कार्यता का ज्ञान भी नहीं हो सकता है, इसलिए सामान्यरूप से कारणताग्रह न होने के कारण कार्यलिंगक कारणानुमान का उच्छेदरूप दोष उस के मत में लगा ही रहता है। इस रीति से और भी दोष निश्चयनय के मत में पूर्व के आचार्यों ने "अनेकांतजयपताका" आदि ग्रन्थों में बताए हैं। जिज्ञासुलोगों को उन दोषों का परिज्ञान उन्हीं ग्रन्थों से करना चाहिए।

[अत एव क्रियमाणम्] व्यवहारनय कुर्वद्रूपत्वेन चरम कारण को ही कारण नहीं मानता है किंतु कार्यनियतपूर्ववर्तीत्वेन अकुर्वद्रूप को भी कारण मानता है, इसी हेतु से इस के मत में, क्रियमाण कृत नहीं होता है। सकल कारण का समवधान जब तक नहीं हुआ है, तब तक घटादिकार्य क्रियमाण ही कहा जाता है। कारणचक्र का समवधान होने के बाद ही कार्य की सिद्धि होती है और उसी दशा में कार्य कृत कहा जाता है। चक्र से उतारने के बाद घट को निभाडे में पक्व करने के लिए रखा जाता है, जब तक उस में से घट निकाला नहीं जाता है, तब तक घट इस मत में क्रियमाण ही कहा जाता है। पाक से उत्तीर्ण होने पर घट में सिद्धता आती है तब वह घट 'कृत' कहा जाता है, क्योंकि घट की सिद्धि के लिए किसी कारण की सम्पत्ति या समवधान तब आवश्यक नहीं रहता है। यदि कुर्वद्रूप ही कारण माना जाय तो कार्यकाल में ही चरमकारण कुर्वद्रूपत्व को प्राप्त करता है। तब कार्य और कुर्वद्रूपात्मक कारण ये दोनों का समय समान ही रहता है, इसलिए कार्यकारणभाव की व्यवस्था भी निश्चयनय के मत में नहीं बन सकती है। "गो" आदि पशुओं के दो शृङ्ग एक ही समय में निकलते हैं, उन में कोई शृङ्ग दूसरे शृङ्ग के प्रति कारण नहीं बनता है, उसीतरह समसमय भावि कुर्वद्रूपकारण और घटादि कार्य इन दोनो में भी कोई किसी का कारण नहीं बन सकता है।

स्परोपमर्दनियतस्य क्षणभेदनियतत्वात् । न च वर्तमानत्वमतीतत्वं चैकत्र व्यवहारसिद्धं, न चानीदृशेऽर्थे प्रमाणावतारः, न च यत्किञ्चिद्व्यवहारदर्शनात् सर्वत्र तद्दर्शनाश्वासो न्याय्यः—इत्यादिकं व्यवहारनिश्चययोर्मिथो विवादमवलोक्य वस्तुस्थितिरन्वेषणीया ।

यहाँ निश्चयनय के मत से यह कहा जाय कि–'एकसमयभावि होने पर भी जो उपादान होगा वही कारण बनेगा और जो उपादेय होगा वही कार्य होगा । इसरीति से घटकुर्वद्रूपात्मक वस्तु में कारणता होगी और घट में उपादेयता होने से कार्यता रहेगी, अतः उपादानोपादेयभाव ही कार्यकारणभाव का व्यवस्थापक बनेगा, इसलिए अव्यवस्था का प्रसंग देना उचित नहीं है'–तो इस का समाधान व्यवहारनय की दृष्टि से इसतरह दिया जाता है कि जहाँ-जहाँ उपादान-उपादेयभाव है, वहाँ वहाँ उपमर्द्योपमर्दकभाव भी रहता है । जैसे–मृत्पिण्ड और घट में उपादानोपादेयभाव रहता है, वहाँ उपमर्द्योपमर्दकभाव भी है । मृत्पिण्ड का उपमर्द कर के ही घट उत्पन्न होता है । "उपमर्दन" पद से पूर्वावस्था का विनाश सूचित होता है । पिण्डावस्था का विनाश जब तक नहीं होता है, तब तक घट भी नहीं होता है यह अनुभवसिद्ध है, अतः उपमर्द्य जो होता है वही उपादान कहा जाता है और जो उपमर्दक होता है वही उपादेय कहा जाता है, इसलिए उपादानोपादेयभाव का व्यापक उपमर्द्योपमर्दकभाव बनता है । तथा उपमर्द्योपमर्दकभाव जहाँ जहाँ रहता है वहाँ वहाँ क्षणभेद भी रहता है क्योंकि पूर्वक्षण में उपादान का उपमर्दन होने पर ही उत्तरक्षण में घटादिकार्य की उत्पत्ति होती हैं, अतः क्षणभेद का रहना वहाँ आवश्यक है जहाँ उपादान-उपादेयभाव रहता है । इस रीति से उपादानोपादेयभाव क्षणभेद का व्याप्य बनता है । अब एकक्षण में क्षणभेद तो रहेगा नहीं, इसलिए तद्व्याप्यभूत उपमर्द्योपमर्दकभाव भी नहीं रहेगा । फलतः तद्व्याप्यभूत उपादानोपादेयभाव भी नहीं रह सकेगा । व्यापक का अभाव जहाँ रहता है, वहाँ तद्व्याप्य का और तद्व्याप्यव्याप्य का अभाव अवश्य रहता है । जैसे द्रव्यत्व का अभाव गुणादि में रहता है, वहाँ तद्व्याप्य पृथिवीत्व का और पृथिवीत्व के व्याप्य घटत्व का भी अभाव रहता है, यह बात तो प्रसिद्ध ही है । इसलिए समानसमय में उपादानोपादेयभाव के द्वारा निश्चयवादीयों की कार्यकारणभावव्यवस्था किसीतरह सम्भवित नहीं हो सकती है ।

दूसरी बात यह है कि क्रियमाण कृत ही है, इस मान्यता को सिद्ध करने के लिए निश्चय नयवादी को कृधातूत्तर शानच् प्रत्ययार्थ वर्त्तमानत्व और कृधातूत्तरनिष्ठाप्रत्ययार्थ अतीतत्व को एक ही घटादि वस्तु में एककालावच्छेदेन रखना आवश्यक होगा । परन्तु यह सम्भव नहीं है क्योंकि वर्त्तमानत्व और अतीतत्व की एककालावच्छेदेन एकवस्तु में स्थिति व्यवहार से सिद्ध नहीं है । इसलिए एकवस्तु में एककालावच्छेदेन वर्त्तमानत्व और अतीतत्व की स्थिति प्रमाण से भी सिद्ध नहीं है क्योंकि जो वस्तु व्यवहार में नहीं आती है, उस में प्रमाण की भी प्रवृत्ति नहीं होती है । अतः "क्रियमाण कृत ही है" इसतरह की निश्चयनय की मान्यता अप्रमाणिक है । निश्चयवादी ऐसा कहें कि–"क्रियमाण कृत ही है" इसतरह का व्यवहार व्यवहारनयवादी को न होता हो तो भी निश्चयनय

फलं पुनर्विचित्रनयवादानां जिनप्रवचनविषयरुचिसम्पादनद्वारा रागद्वेषविलय एव । अत एवार्य (श्रीभद्रबाहु)भगवदुपदेशोऽपि (आवश्यकनिर्युक्तौ) ।

"सव्वेसिंपि णयाणं बहुविह वत्तव्वयं णिसामित्ता ।।
तं सव्वनयविसुद्धं, जं चरणगुणट्ठिओ साहू ।।१०५५।।

की दृष्टि से किसी को तो यह व्यवहार अवश्य होता है । तब, व्यवहारप्रसिद्ध होने के कारण प्रमाण की भी प्रवृत्ति होगी । प्रमाण की प्रवृत्ति होने पर "क्रियमाण कृत ही है" इस मान्यता में अप्रमाणिकता का आपादान ही असङ्गत है ।"-तो यह कहना भी ठीक नहीं है क्योंकि किसी एक व्यक्ति का इसतरह का व्यवहार देखने में आवे तो इस से सभी व्यक्ति का इसतरह का व्यवहार आज नहीं तो भविष्य में जरूर देखने में आएगा, ऐसा विश्वास कर लेना न्यायसंगत नहीं है, क्योंकि भविष्य में सभी व्यक्ति को ऐसा व्यवहार होगा ही, इस का कोई नियामक देखने में नहीं आता है ।

"गम्भीरं नयमतं कियद् विविच्यते" एतत् पर्यन्तग्रन्थ से निश्चयनयवादीने व्यवहार-नय के पक्ष का निराकरणपूर्वक निश्चयनय के पक्ष का समर्थन किया है । उस के बाद व्यवहारनयवादी ने निश्चयनयवादी का निराकरणपूर्वक अपने पक्ष का समर्थन किया है । "कुर्वद्रूपात्मक चरमकारण ही कार्य के प्रति कारण है" इसके समर्थन में निश्चयनयवादीने अपनी दृष्टि से सभी युक्तियों का अवलम्बन कियाहै । कार्यनियतपूर्ववृत्ति ही कार्य के प्रति कारण है, चाहे वह तत्काल में कार्य का उत्पादन करता हो, या न करता हो-यह पक्ष व्यवहारनय का है । इस के समर्थन में व्यवहारनयवादी ने भी अपनी दृष्टि से सभी युक्तियों का प्रयोग किया है । विचार करने पर किसी भी पक्ष में दुर्बलत्व या प्रबलत्व दृष्टिगोचर नहीं होता है । अतः इस विवाद का अन्त नहीं आता है किन्तु विवाद खडा ही रहता है, इसलिए विवादविषयवस्तु की क्या स्थिति है अर्थात् दोनों पक्षों में कौन पक्ष प्रामाणिक माना जाय इस का अन्वेषण करना चाहिए ॥ तात्पर्य, जो उभयनय सम्मत वस्तु है वही स्याद्वादमत में प्रमाण है ।

[फलं पुनः] पूर्व में "वस्तुस्थिति का अन्वेषण करना चाहिए" ऐसा ग्रन्थकार ने कहा है, उस वस्तुस्थिति को "चरणगुणट्ठिओ साहू" इस गाथांश से परममध्यस्थतारूप में ग्रन्थकार स्वयं ही कहनेवाले हैं । वह परममध्यस्थता रागद्वेषविलय के बिना नहीं प्राप्त होती और वह नयज्ञानसाध्य है । नयवाद भी रागद्वेषविलय का साक्षात् कारण नहीं है किन्तु जिन प्रवचन प्रोक्त विषयों में रुचिसम्पादन द्वारा ही है । इस का आशय यह है कि जितना तथ्य वाणी से कहा जा सकता है वे सभी जिन से कथित ही है । जिनोक्ति का विषय जो नहीं है, वह किसी अन्य की सत्य वाणी का विषय नहीं हो सकता है । जिनवाणी के विषयभूत पदार्थों में कितने लोगों को विरोध का आभास होता है, जहाँ परस्परविरोध का आभास हो, उस में अप्रमाणिकता का भ्रम भी होता है, जिस विषय में अप्रमाणिकता का भ्रम होता है उस विषय में लोगों की रुचि नहीं होती है, इसलिए उन लोगों को जिनप्रतिपादित विषय में रुचि का न होना सम्भवित रहता है । जिन को नयों का ज्ञान नहीं है, ऐसे व्यक्तियों को जिन विषयों में विरोध

सर्वेषामपि मूलनयानाम्, अपिशब्दात्तद्भेदानां च, नयानां द्रव्यास्तिकादीनां बहुविधवक्तव्यतां–'सामान्यमेव, विशेषा एव, उभयमेव वाऽनपेक्षमि'त्यादिरूपां–अथवा नामादीनां नयानां कः कं साधुमिच्छतीत्यादिरूपां–निशम्य=श्रुत्वा, ततः सर्वनय-विशुद्धं=सर्वनयसम्मतं वचनं–'यच्चरणगुणस्थितः' साधुः। यस्मात्सर्वनया एव भाव–

का आभास होता है वह इस प्रकार हैं कि-कोई वादी सामान्यमात्र को पदार्थ मानता है, कोई विशेषमात्र पदार्थ मानता है, इन दोनों मतों में परस्पर विरोध होना सम्भवित है। तब जिस मत पर जिस की श्रद्धा होती है, उस में उस को राग होता है, जिस मत पर श्रद्धा नहीं होती है, उस पर द्वेष होता है। नयज्ञान जिन को है, उन को तो विरोध का भान ही नहीं है क्योंकि वे समझते हैं कि संग्रहनय की दृष्टि से सामान्य-मात्र को पदार्थ कहना ठीक ही हैं। व्यवहारनयकी दृष्टि से विशेषमात्र को पदार्थ मानना भी ठीक ही है, अतः जिनप्रतिपादित सभी पदार्थ युक्त ही हैं, इसतरह विरोध निवारण द्वारा जिनवाणी के विषयों में रुचि का सम्पादन नय के द्वारा होने पर, किसी पदार्थ में या मत में रागद्वेष नहीं रहता है, अतः वस्तुस्थिति को पहले न बताकर उस के प्रति कारणीभूत रागद्वेषविलयरूप नयवादों के फल को ही ग्रन्थकार ने बताया है। नय वादों का फल रागद्वेष का विलय ही है, इस वस्तु का समर्थन करने के लिए "भगवान भद्रबाहु" के वचन का उद्धरण ग्रन्थकार ने किया है। [सर्वेषामपि नयानां बहुविध-वक्तव्यतां निशम्य। तत्सर्वनयविशुद्धं यच्चरणगुणस्थितः साधुः" ॥] इस गाथा की व्याख्या भी (श्री हरिभद्रसूरिविरचितवृत्ति से) यहाँ पर उद्धृत की गयी है, इस उद्धरण से भी नयवादों का फल रागद्वेषविलय ही है' इस कथन में समर्थन मिलता है। उक्त गाथा की हरिभद्रीयवृत्ति में "सव्वेसिंपि णयाणं' इस अंश का विवरण–"सर्वेषामपि मूल-नयानाम, अपिशब्दात् तद्भेदानाञ्च" इसतरह किया गया है। यहाँ शंका उठती है कि नैगम, संग्रह आदि सातों नयों के मूलभूत नय दो ही माने गये हैं द्रव्यास्तिक और पर्यायास्तिक। इन्हीं दोनों के प्रभेद नैगम, संग्रह आदि माने नये हैं, इस का विवरण इस ग्रन्थ में पूर्व में किया गया है। "सिद्धसेन दिवाकर" आदि आचार्यों ने भी ऐसा ही कहा है। अतः "मूलनययोः तद्भेदानाञ्च" इसतरह का विवरण होना चाहिए था। "मूलनयानाम्' ऐसा बहुवचन का प्रयोग तो मूलनय के भेद दो से अधिक होते तभी ही संगत होता ?"-इस शंका का समाधान यह है कि जैसे-मूलनय के द्रव्यास्तिक, पर्यायास्तिक ये दो भेद माने गये हैं, वैसे ही ज्ञाननय-क्रियानय, इस रूप से भी दो भेद माने गये हैं एवं व्यवहारनय-निश्चयनय इसतरह भी दो भेद माने गए हैं, इस आशय से 'हरिभद्रीय-वृत्ति" में "सर्वेषामेव मूलनयानाम्" इसतरह बहुवचनान्त पद द्वारा विवरण संगत होता है। इन तीनों प्रकार के मूल भेदों की मान्यता भिन्न भिन्न है। "द्रव्यास्तिकनय द्रव्यमात्र ही स्वीकारता है और "पर्यायास्तिकनय" पर्यायमात्र ही स्वीकार करता है इस लिए इन दोनों भेदों में विवाद उपस्थित होता है कि इन दोनों में से किस की मान्यता सत्य मानी जाय ?। एवं, ज्ञाननय और क्रियानय इस विभागपक्ष में भी मतभेद उप-स्थित होता है। उपादेय और हेय अर्थों का ज्ञान होने पर ही मुक्ति हो सकती है।

निक्षेपमिच्छन्तीति गाथार्थः ॥ [श्रीहारिभद्रीया वृत्तिः] ॥ त्ति ॥ चरणगुणस्थितिश्च परममाध्यस्थ्यरूपा, न रागद्वेषविलयमन्तरेणेति तदर्थिना तदर्थमवश्यं प्रयाततव्यमित्युपदेशसर्वस्वम् ॥

॥ इति नयरहस्यप्रकरणम् ॥

अज्ञान से मुक्ति के लिए प्रवृत्ति करनेवाले को मुक्ति नहीं मिलती है, इसलिए "ज्ञान सम्पादन ही मुक्ति का अंग है" । अतएव "प्रथमं ज्ञानं ततो दया" इत्यादि आचार्य का वचन संगत होता है । यह मान्यता "ज्ञाननय" की है । तथा उपादेय और हेय वस्तु का ज्ञान होने पर मुक्ति के लिए क्रिया में ही प्रयत्नशील होना चाहिए, क्रियारहित व्यक्ति को मुक्ति नहीं मिलती है, इसलिए "क्रिया ही मुक्ति का अंग है ।" यह क्रियानय की मान्यता है । क्रियानयवादी अपने मत के समर्थन में-"क्रियैव फलदा पुंसां न ज्ञानं फलदं मतम् । नहि स्त्रीभक्ष्यभोगज्ञो ज्ञानादेव सुखीभवेत् ॥" इस वचन को उपस्थित करते हैं । क्रिया ही फल को देती है, ज्ञानमात्र से फल नहीं होता है । स्त्री भक्ष्य और भोग इनके ज्ञान मात्र से किसी को सुख नहीं मिलता है, किन्तु ज्ञान होने के बाद सुख के लिए क्रिया की आवश्यकता पडती है । अतः मुक्ति चाहनेवाले को भी क्रिया का आश्रय लेना आवश्यक है, इसलिए क्रियानयवादी को ज्ञान की अपेक्षा से क्रिया में प्रधानता अभीष्ट है । भिन्न-भिन्न मान्यता होने के कारण इन दोनों में विवाद उपस्थित होता है । एवं "नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ और एवम्भूत" इन सभी प्रभेदभूत नयों के वक्तव्य भी भिन्न-भिन्न हैं । जैसे-"संग्रहनय" सामान्यमात्र को मानता है, "व्यवहारनय" विशेषमात्र को मानता है, "नैगमनय" सामान्य और विशेष इन दोनों को मानता है, "ऋजुसूत्रनय" अतीत अनागत को न मानकर वर्तमानमात्र को मानता है, "शब्दनय" विशेषितर प्रत्युत्पन्न (वर्त्तमान) मात्र का बोध कराता हैं, "समभिरूढनय" उस से विशेषिततर अर्थ का ग्राहक माना गया हैं, इसलिए वह संज्ञाभेद से भी अर्थ का भेद मानता है, "एवम्भूतनय" तो अत्यंत सूक्ष्म अर्थ को मानता है क्योंकि वह जलाहरणादि क्रियाकाल में ही घट को घट मानता है । अतः मन्तव्य के भेद से इन सभी मूलनयों में विवाद उपस्थित होता है कि किस की मान्यता सत्य है ? अथवा नैगमादिनयों में से कौन सा नय नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव इन चार निक्षेपों में से किस निक्षेप को मानता है, इस में भी विवाद है । इन विवादों को सुनकर आचार्य वस्तुस्थिति को समझाने के लिए कहते हैं कि सर्वनयों का सम्मत वचन यही है कि 'जो चरणगुणस्थित है वही साधु है' । यह वचन सर्वनय सम्मत इसलिए माना गया है कि भावनिक्षेप को सभी नय मानते हैं । निक्षेपचतुष्टय को माननेवाले "नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र" इन चारों नयों को भी भावनिक्षेप मानने में कोई विमति नहीं है, शब्द समभिरूढ, एवम्भूत ये तीनों नय तो भावनिक्षेप को ही मानते हैं । "चरणगुणस्थितः" इस पद में "चरण" पद से आचरण विवक्षित है, आचरण क्रियारूप होता है, इसलिए क्रियानय की सूचना "चरण" शब्द से मिलती है । "गुण" पद

[ग्रन्थकारप्रशस्तिः]

यस्याऽऽसन् गुरवोऽत्र जीतविजयप्राज्ञाः प्रकृष्टाशयाः
भ्राजन्ते सनया नयादिविजयप्राज्ञाश्च विद्याप्रदाः ।

का अर्थ यहाँ ज्ञान लिया गया है, अतः "गुण" पद से "ज्ञाननय" सूचित होता है । क्रिया और ज्ञान इन दोनों में जो रहते हैं अर्थात् क्रिया और ज्ञान इन दोनों का जो आश्रय करता है वह "चरणगुणस्थित" कहा जाता है । इस वाक्य में "साधु" शब्द "साधनोति मोक्षं यः स साधुः" इस व्युत्पत्ति के अनुसार मोक्षसाधक अर्थ में लिया गया है, इसलिए क्रिया और ज्ञान इन दोनों का आश्रय जो करता है, वही मोक्ष का साधक बन सकता है, यह सर्वनयसम्मत वचन का वाक्यार्थ है । ज्ञान और क्रिया इन दोनों का आश्रय वही ले सकता है, जो ज्ञाननय और क्रियानय इन दोनों में मध्यस्थता का अवलम्बन करता है । मध्यस्थता के अवलम्बन से सभी नयों का विवाद जो पूर्व में प्रदर्शित किया गया है, उस का भी अन्त हो जाता है क्योंकि सभी नयों का मन्तव्य अपेक्षाभेद से सत्य ही है, यही वस्तुस्थिति कही जा सकती है । "चरणगुणस्थिति" परममध्यस्थतारूप ही मानी गई है, वह परममध्यस्थता राग और द्वेष की निवृत्ति के बिना नहीं हो सकती है, अतः परममध्यस्थता के इच्छुक व्यक्ति को राग-द्वेष की निवृत्ति के लिए प्रयत्न अवश्य करना चाहिए क्योंकि जब तक रागद्वेष का विलय न होगा, तब तक परममध्यस्थता की प्राप्ति नहीं होगी और जब तक परममध्यस्थता की प्राप्ति न होगी, तब तक कोई भी व्यक्ति मोक्ष का साधक नहीं बन सकेगा । मोक्ष की सिद्धि सभी को अभीष्ट होती है, अतः उस के लिए परममाध्यस्थ्य को भी अभीष्ट बनाना मोक्षार्थी के लिए जरूरी है । अतः परममाध्यस्थ्य को सिद्ध करने के लिए रागद्वेष से रहित बनने का प्रयास सभी व्यक्ति को करना चाहिए यही नयोपदेश का रहस्य है ।

[यस्यासन्] यह लोकस्वभाव प्रसिद्ध है कि जब ग्रन्थ के रचयिता में विशुद्ध सम्प्रदायानुगामिता की बुद्धि होती है, ग्रन्थ के अध्ययन में झटिति प्रवृत्ति होती है । इस हेतु से ग्रन्थकर्ता ग्रन्थ के आदि या अन्त में स्वकीय शुद्ध परम्परा की प्रशस्ति करते हैं. यह नियम अधिक ग्रन्थकारों में पाया जाता है, तदनुसार "नयरहस्य प्रकरण" ग्रन्थ को पूरा करके "यशोविजय उपाध्यायजी" भी स्वपरम्परासूचक पद्य को ग्रन्थ में समाविष्ट करते हैं । "सारस्वताः कान्यकुब्जाः गौडमैथिलउत्कलाः" इत्यादि वचनानुसार जैसे "सारस्वत, कान्यकुब्ज" आदि शब्दों से ब्राह्मणों का विभाग माना गया है, वैसे ही जैन मुनियों में भी "तपागच्छ, खरतरगच्छ" इत्यादि गच्छान्त शब्दों से विभाग प्रसिद्ध है । प्रकृत ग्रन्थकर्ता "तपागच्छ" की परम्परा में हुए थे, यह बात प्रसिद्ध है । इसी गच्छ का सूचक "अत्र" शब्द पद्य में निर्दिष्ट किया गया है । इस तपागच्छ में ग्रन्थकार के दो विद्यागुरु थे, जिन से विद्या की प्राप्ति ग्रन्थकार को हुई थी, उन दोनों गुरुओं का नाम ग्रन्थकारने यहाँ पर निर्दिष्ट किया है । इस ग्रन्थ की समाप्तिकाल में उन के प्रथम विद्यागुरु जीतविजयजी महाराज का स्वर्गवास हो चुका था । इस बात को भूतकालिक "आसन्"

प्रेम्णां यस्य च सद्म पद्मविजयो जातः सुधीः सोदरः
सोयं न्यायविशारदः स्म तनुते काञ्चिन्नयप्रक्रियाम् ॥१॥

ग्रन्थे दूषणदर्शने निविशते दुर्मेधसां वासना,
भावाभिज्ञतया मुदं तु दधते ये केऽपि तेभ्यो नमः ।

पद से सूचित किया है। अपने साक्षात् गुरु "नयविजयजी" महाराज उस काल में विद्यमान थे इस बात को "भ्राजन्ते" इस वर्तमानकालिक प्रयोग से सूचित किया है। गुरुदेव "जीतविजयजी" के लिए "प्राज्ञ" तथा "प्रकृष्टाशय" ये दो विशेषण लगाए गये हैं। प्रथम विशेषण से स्वसिद्धान्त और परसिद्धान्तों के रहस्यों को जाननेवाले "जीतविजयजी" थे, ऐसा सूचित होता है। "प्रकृष्टः आशयो यस्य" इस व्युत्पत्ति के अनुसार जिन का आशय अर्थात् चित्त प्रकृष्ट अर्थात् उदार था ऐसे "जीतविजयजी" थे ऐसा द्वितीय विशेषण से सूचित होता है। उदारचित्तवाले गुरु रहस्यवस्तु को भी अपने शिष्य से छिपाकर नहीं रखते हैं, ऐसे गुरुओं का स्वभाव ही ऐसा होता है कि योग्य शिष्य के लिए रहस्यवस्तुओं का भी उपदेश कर ही देते हैं। इस से उपाध्यायजी को भी "सकल सिद्धान्त रहस्य की प्राप्ति" सूचित होती है। द्वितीय साक्षात् गुरु "नयविजयजी" थे जिन से ग्रन्थकर्त्ता को दीक्षा और विद्या दोनों की प्राप्ति हुई थी और जो "जीतवियजी" के सतीर्थ थे, उन के लिए "सनया" ऐसा विशेषण इस में प्रयुक्त है, "देहलीदीपक" न्याय से प्रकृष्टाशय यह विशेषण भी नयविजयजी में लगता है। "सनय" इस विशेषण से "नयविजयजी" में नीतिकुशलता की सूचना मिलती है। इस के बाद इस पद्य में "पद्मविजयजी" का उल्लेख आता है, उन के लिए "प्रेमसद्म" यह विशेषण दिया गया है, इस से यह सूचित होता है कि "पद्मविजयजी" ग्रन्थकार के लघुभ्राता थे, इन के लिए "सुधीः सोदरः" ये और भी दो विशेषण प्रयुक्त है, जिस से सूचित होता है कि "पद्मविजयजी" ग्रन्थकार के पूर्वाश्रम के सोदर भ्राता थे और पूर्ण बुद्धिमान् थे। उस के बाद ग्रन्थकार ने अपने लिए "न्यायविशारदः" ऐसा विशेषण प्रयुक्त किया है, इस से यह सूचित होता है कि ये जैनन्याय से इतर बौद्धन्याय, गौतमीयन्याय आदि सभी न्यायशास्त्रों में वे पूर्णकुशल थे क्योंकि इस में 'न्याय' यह सामान्य वाचक शब्द ही प्रयुक्त है, अतः "प्राज्ञप्रकृष्टाशय नीतिकुशल गुरु से विद्या प्राप्त कर के विशिष्टबुद्धिवाले स्वलघुभ्राता" पद्मविजयजी के साथ सहवास के द्वारा प्राप्त विद्याओं को दृढ कर के "न्यायविशारद उपाध्यायजी" ने इस ग्रन्थ का निर्माण किया हैं, इसलिए "नयरहस्य प्रकरण" उपादेय सिद्ध होता है "गुरवः" इस बहुवचन प्रयोग से ग्रन्थकार अपने गुरुओं के प्रति सम्मान को प्रगट करते हैं, जिस से गुरुस्तुति सूचित होती है ॥१॥

ग्रन्थ के आदि या अन्त में दुर्जननिन्दा और सज्जनप्रशंसा का उल्लेख करना यह भी ग्रन्थकारों की प्रक्रिया प्रसिद्ध है. परन्तु प्रस्तुत ग्रन्थकार जैनमुनि होने के कारण किसी की भी निन्दा करना उचित नहीं समझते हैं, दुर्जनों के प्रति उपेक्षा रखना ही ये अपना कर्त्तव्य मानते हैं, इसलिए प्रस्तुत पद्य में दुर्जन के लिए उपेक्षा का ही द्योतन किया

मन्दारद्रुमपल्लवेषु करभा किं नो भृशं द्वेषिणो
ये चास्वादविदस्तदेकरसिकाः श्लाघ्यास्त एव क्षितौ ॥२॥
कृत्वा प्रकरणमेतत् प्रवचनभक्त्या यदर्जितं सुकृतम् ।
रागद्वेषविरहतस्ततोऽस्तु कल्याणसम्प्राप्तिः ॥३॥

है और सज्जनों के लिए नमस्कार के द्वारा प्रशंसा का प्रदर्शन किया है । ग्रन्थकार का कहना यह है कि 'दोषो ह्यविद्यमानोऽपि तच्चित्तानां प्रकाशते'' इस उक्ति के अनुसार दुर्बुद्धि लोग ग्रन्थ के अभिप्राय को जाने बिना ग्रन्थ में दूषण निकालने का ही प्रयास करते हैं क्योंकि उन की वासना ही ऐसी होती है । अतः उन के विषय में मुझे कुछ भी कहना नहीं है । किन्तु, ग्रन्थकर्ता के अभिप्राय को समझकर जो लोग आनन्दित होते हैं, वे चाहे हमारे सधर्मा हो या विधर्मा हो उन को हमारा नमस्कार है । मन्दारवृक्ष के पल्लवों में उष्ट्रों को क्या अधिक द्वेष नहीं रहता है ? रहता ही है, इसीलिए वे मन्दार पल्लवों को छोडकर कटु रस मे युक्त निम्ब आदि के पल्लवों का भक्षण करते हैं, इस से लोक में उन की श्लाघा नहीं होती है क्या ? जो कोई मन्दारवृक्ष के पल्लवों का आस्वाद जानते हैं, वे तो उसी के रसिक होते हैं और वही पृथिवी पर प्रशंसनीय माने जाते हैं । इस कथन से दुर्जन के प्रति उपेक्षा और सज्जन के प्रति प्रशंसा अभिव्यक्त होती है ॥२॥

ग्रन्थकारों की यह भी एक शैली है कि ग्रन्थ के आदिभाग में या अन्तभाग में ग्रन्थ-निर्माण के लिए स्वकीय प्रवृत्ति का कारण निर्दिष्ट कर देते हैं और ग्रन्थरचना के फल का भी निर्देश करते हैं तथा ग्रन्थ के लिये आशिर्वाद भी अभिव्यक्त करते हैं । इसी आशय से प्रस्तुत चरम पद्य का निर्माण प्रकृत ग्रन्थकार ने किया है, इन का कहना यह है कि "नयरहस्य प्रकरण" करने में कोई अन्य कारण नहीं है किन्तु जिनप्रवचन में अर्थात् जनशासन में मुझे भक्ति है वही इस ग्रन्थ के निर्माण में कारण है, अतः प्रवचन भक्ति के द्वारा इस प्रकरण को कर के जो सुकृत का उपार्जन मैंने किया है, उस से राग-द्वेषविलय द्वारा कल्याण की प्राप्ति इस ग्रन्थ के अध्येता और अध्यापक लोगों को होवे । इस कथन से प्रवचन भक्ति ग्रन्थनिर्माण का कारण सिद्ध होता है और मुख्य फल कल्याण की प्राप्ति तथा द्वारभूत फल रागद्वेष का विलय निश्चित होता है ॥३॥

नयरहस्यप्रकरण समाप्त

मैथिल पण्डितवर्य–न्यायवेदान्ताचार्य–विद्वज्जनाग्रणी पण्डितमहोदय
श्री दुर्गानाथ झा कृत, मुनि श्री जयसुन्दर विजयपरिमार्जित,
नयरहस्य हिन्दी भाषा विवरण समाप्त हुआ ।

जैनं जयति शासनम्

शुद्धिपत्रक

पृष्ठ/पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२–६	द्योत न	द्योतन
९–३४	बाधक	बोधक
१२–४	ह्रस्वाव	ह्रस्वत्व
१३–३	षड्त्व	षट्त्व
–१४	ह्रस्वत्व	ह्रस्वत्व
२२–३	निहा	हानि
२४–३	रानवेध	रानुवेध
४२–२	तयोर्घट	तयोर्घट
–८	साधारण	साधारण
७३–१०	प्रत्यावृत्ति	प्रत्यासत्ति
८०–२३	परिमाण	परिणाम
८४–४	सामान्यत्व	सामान्यत्त्व
–३२	है वह	मानते है वह
१०९–४	(सूत्र–५)	(अ० १–सू.५)
११२–१०	१८९	१४९
१२६–११	विशे. निर्युक्ति	विशे. भाष्य
१२७–२०	घटान्यत्वरूप	पटान्यत्वरूप
१३१–८	व्यावहारिक	व्यावहारिकस्वाख्य
–११	विषया	विषयता
१३७–१४	अभ्युगत	अभ्युपगत
१४०–१	(सूत्र–३५)	(अ.१–सू.३५)
१४९–१	परिष्कार	परिष्कार
१५१–१७	की अव्याप्ति में	में अव्याप्ति की
१५२–१६	पर्यावसायी	पर्यवसायी
१५५–८	एवंभूत	समभिरूढ
१६१–२७	शब्द	शब्द
–२८	वक्तव्य	वक्तव्यः
१६२–१०	विषय	विषयत्व
१६३–२५	कह	यह
१६४–३४	विधेयता क	विधेयताक
१६७–२६	वक्तव्य	वक्तव्यः
१६८–१९	नास्त्येन	नास्त्येव
–२६	वह सत्व	वह
१८०–४	माना	मानना
१८१–२	स्काभाव्यात्	स्वाभाव्यात्
१८३–१०	"हरी"	हरि
१८४–७	शब्द	'घट' शब्द
१८५–३	सिद्धोपुण	सिद्धो पुण
१८९–२८	क्योंकि चैतन्य	क्योंकि
१९२–९	प्राप्ति	प्राप्ति
२००–१०	....यहाँ	पृ. २२३...यहाँ
२०४–२	कारण	करण
२०५–४	समवस्थैव	समयस्यैव
–५	भावस्थैव	भावस्यैव
२११–५	को अन्वय	के अन्वय
२१२–१३	यहा	यह
२१३–३३	मनेंने	मानेंने
२१४–२१	करण	कारण
–३४	वर्त्तमा	वर्त्तमान
२१६–२९	विशिष्टः	विशिष्ट

जैनो धर्मोऽस्तु मंगलम